गगनाञ्चल

वर्ष 25 अंक 2 अप्रैल–जून 2002

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

शुल्क दरें

वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० 100	रु० 250
US$ 40	US$ 100
£ 16	£ 40

उपरोक्त शुल्क दरों का अग्रिम भुगतान "भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली" को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीआर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

प्रकाशक
सूर्यकान्ति त्रिपाठी
महानिदेशक,
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्,
नई दिल्ली

संपादक
कन्हैयालाल नन्दन

ISSN : 0971-1430

मुद्रक : सीता फाईन आर्ट्स प्रा० लि०,
ए-22, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया,
फेज़–2, दिल्ली–110028
दूरभाष : 5895100
ई–मेल : *printer@vsnl.com*

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त छः पत्रिकाएं प्रकाशित करती है, जिसमें चार त्रैमासिक पत्रिकाएं एवं दो छमाही पत्रिकाएं हैं। हिंदी (*गगनाञ्चल*), अंग्रेज़ी (*इंडियन होराइजन्स* और अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (*सक़ाफ़त–उल–हिंद*), त्रैमासिक पात्रिकाएं हैं और स्पेनिश (पपलेस दे *ला इंडिया*), फ्रेंच (*रेकौव अवेक लैंद*) छमाही पात्रिकाएं हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक '*गगनाञ्चल*' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए:

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आज़ाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली–110002

सम्पादक की ओर से

'गगनांचल' का प्रस्तुत अंक कैरेबियन क्षेत्र के विशेष संदर्भ के साथ सामने आ रहा है। कैरेबियन द्वीपों में ट्रिनीडाड–टोबैगो का हिन्दी के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व है। १७ मई से १९ मई, २००२ तक वहाँ तीन दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन का आयोजन किया गया था जिसमें भाग लेने के लिए भारत से सरकारी प्रतिनिधिमंडल भी गया था जिसकी अध्यक्षता सांसद जगदम्बी प्रसाद यादव ने की थी, और ग़ैरसरकारी तरीक़े से भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने भाग लिया था। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की ओर से भी दो प्रतिनिधि उस सम्मेलन में हिस्सा लेने के लिए भेजे गये थे। समारोह का उद्घाटन ट्रिनीडाड–टोबैगो के प्रधानमंत्री पैट्रिक मैनिंग ने किया था और उस अवसर पर भारत के दो महत्त्वपूर्ण प्रकाशन गृहों—डायमंड पाकेट बुक्स और वाणी प्रकाशन के सहयोग से एक हिन्दी पुस्तक–प्रदर्शनी भी लगायी गयी थी जिसका उद्घाटन प्रधानमंत्री मैनिंग की पत्नी हैज़ल मैनिंग ने, जो वहां के मंत्रिमंडल में शिक्षामंत्री भी हैं, किया था।

समारोह का आयोजन भारतीय उच्चायोग और ट्रिनीडाड–टोबेगो की प्रतिनिधि सांस्कृतिक संस्था 'हिन्दी निधि' एवं वेस्टइंडीज़ विश्वविद्यालय के भाषा अध्ययन संस्थान के सम्मिलित प्रयासों का फल था। इस सम्मेलन को सफल बनाने में भाषा अध्ययन संस्थान की निदेशक डॉ. सिल्विया मूदी कुबलालसिंह और भारत से गये हुए अतिथि प्रोफेसर डॉ. प्रेम जनमेजय ने अथक परिश्रम किया। डॉ. प्रेम जनमेजय सम्मेलन की अकादमिक समिति के अध्यक्ष थे। उन्होंने सम्मेलन के भव्य उद्घाटन के बाद चर्चा सत्रों को ऐसे ढंग से विभक्त कर रखा था कि सम्मेलन में कैरेबियन क्षेत्र में हिन्दी के पठन–पाठन से जुड़ी सभी समस्याओं पर गंभीरता–पूर्वक विचार हो सके। इन चर्चा सत्रों में भारतीय प्रतिनिधिमंडल के उपाध्यक्ष और राज्यसभा सदस्य श्री राजनाथ सूर्य सहित, डॉ निर्मला जैन, डॉ. नरेंद्र एवं डॉ. मधुरिमा कोहली, डॉ. सूर्यभानु सिहं, प्रोफेसर डॉ. अशोक चक्रधर, डॉ. दिविक रमेश, डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण, डॉ. क़न्हैयालाल नन्दन ने भाग लिया। श्री गोविन्द मिश्र सरकारी प्रतिनिधिमंडल में शामिल थे और मारीशस से डॉ. रेशमी रामधनी एवं हंगरी से डॉ. मारिया न्येगेशी विशेष रूप से पधारी थीं। लंदन में हुए छठवें विश्व हिंदी सम्मेलन के संयोजक डॉ. पद्मेश गुप्त, 'कथा लंदन' के सम्पादक एवं कथाकार तेजेन्द्र शर्मा तथा लंदन के भारतीय उच्चायोग के

हिन्दी अधिकारी कवि श्री अनिल शर्मा यू.के. की हिन्दी रचनाशीलता का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। स्थानीय हिंदीप्रेमी तो सम्मेलन में थे ही।

कमाल का देश है ट्रिनीडाड–टोबैगो। दो द्वीपों का देश जिसकी राष्ट्रभाषा अंग्रेजी बनायी गयी है, लेकिन एक सौ सत्तावन साल पहले एक जहाज़ में चढ़ाकर जो भारतीय कुली के रूप में लेजाये गये थे, उन्होंने और उनके वंशधरों ने हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कारों को जिंदा रखा है। अब वहां हिन्दी फिल्मों और उनके गीतों के माध्यम से हिन्दी बोलचाल का सिलसिला बढ़ा है। प्रधानमंत्री मैनिंग का भी मानना है कि हिन्दी को ट्रिनीडाड–टोबैगो में विशेष स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि यह देश बहुसांस्कृतिक परम्पराओं का देश है और हिंदी उन्हें भी सीखनी चाहिए, जिनकी जड़ें भारत से नहीं जुड़ी हैं।

कैरेबियन क्षेत्र में ट्रिनीडाड–टोबैगो ही नहीं, दक्षिण अमरीका में सूरीनाम भी हिंदी का खासा गढ़ है। वहां का प्रतिनिधिमंडल भी सम्मेलन में भाग लेने आया था। इस विशेष सन्दर्भ को ध्यान में रखकर 'गगनांचल' के इस अंक में 'कैरेबियन क्षेत्र में हिंदी' के तीन परिदृश्य प्रकाशित किये जा रहे हैं। ट्रिनीडाड–टोबैगो से हमें जो सामग्री मिली है वह डॉ. प्रेम जनमेजय के सौजन्य से और सूरीनाम से जो सामग्री है वह वहां की अतिथिप्रोफेसर पुष्पिता के प्रयासों से। गगनांचल उस सामग्री को सादर प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही भारतीय प्रतिनिधिमंडल के अध्यक्ष श्री जगदम्बी प्रसाद यादव की स्मृति को अपना नमन अर्पित करता है। श्री यादव हिंदी और खासकर 'गगनांचल' के प्रति गहरे समर्पित व्यक्ति थे। वे ट्रिनीडाड–टोबैगो की यात्रा से लौटने के बाद हृदयगति रुक जाने से असमय चले गये। 'गगनांचल' उनकी हिंदी सेवाओं और 'गगनांचल' की बेहतरी के लिए यदा–कदा लिखे गये पत्रों और लेखों के लिए हमेशा आभारी रहेगा।

इसी अंक में विवेकानंद जी पर डॉ. कमलकिशोर गोयनका विशेष लेख दिया जा रहा है। इस लेख के माध्यम से 'गगनांचल' ने अपनी पुरातन ऋषि परम्परा को याद किया है जिसकी साक्षी इस अंक के आवरण पृष्ठ से ही मिल जाती है।

और अंत में एक दुःखद समाचार यह भी जुड़ गया कि इस अंक के छपते–छपते हिंदी कविता में गीत विधा के समर्थ रचनाकार श्री रमानाथ अवस्थी २९ जून, २००२ को अचानक हमारे बीच से चले गये। उनका हिंदी के गीत–सृजन में अद्भुत योगदान रहा है। मधुर स्वर–लहरी और लयात्मक शब्द योजना की सहजता के लिए वे हमेशा याद किये जायेंगे। 'गगनांचल' के बारे में उनकी सहयोग भावना हमारे लिए बहुत बड़ा संबल थी। इन दिनों वे अपने संस्मरण लिख रहे थे जिसका एक अंश जो आकाशवाणी में उनके कार्यकाल से संबंधित था, उन्होंने कुछ दिन पहले ही छपने के लिए भेजा था। उस अंश को उनके प्रति 'गगनांचल' की श्रद्धांजलि के रूप में इसी अंक में सम्मिलित किया गया है। बाकी और सामग्री तो है ही।

कन्हैयालाल नन्दन
(संपादक)

अनुक्रम

कविताएं

समीक्षाएं

पाठकों की ओर से

आपके संपादन में 'गगनांचल' साहित्यकारों के लिए एक खुला मंच हो गया है, जिसके कारण दलबंदी के मारे लेखकों को यहाँ चैन की साँस मिलती है।

भारत यायावर,
बोकारो स्टील सिटी–827012

स्तरीय साहित्यिक पत्रिकाओं में 'गगनांचल का अपना अलग महत्वपूर्ण स्थान है, इसका श्रेय निश्चित् रूप से आपकी विद्वत्ता तथा सम्पादन कौशल को जाता है क्योंकि रचनाओं का स्तरीय और उत्कृष्ट चयन ही पत्रिका को श्रेष्ठता प्रदान करता है। निरंतर सुन्दर श्रेष्ठ अंक देने के लिए बधाई।

अंक की ज्ञानवर्द्धक चयनित रचनाओं में विविधता तो है ही, अमरता भी है, जैसे डा० रणजीत साहा तथा बल्लभ डोभाल का आलेख, एक में वर्तमान के अतीत होने की अमरता तो दूसरे में अतीत के वर्तमान होने की अमरता को बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से व्यक्त किया गया है। इसी तरह डा० इन्दु प्रकाश पाण्डेय का लेख 'भविष्य के शिलालेख हैं ये आलेख' साहित्यकारों के पथ को प्रकाशित करने में समर्थ है। 'परम्परा' की यह परम्परा नई ही नहीं ज़रूरी भी है।

वैसे अंक की सारी रचनाएं अपने–अपने रंग से पाठकों को रंजित करने में पूर्ण समर्थ हैं।

'चंदन'
दरियापुर, मुंगेर–811211

'गगनांचल' का जुलाई–सितंबर 2001 अंक अच्छा लगा । अच्छे अंक के लिए बधाई। साहित्य–चिंतन में 'हिन्दी सर्जक और आलोचक', 'आलोचना संबंध' (रमेश दवे) गम्भीर आलेख हैं। 'भविष्य के शिलालेख हैं; ये आलेख' उपयोगी ही नहीं, नई परम्परा की शुरुआत

भी है। इसी तरह राधा शाक्य की कविता (न जाने आपने शीर्षक क्यों दे दिया है) अंक की उपलब्धि है। परम्पराओं में सदैव जीवित विलुप्त देवनदी सरस्वती (बल्लम डोभाल) हमारी प्राचीन समृद्ध परम्परा का दस्तावेज़ है।

अंक की बाकी चयनित रचनाएं भी स्तरीय हैं। आशा है 'गगनांचल' का यह आकर्षण बना रहेगा।

सावित्री सुमन
कंकड़बाग
पटना

'गगनांचल' का नया अंक प्राप्त हुआ। आपने मेरी कविताएं तथा एक लघुकथा का प्रकाशन कर यह साबित कर दिया है कि रचनाओं के चयन में आप में पूर्वाग्रह नहीं है। नाम नहीं, रचनाओं को आप प्राथमिकता देते हैं।

इस अंक में एक साथ ढेर सारी स्तरीय रचनाओं ने इसे ऐतिहासिक महत्व का बना दिया है, जो आपके कुशल संपादन का परिचायक है। रचनाओं के साथ रेखांकन का उपयोग भी करें तो और आकर्षक बन पड़ेगी पत्रिका।

प्रत्येक अंक में एक या दो परिचर्चा और भेंटवार्ता भी नियमित दिया करें।

सिद्धेश्वर
पटना

महिला लेखन एवं सरोकारों पर केन्द्रित 'गगनांचल' अंक प्राप्त कर अतीव हर्ष हुआ। सरोकार, समस्याएं और समाधान के अन्तर्गत सकल आलेख सार्थक, सामयिक एवं सात्विक हैं। महिलाओं से सम्बन्धित आलेख महिलाओं के लिए महिलाओं द्वारा रचित उच्चकोटि के हैं, जिनसे महिलाओं का मनोबल बढ़ेगा और महिलाएं लाभान्वित होंगीं।

श्रीमती सुमन कृष्णकांत ने बाधाओं का उल्लेख कर समाधान अपने आलेख में नहीं किया है। वस्तुतः औरत आज भी मोमबत्ती की भाँति जल रही है, किन्तु अपने दृढ़ निश्चय, साहसिक पग उठाकर तथा अपनी शीलता से वह अब अपनी स्थिति से उबरने हेतु, प्रयत्नशील है। लोकगीतों में नारी की दयनीय स्थिति को ही दर्शाया गया है।

अस्तित्व और अधिकारों के समीकरण पर ध्यान देते हुए यह कथन सारगर्भित एवं सार्थक है, 'अभी तक तो स्त्री ही बदलती आई है, अब पुरुष को भी बदलना होगा।'

कहानियों में 'शिवपुर की गंगा भौजी', 'पीर पर्वत हो गई है', मनोभावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं।

कविताएं भी प्रतीक एवं बिम्ब पर प्रकाश डालती हैं।

स्निग्धा हर्षनन्दिनी
भारतीनगर, अलीगढ़

जुलाई'–सितम्बर में 'दक्षिण द्वार पर' पढ़ा। अच्छा लगा। दक्षिण भारत की लोक संस्कृति की झलक इसमें देखने को मिलती है।

दक्खनिया का जादू लेख से भरपूर रूप में बोल रहा है। चट्टानों में भी कैसा सौन्दर्य रह सकता है।

दक्षिणी द्वार पर कुछ अधूरा छूटा छूटा–सा लगा मुझे। शिक्षण की यह परम्परा कैसे और क्योंकर कहाँ उपस्थित हुई, जिज्ञासा होती है। इसी प्रकार आँगन में यह प्रवेश द्वार पर रंगोली अंकित करने की परम्परा का इतिहास क्या है? दक्षिण हमें अनेक कारणों से आकर्षित करता है। कट्टर ब्राह्मणत्व की वहाँ क्या स्थिति है? पाठक जानना चाहता है।

डॉ० रामनिवास, अजमेर (राज.)
डॉ० विनोद कौशिक, बिजनौर (उ.प्र.)
डॉ० आदर्श, ऊधमपुर (ज.क.)

'गगनांचल' का अक्टू–दिस २००१ अंक मिला।

महिला लेखन एवं सरोकारों पर केन्द्रित यह अंक एक संग्रहणीय प्रकाशन है, एक अमूल्य दस्तावेज़ है जिसका महत्त्व वर्षों तक अक्षुण्ण रहेगा। सामग्री की स्तरीयता, विविधता, स्पष्टता, उत्तेजकता तथा अन्य गुण प्रत्येक पाठक, चाहे वह महिला हो या पुरुष, को सोचने, करने, स्थिति को बदलने–सुधारने के लिए प्रेरित करेगी। रचनाकारों का नाम भी पढ़ने के लिए आकर्षित करता है। विश्व–स्तर पर महिलाओं का प्रश्न एक विराट् मुद्दा बना हुआ है, उससे यह अंक परिचित कराता है और संबंध जोड़ने की राह बताता है।

वस्तुतः गगनांचल का प्रत्येक अंक विशेषांक और सुरक्षणीय होता है। मेरे पास सभी अंक भविष्य के उपयोग के लिए सुरक्षित हैं। इस अंक में साहित्यिक गतिविधियों के बारे में रपट नहीं है। खैर!

ओमप्रकाश वर्मा
जमेशदपुर

पत्रिका का प्रत्येक अंक स्वयं में विशेषांक की–सी रूप–सज्जा व आकर्षक सामग्री लिये होता है। यदि प्रत्येक संपादक अपनी पत्रिका के प्रत्येक प्रकाशन में इतना ही श्रम करे तो हिंदी व पत्रकारिता का इतिहास न केवल अनुकरणीय होगा, अपितु स्वयं में मील का पत्थर भी होगा। हिंदी के लिए आपका यह रचनात्मक प्रयास हिंदी सेवकों के लिए अवश्य ही कुछ लिखने व करने की प्रेरणा देगा। इस कार्य के लिए 'विकल्प' परिवार की ओर से सभी सहकर्मियों को साधुवाद।

डॉ० दिनेश चमोला
संपादक 'विकल्प'

'गगनांचल' वर्ष २४ अंक ३ देखने में आया। नवीन साज–सज्जा, रचना–चयन एवं उच्चकोटि के मुद्रण ने इसे आकर्षक बना दिया है। विषय–वैविध्यपूर्ण, पठनीय एवं स्तरीय रचनाओं से संकलित रोचकता एवं ज्ञानवर्धन की दृष्टि से संप्रति यह श्रेष्ठ हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका है।

यों तो प्रस्तुत अंक की सभी सामग्री पठन दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, किंतु उनमें डॉ० रामविलास शर्मा तथा पं. सूर्यनारायण व्यास विषयक लेख विशिष्ट हैं। आप अत्यन्त मनोयोगपूर्वक समर्पित भाव से इसके संपादन–दायित्व का निर्वहन कर रहे हैं, जिसके लिए आप निश्चय ही साधुवाद के पात्र हैं।

वेदप्रकाश गर्ग
मुजफ्फरनगर

'गगनांचल' मिली, अद्‌भुत। नववर्ष में नायाब उपहार! ढेर सारी उम्दा सामग्री, महिला सरोकारों का विशेषांक! कैसे बताऊँ अपने हृदय के उद्‌गार...? आप तो टिप्पणी नहीं छापते, कितना कुछ है इसमें, गागर में सागर, आपको हार्दिक बधाई तथा सभी सहयोगियों को साधुवाद! इतनी उत्कृष्ट सामग्री जुटाई, सभी कुछ बेहद पठनीय है!

कुसुम भट्ट
देहरादून

सदैव की भांति आकर्षक आवरण पृष्ठ व श्रेष्ठ रचनाओं से परिपूर्ण गगनाञ्चल का जुलाई–सितम्बर 2001 अंक पाकर मन प्रफुल्लित हो उठा।

वास्तव में वर्तमान समय में जबकि हिंदी में स्तरीय पत्रिकाओं का एक प्रकार से अकाल ही है, गगनाञ्चल अत्यंत सुखद अनुभूति कराती है। हिन्दी साहित्यिक पत्रिका जगत में व्याप्त अंधकार में गगनाञ्चल ही एकमात्र आशा की किरण है। सत्य तो यह है कि ये आपके संपादन कौशल का ही परिणाम है कि पत्रिका इस उँचाई को प्राप्त कर सकी है। कविता, गीत, ग़ज़ल, समीक्षाएँ, कहानी, लेख आदि विधाओं से सुसज्जित इस अद्वितीय साहित्यिक मूर्ति के शिल्पकार को नमन्।

महिला सशक्तिकरण वर्ष के समापन पर गगनाञ्चल के अक्टूबर–दिसंबर 2001 अंक को महिला विशेषांक के रूप में लाने का निर्णय अत्यंत उत्तम है।

संजीव कुमार
राजा का ताजपुर
जनपद–बिजनौर, उ.प्र.

अत्यंत आकर्षक आवरण पृष्ठ व श्रेष्ठ सामग्री से परिपूर्ण गगनाञ्चल का जुलाई–सितम्बर अंक प्राप्त हुआ। सदैव की भांति पत्रिका का ये अंक भी साहित्यिक भूख शांत करने में पूर्णरूपेण सक्षम है। पत्रिका को इस उँचाई तक ले जाने में आपके संपादन कौशल का अति महत्वपूर्ण योगदान है। आपके कुशल संपादन की छत्र–छाया में ही यह साहित्यिक महावृक्ष फल–फूल रहा है।

इस अंक में डॉ० रणजीत साहा का आलेख 'गाथापुरुष रामविलास शर्मा' प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ है। प्रख्यात शायर निदा फ़ाजली साहब की समीक्षा 'रस रंग के बारे में दो शब्द' उत्कृष्ट है। अंक की ग़ज़लें, कविताएं व कहानियां आदि भी स्तरीय हैं। साहित्य के इतने अनमोल मोतियों को सूत्रबद्ध करके ये गगनाञ्चल रूपी मुक्ताहार रचने के लिए ढेरों शुभकामनाएं।

संजीव कौशिक
मुनीरका, नई दिल्ली

'गगनाञ्चल' का ताज़ा अंक प्राप्त हो गया है। स्वर्गीय श्रीकान्त जोशी जी के अंतिम कविता–संग्रह (सत्य वहाँ सुरक्षित हैं) पर समीक्षा प्रकाशित की। हदबंदियों से बाहर रहकर एक अच्छा रचनाकार भी किस तरह अकेला पड़ जाता है; किस भाँति वह अलक्षित–अवहेलित कर दिया जाता है–यह मैंने श्रीकान्त जी को देखते हुए, देखा है। इसलिए उन पर छपते हुए देखना मेरे लिए एक बहुत ही सुखद अनुभव की तरह रहा है।

मैंने बहुत क़रीब से महसूस किया कि स्वर्गीय माखनलाल चतुर्वेदी जी के साहित्य का पुनरुद्धार इसलिए संभव हो सका कि श्रीकांत जी थे। अन्यथा इतिहास साक्षी है कि इस दिशा में औरों के विधिवत प्रयास नगण्य ही हैं।

उत्पल बैनर्जी
डेली कालेज, इन्दौर

महिला विशेषांक पढ़ चुका हूँ, आप हैरान करने का फ़न जानते हैं। सच है, आपने हैरान कर दिया।

'गगनाञ्चल' का प्रत्येक अंक ग़ज़ब ढा रहा है। आपकी दिलचस्पी, कुशल संपादन और पारखी नज़रों का असर है।

आप याद आये तो शब्दों के मुंह खुद ही खुलते चले गये।

मुशरर्फ़ आलम ज़ौक़ी

गगनाञ्चल का जुलाई–सितंबर अंक मिला। आप विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं से जुड़े रहे। सबके अनुभव का निचोड़ गगनाञ्चल में चयनित रचनाओं में दृष्टिगत होता है। 'गाथा पुरुष रामविलास शर्मा' इस अंक की धरोहर है। मार्मिक कविताओं का आजकल अकाल–सा है, पर गगनाञ्चल की कविताएँ हृदय का स्पर्श करने में सक्षम हैं।

हिमांशु
आयुध निर्माणी
कटनी, म.प्र.

गगनाञ्चल का पिछला अंक पढ़ा, फिर पीछे के बहुत से अंक पढ़े। बहुत अच्छा लगा। वैसे आपकी कलम और शैली की मैं बहुत पुरानी प्रशंसक हूँ। और अब सम्पादन की भी। सारी विशेषताएँ 'गगनाञ्चल' में एक साथ मिलीं।

विद्या गुप्ता
आर्यनगर
दुर्ग, म.प्र.

देव तथा असुर संस्कृति का विस्तार

● बल्लभ डोभाल

आर्यावर्त्त से निष्कासन के बाद असुरों ने अनेक देशों में अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। फोनीसिया, साइप्रस, सीरिया, असीरिया, जोर्डन, इज़राइल, अदन, ओमान आदि सभी राज्यों का एक संगठन बना। 'दैत्य' शब्द का अपभ्रंश 'डच' बना। जर्मनी का प्राचीन नाम डीच्शलैंड (दैत्यलैंड) था। दनायु दैत्य के नाम से डैन्यूब नदी प्रसिद्ध हुई। असुरों का निवास होने से सीरिया का नाम असीरिया हो गया। मद्र से मीडिया हुआ। 'बेलजियम्' शब्द का 'जियम्' भी दैत्य का अपभ्रंश है। पाणि असुरों ने फिनलैंड, श्वेत दानव ने स्वीडन, श्वेत नाम से ही स्विट्जरलैंड प्रसिद्ध हुआ है।

वह समय था जब सर्वप्रथम इन्द्र, अग्नि और प्रजापतियों की ही पूजा होती थी यानि देववंश के लोग ही पूजे जाते थे। उसके बाद नागवंशी शिव की पूजा शुरू होती है। नागवंश वाले भी देवताओं की कोटि में आते हैं। वे आस्तिक ज़रूर थे, पर देववंश वालों की अनेक व्यवहारिक मर्यादाएं उन्हें मान्य न थीं। देवों ने नागों की कई सुन्दरियां ले लीं, किन्तु अपनी देव–कन्याएं उन्हें देने पर देववंश वालों को आपत्ति थी।

उन दिनों कैलास से लेकर स्वर्ग के नन्दनवन तक शंकर के पराक्रम की कहानियां कही–सुनी जाती थीं। स्वर्ग पर असुरों और दस्युओं के कई आक्रमण शंकर ने अपने त्रिशूल और पिनाक से व्यर्थ कर दिए थे। हिमवान् के प्रजापति दक्ष की पुत्री सती ने जब शंकर के पराक्रम की कथाएं सुनीं तो मन ही मन उसे पति रूप में पाने का निश्चय कर लिया। ज्ञात होने पर बन्धु–बान्धवों और माता–पिता ने समझाया। अनेक प्रकार से शंकर की निन्दा की गई, ताकि सती के मन में उसके प्रति घृणा पैदा हो। किन्तु जब किसी प्रकार बेटी के आग्रह को टाला न जा सका तो सती का विवाह शंकर से हो गया, साथ ही माता–पिता ने उसका

बहिष्कार कर दिया। बिना बुलाए सती जब पिता के यज्ञ–उत्सव में पहुंची और वहां पति के अपमान को सहन न कर सकी तो उसने स्वयं को ही यज्ञकुंड में झोंक दिया। सती के आत्मदाह के पीछे देव और नागवंशियों का आपसी मनोमालिन्य ही कारण बनता है। इसके बाद शंकर ने भी तारकासुर जैसे बलशाली असुरों को अभय–दान दे दिया, जिसके बूते तारकासुर इन्द्र के स्वर्ग पर आक्रमण कर देता है। हिलते पर्वतों को स्थिर कर देने वाला इन्द्र, हिमालय–वासी होते हुए भी जहां अपना वर्चस्व नहीं बना पाया, वहीं शिव के अनुयायियों ने सम्पूर्ण हिमालय में ही नहीं, आर्यावर्त्त से बाहर भी शिव–संस्कृति का विस्तार कर डाला। सर्वप्रथम हिमालय में ही केदारनाथ, रुद्रनाथ, तुंगनाथ, मद्महेश्वर अैर कल्पनाथ...अनेक रूपों में शिव की स्थापना होती है। ऋग्वेद प्रथम मंडल के 114 सूत्र के ग्यारह मंत्रों में शिव का स्तवन करते हुए कहा गया है कि शिव (जिन्हें बाद में देव और असुरों द्वारा रुद्र रूप में प्रतिष्ठित किया गया है) धनुर्वेद, आयुर्वेद, गायन–वादन, नृत्य, कला–संगीत, तंत्र–मंत्र और रसायन आदि अनेक विधाओं के आचार्य थे। 'ब्रह्मपुराण' और 'महाभारत' शान्ति–पर्व के अनुसार कैलास क्षेत्र के अन्तर्गत शिव के आचार्यत्व में एक ऐसा विद्या–केन्द्र स्थापित था जिसमें आर्य–अनार्य, देव–असुर सभी शिक्षा पाते रहे। 'लिंग पुराण' में अध्याय 53 के अन्तर्गत अपने आश्रम में सर्वप्रथम शिव ने अपने चार शिष्यों–स्वेत, स्वेतशिख, स्वेताश्व और स्वेतलोहित को दीक्षा दी थी। आर्यों की देव और असुर–दोनों शाखाओं को शिव का आचार्यत्व स्वीकार था। शिव का भी सबके प्रति वात्सल्य–भाव था। इसलिए सभी शिव–साधना से उनका आशीर्वाद प्राप्त कर अपनी मनोकामना पूर्ण किया करते थे।

रावण और बाणासुर भी उनके विद्यालय के स्नातक थे। कैलास–क्षेत्र से शिव–स्नातकों द्वारा शिव–संस्कृति का सुदूर दक्षिण में ही नहीं, भारत के पश्चिमोत्तर देशों में भी प्रसार होता है। आर्यावर्त्त में द्वादश ज्योतिर्लिंगों की स्थापना होती है। बाद में आर्यों द्वारा पराजित इस क्षेत्र के असुरोपासक आर्यों के पश्चिमी अभियान ने ईरान आदि देशों में पहुँचकर वहां भी लिंगाकार शिलाओं की स्थापना कर लिंगपूजा–पद्धति को सुरक्षित रखा। ईसाई धर्मप्रचार के पहले पाश्चात्य देशों में सभी जातियों में किसी न किसी नाम से शिवलिंग की पूजा की जाती रही है। रोम में 'प्रियेसस', यूनान में 'फल्लुस' नाम से शिवलिंग पूजे जाते रहे। वहां बैल की मूर्ति भी लिंग के साथ पूजी जाती थी। मिस्र में 'हर' और 'इशि' नाम से शिव की उपासना होती रही। चीन, जापान के प्राचीन साहित्य में लिंगपूजा के रूप में प्रार्थना प्रचलित थी। ईसाइयों के वेद (पुराने सुसमाचार) में 'राजाओं की पुस्तक' के पन्द्रहवें अध्याय में कथा आती है कि रेहोगोमय के पुत्र 'आशा' ने अपनी मां 'मामाका' को लिंग के सामने बलि देने से रोका था।

मक्का में स्थापित मक्केश्वर शिवलिंग काले पत्थर का है। मुसलमान इसे 'अवसद' नाम से पुकारते हैं। इतिहासकार कर्नल टाड एक जगह लिखते हैं कि–मुहम्मद साहब पहले 'लात' नामक अरब देवता की उपासना लिंग के रूप में ही किया करते थे।

तुर्किस्तान, बाबीलोन नगर में एक विशाल शिवलिंग बताया जाता है। कहते हैं इतना ऊंचा और भव्य लिंग संसार में कहीं दिखने में नहीं आता। स्कॉटलैंड, फिजियन....यहूदियों के देश में भी शिवलिंग बहुत हैं। अमेरिका महाद्वीप के अन्तर्गत ब्राजील में अनेक प्राचीन शिवलिंग पाए जाते हैं। यूरोप के कारिन्थ नगर में तो पार्वती का मन्दिर भी पाया जाता है। इन्डोचीन, जावा, सुमात्रा, जिनका नाम पहले 'यवद्वीप' और 'सुवर्णद्वीप' था, में मन्दिरों के अन्दर शिवलिंग स्थापित है।

इस प्रकार विश्व में शिवलिंगों की पूजा होती रही है। पूजा तो इन्द्र की भी होती रही, किन्तु पूजा–पूजा में अन्तर है। शिव की पूजा जहां श्रद्धा से की जाती थी, वहां इन्द्र की पूजा के पीछे उसका भय और आतंक ही मुख्य कारण था। ऋग्वेद (5/10/13) में लिखा है कि इन्द्र ने घड़ों सोम पीकर असुरों का वध किया। इन्द्र के बज्र–प्रहार से पर्वत और नदियां कांप उठती थीं। उसने तीस हजार असुरों का वध किया। उसकी कट्टर रक्त–पिपासा और हृदयहीनता को देख अनेक आर्यपुरुष भी उसके विरुद्ध हो गए। इन्द्र ने निर्दयता–पूर्वक उनका भी वध कर डाला, जिसके कारण देर तक इन्द्र का आतंक असुरों के अन्दर बना रहा।

यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि यूरोप के अधिकांश देशों की स्थापना आज से लगभग दस हजार वर्ष पूर्व उन असुर–सामन्तों द्वारा की गई जो अन्तिम देवासुर–संग्राम में इन्द्र से पराजित हो जाते हैं। इनमें से जिन असुरों ने विजयी आर्यों के समक्ष आत्म–समर्पण कर दिया उनमें कुछ को आर्य–धर्म में दीक्षित किया गया और कुछ को दास बना लिया गया। शेष जो प्रतिष्ठित, आत्मसम्मानी असुर–सामन्त थे, वे आर्यों की आधीनता स्वीकार न कर अपने अनुयायियों सहित आर्यदेश से बाहर निकल गए।

उस समय हिमालय के तल वाले भाग पर जलप्रलय का प्रभाव था। दूर–दूर तक प्रलय–जल भरा था, अतः असुरों का वह शक्तिशाली अभियान दक्षिण की ओर न जाकर पश्चिमोत्तर प्रदेशों से होता हुआ ईरान की ओर चला गया।

पारसियों के पैगम्बर भी ऋग्वेद 7/5/6 में वर्णित आर्यों द्वारा बलपूर्वक निकाले जाने की बात का समर्थन करते हैं। वे भी कहते हैं कि हमें बलपूर्वक मातृदेश से निकाला गया है। 'उस्तनवेतिगाथा' में असहाय जरदुस्त जो विलाप–प्रलाप करते हैं, उसमें भी उसके इस देश–निकाले की करुण–स्मृति सुरक्षित है। –'मैं किस देश को जाऊं ... कहां शरण लूं? .. कौन देश मुझे और मेरे साथियों को शरण देगा?... न तो कोई सेवक मेरा सम्मान करता है और न देश के दुष्ट शासक! मैं जानता हूं कि मैं निःसहाय हूं। ... मेरी ओर देख! हे अहुरमज्द! मैं तुझसे विनीत प्रार्थना करता हूं।'

असुरोपासक आर्यों के इस अभियान ने ईरान (आर्यन) आदि देशों में पहुंचकर दज़ला और फरात नदी के प्रदेशों में अत्यन्त शक्तिशाली सुमेरियन और असीरियन साम्राज्यों की स्थापना की। वहां व्यवस्थित हो जाने पर उन्होंने अपने आदि देश की सुखद अनुभूतियों को

लिपिबद्ध कर उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयास किया। इसी अभियान के अन्तर्गत मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, यम आदि वैदिक देवी–देवताओं के नाम, जलप्लावन की घटना तथा वैदिक उपाख्यान और उनकी आसुरी–संस्कृति एशिया माइनर होती हुई योरोप तक जा पहुंचती है।

अपनी पुस्तक 'साइंस ऑफ लैंग्वेज' में प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं कि–उत्तरी भारत में एक उपनिवेश जोराष्ट्रियन लोगों का भी स्थापित था। वे कुछ समय तक उन साथियों के साथ रहे जिनकी पवित्र ऋचाएं हमारे लिए वेदों में सुरक्षित हैं, परन्तु किसी मतभेद के कारण बाद में ये लोग पश्चिम की ओर ईरान चले गए। जोराष्ट्रियन तथा उनके पूर्व–पुरुषों ने वैदिक–काल में भारत से ईरान में प्रवेश किया था, इसके कई प्रमाण उपलब्ध हैं। जिन देवी–देवताओं के नामों से योरोप के निवासी परिचित हैं, वे संस्कृत भाषा और पारसियों की 'जेन्द' मे एक ही नाम से पूजे जाते हैं। भारत और फारस के प्राचीन धर्म और पुराणों में भी विचित्र साम्य दिखाई देता है। संस्कृत के कुछ पूज्य–देवताओं के नाम 'जेन्द' में निकृष्ट रूप में वर्णित हैं। पारसियों के धर्म–ग्रन्थ में 'हप्तहिन्दु', 'हरह्वती' और 'हरयू' आदि उत्तराखंड की प्रमुख नादियों का उल्लेख आता है जबकि भारतीय वैदिक–साहित्य में न तो ईरान की किसी नदी का उल्लेख है न वहां के किसी स्थान का ही वर्णन मिलता है।

उत्तर वैदिक वाङ्मय में आर्यो द्वारा व्यक्त 'असुर' शब्द में जो घृणा–भाव है, वही घृणा पारसियों की जेन्द में 'देव' शब्द के प्रति अभिव्यक्त हुई है। पारसी धर्म में मित्र, वरुण, वायु, अग्नि आदि, वैदिक देवताओं को असुर और असुरों के कट्टर–शत्रु इन्द्र को बुरी आत्माओं का राजा कहा है।

देवताओं को सोम प्रिय था। इन्द्र ने घड़ों सोम पीकर असुरों का संहार किया था। इसलिए सोम के आध्यात्मिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी पारसियों की 'अहुनवेतिगाथा' (यस्न–32) में देवताओं के अत्यन्त प्रिय सोम की इस प्रकार निन्दा की गई है–

'हे देवो! तुम उस बुरी शक्ति से उत्पन्न हो जो सोम की मादकता द्वारा तुम पर अधिकार कर लेती है। मानव–जाति को ठगने, उसकी हिंसा के लिए वह तुम्हें अनेक उपायों द्वारा प्रेरित करती रहती है, जिसके लिए तुम लोक–विख्यात हो!'

पारसियों की 'स्पैन्टा मैन्यूस गाथा' में भी सोम की निन्दा की गई है।

आर्यावर्त्त से निष्कासन के बाद असुरों ने अनेक देशों में अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। फोनीसिया, साइप्रस, सीरिया, असीरिया, जोर्डन, इज़राइल, अदन, ओमान आदि सभी राज्यों का एक संगठन बना।

रोमन और ग्रीक लोग इन पड़ोसी राज्यों को अत्याचारी और क्रूर कहते थे। मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में वे इनके लिए 'बारबेरियन' शब्द का प्रयोग करते थे। वहां लिखा है कि इन बारबोरियनों ने पहले स्वर्ग और आर्यावर्त्त को लूटा, उसके बाद मिस्र और रोमन–साम्राज्य की ओर इनकी लूट–मार होने लगी, क्योंकि देवासुर–संग्राम में स्वर्ग के

शासक इन्द्र ने इनका विध्वंस किया था। मोहनजोदड़ो और पुष्कलावती के भू–गर्भ से उनके संस्मरण उपलब्ध होते हैं। 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में जगह–जगह आसुरी–शक्ति, उसकी संस्कृति और उक्त देशों के धार्मिक रीति–रिवाजों में काफी साम्य दिखाई देता है, जिसके आधार पर यही स्थापना होती है कि कालान्तर में समस्त योरोप पर असुर–सामन्तों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था और उनके नामों से अनेक देशों की वहां स्थापना हुई है।

'पैराडाइज़ लॉस्ट' में इन आततायी असुरों की स्थिति और उनके ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। वहां लिखा है कि मिस्र और रोमनों की ओर बढ़ते असुरों के अभियान को खदेड़ते हुए मिस्र ने इज़राइल पर भी अधिकार कर लिया और ये लम्बे समय तक मिस्र की दासता में रहे। मूसा भेड़ चराने वाला एक बुद्धिमान व्यक्ति था। उसने धार्मिक आधार पर इन दासों की भावनाओं को स्वाधीनता के लिए उकसाया। इधर मिस्र का शासन भी दुर्बल पड़ता गया। फलतः इज़राइल स्वतंत्र हो गया, किन्तु मिस्र की जनता इन आततायियों से इतनी परेशान थी कि उन्होंने अपना धन और आभूषण तक दे डाले, ताकि आततायी वहां से निकल जाएं, किन्तु वे कहीं न गए।

इज़राइल के निवासी यहूदी (Jews) कहे जाते रहे हैं। हिब्रू उनकी भाषा थी। सीरिया की सरहद पर मिस्र के बादशाह रामसस द्वितीय ने उन्हें नज़रबन्द कर दिया था और चार सौ वर्ष तक वे मिस्र की दासता में रहे। तब मिस्र की राजधानी 'मेम्फिस' थी। मूसा ने उन्हें बताया कि भगवान ने मुझसे कहा है–'अब इज़राइलियों को मूर्तिपूजा का दंड मिल चुका, उन्हें मैं स्वतंत्र करता हूं।' यही बात उसने मिस्र के सम्राट फराहो से कही। सम्राट ने पहले तो उन्हें स्वाधीन कर दिया। मूसा के साथ इज़राइल को लौटते हुए वे लाल सागर तक पहुंच गए। किन्तु फरोहा को जब लगा कि उन्हें स्वतंत्र कर उसने अपनी कमजोरी ज़हिर की है, तो पुनः उसकी सेना ने लाल सागर के किनारे जाकर उन्हें घेर लिया।

बाइबिल में लिखा है कि मूसा ने अपना डंडा समुद्र पर फेर दिया। समुद्र का जल घट गया। इज़रायली पार हो गए और पीछा करती हुई मिस्र की सेना समुद्र में डूब गई।

इज़राइल के राजा डेविड का पुत्र सोलोमन था। वह अत्यधिक कामी और क्रोधी था। उसके सात सौ स्त्रियां और तीन सौ रखैलें थीं। अपने शासनकाल में उसने बड़े ज़ालिम देवताओं की स्थापना की थी, जिनके लिए जीवित मनुष्य और बच्चों की बलि दी जाती थी। कहते हैं, सोलोमन तो भी औरों से अच्छा था।

चार सौ वर्ष मिस्र की दासता में रहने से इज़राइल के लोग भी पशु–पक्षी और जलचरों की मूर्तियां बनाकर पूजते रहे। मिस्र में एक़ पुरानी कथा है कि–एक बार असुरों ने देवताओं पर आक्रमण किया तो देवता मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। असुरों द्वारा पीछा करने पर देवता मिस्र के राज्य में घुस गए और हाथी, घोड़ा, बैल, बकरी तथा अन्य पशु–पक्षियों में छिपकर बैठ गए। असुर पता न पाकर लौट गए। तब से मिस्र के लोग पशु–पक्षियों की ही पूजा करते हैं, क्योंकि उनमें देवता निहित हैं। तब वहां एक वर्ग ऐसा भी था जो स्वर्ग के

देवताओं का पुजारी था। जिसकी पूजा वे करते थे, वह इन्द्र देव था, क्योंकि इस समय इन्द्र की मूर्ति 'जिहोवा' तथा मिस्र में 'जुपिटर' कहकर पूजी जाती थी। किन्तु असुर शासकों ने वहां इन्द्र (जिहोवा) के भक्तों की हत्या कर दी और स्वयं अपनी प्रतिमाएं वहां स्थापित कर पूजने की परम्परा चलाई। ये राजा और इनके अनुयायी हीथन कहे जाते थे।

इस मूर्तिपूजा के खिलाफ मूसा और इब्राहीम के आन्दोलनों के कारण इज़राइल दो भागों में बंट गया। इज़राइल का दक्षिणी भाग जूडा (जूडिया) हो गया, जिसकी राजधानी यरूशलम बनी।

अब जूडिया में ओलीव पहाड़ है। बाइबिल में इसे 'दुराचारों का पहाड़' या 'अपराधों का शिखर' कहा गया है। मिल्ट ने इसे 'बदमाशियों का पर्वत' कहा है। मौलोक कभी इस देश का सम्राट था। सोलोमन ने इसका मन्दिर ओलीव पहाड़ के दक्षिणी भाग में बनाया था। मौलोक की मूर्ति धातुनिर्मित होती थी। उसके हाथों के नीचे एक अग्निकुंड धधकता रहता था। पूजा के समय एक बच्चा उन हाथों में रख दिया जाता। पुजारी धक्का देकर उसे अग्निकुंड में डाल देता। धधकती आग में जब वह बिलख–बिलख कर चीखता तो पुजारी ढोल की आवाज तेज कर देते, ताकि उसका रोना किसी को सुनाई न पड़े।

ओलीव पहाड़ के ठीक सामने मोरिया पर्वत पर यह मन्दिर था। मोरिया की यह घाटी हिन्नोम की सन्तानों की घाटी कही जाती है। इसी के एक भाग को 'तोफेथ' कहा जाता था, जिसका अर्थ है–'ढोल का पहाड़', क्योंकि मौलोक के लिए बलि चढ़ाए गए बच्चों के रुदन को नकारने के लिए यहीं ढोल बजाए जाते थे। मौलोक और उसी के समीप (किमोश) कामदेव का मन्दिर मानव–जाति के कलंक थे। मौलोक में मनुष्यों का वध होता था और किमोश में पराई स्त्रियों और बच्चों के साथ बलात्कार किया जाता था। इस अनाचार को रोकने के लिए जूडा के सम्राट जोशिया का हुक्म हुआ कि शहर का सारा कूड़ा–करकट, मल–मूत्रादि वहीं डाला जाए। हुक्म के तहत निरंतर जलते हुए कूड़े की आग और धुआं–बदबू के कारण यहूदी वहां जाने से घृणा करने लगे और वह अनाचार–अत्याचार प्रायः बन्द हो गया, वरना हिन्नोम घाटी में नरक का दृश्य बना रहता था। ग्रीक में इस घाटी को 'जीहन्ना' हिब्रू में 'जीहन्नुम' और उर्दू में वही 'जहन्नुम' (नरक) बन जाता है।

मिस्र ने इन्हें चार सौ वर्ष से अधिक गुलाम बनाए रखा और सहत्तर वर्षों तक बाबीलोनिया (बल्हीक) ने भी। इसलिए उन देशों में इन्हें दास कहते हैं। भारत में दस्यु भी इसी का पर्याय है। मिस्र के विशाल पिरामिड और बल्हीक के भव्य–भवन, जो अब भू–गर्भ से प्राप्त हुए, इन्हीं दासों के श्रम से बने थे। मिल्टन के अनुसार, भवन निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य भारत में भी इन्हीं दासों के द्वारा किए गए हैं। पांडवों का सभाभवन तथा मेरठ के पास बरनाषा का लक्षागृह मय और विरोचन असुरों द्वारा निर्मित किया गया था। बलि, हिरण्य, अघासुर, बृन्न, प्रलम्ब शाल्व आदि नामक असुर महान् शक्तिशाली होने के साथ–साथ युद्ध–कलाओं में भी पारंगत थे।

प्राचीन इतिहास बताता है कि एक समय असुरों द्वारा देवों की पराजय के बाद सम्पूर्ण वन, पर्वत और समुद्र पर असुरों का अधिकार हो गया था।

मत्स्यपुराण के अनुसार, हिरण्यकशिपु दैत्यों का आदि सम्राट था। इसी के नाम से क्षीरसागर को कशिपुसागर या कैस्पियन सागर कहते हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी पर असुरों का अधिकार होने से उन्हें 'पूर्वदेव' भी कहा जाता रहा है। जेष्ठ अदिति के पुत्र वरुण के असुरों से घनिष्ट सम्बन्ध थे। वरुण हिरण्यकशिपु के पुरोहित भी थे। इन्हें 'असुरमहत्' कहा गया है। दीर्घकाल तक परसी लोग 'अहुरमज्दा' नाम से वरुण की पूजा करते रहे। हिरण्याक्ष ने पृथ्वी को दो भागों में बांटा, जिसमें समुद्री भाग पर वरुण का साम्राज्य बना रहा। इसलिए समुद्र को 'वारुणालय' और वरुण को 'यादसांपत्ति' कहा जाता था।

वरुण के वंशज भृगु, कपि, शंड और मर्क के भी असुरों से सम्बन्ध थे। शुक्राचार्य असुरों के प्रधान पुरोहित बने। शुक्राचार्य के शंड, मर्क और वरुत्री–तीनों पुत्र भी असुरों के पुरोहित रहे। दानवों के बीच रहने से वे भी दानव कहलाए। दानव मर्क ने डेनमार्क देश बसाया। शंड ने स्कैंडेनीविया की स्थापना की। इसी प्रकार कालकेय दैत्य के नाम से 'केल्ट' प्रसिद्ध हुआ। 'दैत्य' शब्द का अपभ्रंश 'डच' बना। जर्मनी का प्राचीन नाम डीच्शलैंड (दैत्यलैंड) था। दनायु दैत्य के नाम से डैन्यूब नदी प्रसिद्ध हुई। असुरों का निवास होने से सीरिया का नाम असीरिया हो गया। मद्र से मीडिया हुआ। 'बेलजियम्' शब्द का 'जियम्' भी दैत्य का अपभ्रंश है। पाणि असुरों ने फिनलैंड, श्वेत दानव ने स्वीडन, श्वेत नाम से ही स्विटजरलैंड प्रसिद्ध हुआ है। एक गाथ नाम का दैत्य था जिसके नाम से फ्रांस में गाथ जाति का आविर्भाव हुआ। 'दैत्य' शब्द का अपभ्रंश 'टीटन' है, जो अंग्रेजों के पूर्वज थे। डीट्श, डच, टीटन, डेन, जियम् आदि 'दैत्य' शब्द के ही पर्याय हैं।

योरोप के अलावा अफ्रीका में भी कई देशों के नाम दैत्यों के नाम पर आते हैं। पुराणों में 'गभस्थल' का अधिपति राक्षसराज सुमाली को बताया गया है। आज अफ्रीका का विशाल देश 'सोमालीलैंड' उसी के नाम से विख्यात है।

रामायण के उत्तरकांड में विष्णु द्वारा सुमाली की पराजय का वर्णन आता है। परास्त सुमाली आदि राक्षस लंका से पलायन कर पाताल, अर्थात् अफ्रीका के 'सोमालीलैंड' आदि देशों में बस जाते हैं। पुराणों में अमरीका, अफ्रीका आदि देशों को ही पाताललोक कहा गया है।

भागवद्पुराण में लिखा है कि जब बलि ने देवताओं को परास्त कर स्वर्ग सहित सम्पूर्ण पृथ्वी पर अधिकार कर लिया तो विष्णु ने वामन रूप धारण कर छल से दो पगों में पृथ्वी को नाप लिया। बलि ने तीन पग पृथ्वी देने का वचन दिया था, जब तीसरे पग के लिए धरती न बची तो दिए गए वचनों को पूरा न कर पाने के कारण बलि को पाताल–लोक जाना पड़ा। बलि के साथ इस कपट–व्यवहार पर असुरों की माता दिति ने विष्णु को बहुत फटकारा। तब विष्णु असुरों के लिए पाताल–लोक में भी स्वर्ग जैसी व्यवस्था करने का वचन देकर माता को

आश्वस्त करते हैं और पाताल में भी स्वर्ग जैसी रचना कर वापस लौटते हुए बलि से कहते हैं कि–'बलि! अब तुम इस स्वर्ग की समृद्धि का उपभोग करो! तुम्हारे इस लोक में कभी किसी वस्तु की कमी न रहेगी। किन्तु मैं जा रहा हूँ, इसलिए सब कुछ होते हुए भी शान्ति का अभाव बना रहेगा।

प्राचीन ग्रन्थों के वर्णन से यही बात सामने आती है कि योरोप के अधिकांश देश जिन लोगों ने बसाए थे, वे आज से हजारों वर्ष पूर्व भारत (आर्यावर्त्त) से पलायन किए असुर–सामन्त थे, जो देवासुर–संग्राम के बाद आर्यावर्त्त को छोड़कर चले गए और हर असुरराज ने अपने नाम से एक अलग देश की स्थापना की।*

□□□

* ऋग्वेद, पुराण, बाइबल, श्री पोकाक के 'इन्डिया इन ग्रीक', सर विलियम जान्स के 'एशियाटिक रिसर्चेज', मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट, आदि ग्रन्थों के सन्दर्भ से।

देव नदी सरस्वती की सहचारिणी नदी-'दृषद्वती'

● वेदप्रकाश गर्ग

महाभारत के वन पर्व (८१/४,२०४) के श्लोकों के अनुसार यह नदी सरस्वती से पूर्व–दक्षिण की ओर प्रवाहित होती थी। इस बात की पुष्टि ब्राह्मण–ग्रंथ एवं श्रौत सूत्रों के वर्णन से भी होती है। सम्प्रति इस नदी दृषद्वती की सही पहचान संदिग्ध बनी हुई है। श्री नन्दलाल डे महोदय तथा कतिपय अन्य विद्वानों ने भी उसी को प्रमाण मानकर वर्तमान घग्घर नदी को दृषद्वती माना है, किंतु यह समीकरण सर्वथा अशुद्ध है। गगनाञ्चल (वर्ष २४, अंक : ३) में प्रकाशित बल्लभ डोभाल के लेख पर यह लेख नये ढंग से सोचने की सामग्री देता है।

प्राचीन समय में सरस्वती नदी अपनी विशाल जल–राशि के साथ कुरुक्षेत्र के सन्निवेश में प्रवाहित होती थी। यह वेदकालीन नदी थी। ऋग्वेद में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। इस पवित्र नदी का उद्गम नाहन की पहाड़ियों के ऊपरी भाग से हुआ है और इस उद्गम–स्थल को 'प्लक्ष प्रस्रवण' कहा गया है।[1] यह अपने समय की प्रधान नदी रही है। किसी समय यह नदी 'विनशन' नामक स्थान पर सीधे समुद्र में जाकर मिलती थी[2] और जिस समुद्र के साथ यह नदी मिलती थी, वह पश्चिमी समुद्र था।[3] उक्त समुद्र राजपूताने के पश्चिमोत्तर भाग में था।

विक्रम–संवत् से लगभग पाँच हजार से भी अधिक वर्षों पूर्व किसी समय प्रबल प्राकृतिक उथल–पुथल के कारणों से यह देव नदी विलुप्त हो गई थी अर्थात् इसका प्रवाह अवरुद्ध हो गया था। सरस्वती के नष्ट हो जाने का उल्लेख प्राचीन साहित्य में स्पष्टरूपेण मिलता है। सरस्वती के स्रोतों के नष्ट होने का संकेत शतपथ ब्राह्मण (१/४/१/१०–१७)

में भी मिलता है। उसमें सरस्वती प्रदेश के उस राजा विदेघ माधव की कथा दी गई है, जिसका देश और सरस्वती का स्रोत किन्हीं तीव्र भौगोलिक परिवर्तन से नष्टप्राय हो गया था। महाभारत के कुछ उल्लेखों से भी यह स्पष्ट होता है कि महाभारत युद्ध–काल से बहुत पूर्व ही सरस्वती नदी का स्रोत रुद्ध हो चुका था (शल्य पर्व ३८/१; भीष्म. ६ (५१)। महाभारत काल में भी विलुप्त हुई नदी सरस्वती के चिह्न, आज की तरह यत्र–तत्र उपलब्ध होते थे।

कुरुक्षेत्र की यह प्रधान नदी सरस्वती अब अपनी क्षीण धारा से प्रवाहित होती हुई उत्तरी राजस्थान में पहुँचकर बालू में खो जाती है, जिसे पूर्वकाल में 'विनशन' कहते थे[४] और फिर आगे कई बार इसकी धारा प्रकट हो जाती है। इस प्रकार के स्थानों को प्राचीन परिभाषा में उद्भेद कहा जाता था। वन पर्व (८२/११२) में ऐसा उल्लेख मिलता है।

'विनशन' का उल्लेख वैदिक–साहित्य में उपलब्ध होता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (२५/१०/१२–२३), कात्यायन श्रौत सूत्र (२४/६/३०–३६) और लाट्यायन श्रौतसूत्र (१०/१९/४) में सारस्वत एवं दार्षद्वत नामक सत्रों के अन्तर्गत इसका नाम मिलता है। महाभारत में भी इस स्थान का उल्लेख है। महाभाष्य (२/४/१०/६.३.१०४) में 'विनशन' का अन्य नाम 'अदर्श' अथवा 'अदर्शन' भी उपलब्ध होता है।

कुरुक्षेत्र की इस देव नदी सरस्वती की सहचारिणी अन्य बड़ी धारा वाली नदी 'दृषद्वती' रही है। यह भी आगे जाकर बालू में खो जाती है। यह नदी कुरुक्षेत्र की सीमा रही है। महाभारत के वन पर्व (८१/४, २०४) के श्लोकों के अनुसार यह नदी सरस्वती से पूर्व–दक्षिण की ओर प्रवाहित होती थी। इस बात की पुष्टि ब्राह्मण–ग्रंथ एवं श्रौतसूत्रों के वर्णन से भी होती है। उनमें वहां सारस्वत तथा दार्षद्वत सत्रों के अन्तर्गत उल्लेख है कि सत्रयाजी व्यक्ति 'विनशन'[५] में दीक्षित होकर सरस्वती के दक्षिण (दाएँ) तट पर उसके उद्गम की ओर चले। सरस्वती–दृषद्वती का संगम आने पर संगम से ऊपर की ओर सरस्वती को पार करके दृषद्वती के दक्षिण (दाएँ) तट पर पहुँचे। पार करने के पूर्व ही संतरण के दोषों से बचने के लिए अपोनप्त्रिम (अपोनपात् देवता के उद्देश्य से) चरु देवे और पार होकर वहीं से अष्टाकपाल पुरोडाश के द्वारा आग्नेय इष्टि का प्रारम्भ करे। पुनः दृषद्वती के दाएँ तट पर ऊपर की ओर चलता हुआ उसके उद्गम–स्थान पर पहुँचे। वहाँ से नदी पार किए बिना ही यमुना के उद्गम–स्थल 'त्रिप्लक्ष अवरण' में पहुँचे और वहां 'अवभृथ' का अनुष्ठान करे। वहां से सरस्वती के उद्गम–स्थान 'प्लक्ष प्रस्रवण' में जाकर अष्टाकपाल पुरोडाश से आग्नेय इष्टि को सम्पन्न करे। तत्पश्चात् वहां से सरस्वती के दाएँ तट पर धारा के साथ–साथ नीचे की ओर दृषद्वती के सगंम पर पहुँचकर सत्र को संपूर्ण करे। यह यात्रा विनशन पर वापस आकर ही समाप्त होती थी।

इस वर्णन में यज्ञिय अंश को छोड़कर यदि देखें तो शेष वर्णन से दोनों नदियों की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होता है। सारस्वत और दार्षद्वत सत्र वस्तुतः सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों की समस्त परिक्रमा रूप है। अतः इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि सरस्वती

नदी के दक्षिण–पूर्व में ही दृषद्वती की स्थिति थी, क्योंकि सरस्वती–दृषद्वती के संगम के ऊपर सरस्वती के दाएँ (दक्षिण) तट से बाएँ तट की ओर पार होकर दृषद्वती के दाएँ तट पर पहुँचना इस बात को सिद्ध करता है कि सरस्वती के पूर्व–दक्षिण की ओर ही दृषद्वती थी। इन दोनों नदियों का मध्य भाग मनुस्मृति (२/१७) के अनुसार 'ब्रह्मावर्त' कहलाता था।[६] सरस्वती के दक्षिण में और दृषद्वती वे उत्तर में ब्रह्मावर्त के अन्तर्गत ही परम पवित्र कुरुक्षेत्र का धर्मक्षेत्र (प्रदेश) था।[७] ग्रंथों में इन दोनों नदियों को देवनदी माना गया है।

सम्प्रति इस नदी दृषद्वती की सही पहचान संदिग्ध बनी हुई है। श्रीनन्द लाल डे महोदय तथा कतिपय अन्य विद्वानों ने भी उसी को प्रमाण मानकर वर्तमान घग्घर नदी को दृषद्वती माना है,[८] किंतु यह समीकरण सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि वर्तमान घग्घर (गर्गरा) नदी की स्थिति सरस्वती से पश्चिम की ओर है और वह पश्चिम से आकर सरस्वती के दाएँ किनारे से मिलती है। घग्घर का प्राचीन नाम हिरणवती था।[९] दृषद्वती की सही स्थिति का ज्ञान उपर्युक्त वर्णित सत्रों के उल्लेखों से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। वह सरस्वती से दक्षिण–पूर्व की दिशा में थी। अतः घग्घर को दृषद्वती नहीं माना जा सकता। वस्तुतः दृषद्वती आज की अंबाला जिले में बहने वाली चितांग (प्राचीन चित्रांगा) नदी है, जो सरस्वती के समानान्तर प्रवाहित होती है। रैप्सन ने इसे चितांग से ही समीकृत किया है[१०], जो सही है। प्राचीन समय में यही दृषद्वती (चितांग) 'शरावती' के रूप में उदीच्य एवं प्राच्य देश भागों की विभाजक रेखा मान्य थी[११]।

संदर्भ

१. सरस्वती के उत्पत्ति स्थान पर तुषार क्षेत्र था। यही तुषार क्षेत्र पिघल कर सरस्वती को पुष्ट करता था। इस तुषार क्षेत्र को ऋग्वेद में 'सरस्वान्' कहा गया है। सरस्वती नदी के तट पर बिन्दु सरस् के अन्तर पर कर्दम ऋषि का आश्रम था। यहीं महर्षि कपिल का उत्पत्ति स्थान था।

२. (अ) एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्मतीगिरिभ्य आसमुद्रात्–ऋग्वेद (७/९५/२)
(आ) ततो गत्वासरस्वत्या : सागरस्य च संगमे–महाभारत वनपर्व (८२/६०) और 'विनशन' के लिए देखिए–ताण्ड्य महाब्राह्मण (२५/१०/१) तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (४/२६)

३. समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धि संगमम्–म.भा. शल्य पर्व (३६/३३) 'विनशन' सरस्वती एवं समुद्र के संगम पर तत्कालीन एक तीर्थ स्थल था। मनुस्मृति में भी इसका उल्लेख मध्यदेश की पश्चिमी सीमा के रूप में हुआ है (२/२१)

४. वास्तव में यह मरु पृष्ठ पर सरस्वती के अदर्शन का स्थान है।

५. इस यात्रा का आरंभ 'विनशन' (संभवतः वर्तमान कोलामत) से होता था।

६. सरस्वती–दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। देव–निर्मित ते देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।।

७. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे।। म.भा. वनपर्व८३/४।

८. दे. उनके भौगोलिक कोश (इंगलिश) में 'दृषद्वती'। डे महोदय ने घग्घर को अम्बाला और सरहिन्द से बहते हुए राजपूताने की मरुभूमि में अन्तर्हित होने का उल्लेख किया है। सरहिन्द के पास बहने का उनका उल्लेख सही नहीं है। वह तो सरहिन्द से लगभग ३५ मील दूर पूरब की ओर बहती है। अम्बाला छावनी से भी लगभग दो–तीन मील पूरब में बहती है। डे के उल्लेख का आधार एल्फिन्स्टन और टाड के उल्लेख हैं। (दे. ज.ए.सो.बं.६, १८१)।

९. इस नदी की गणना कुरुक्षेत्र की नौ नदियों में की गई है। इसके तट पर ही पाण्डव–सेना का पड़ाव हुआ था (म.भा. उद्योग पर्व १५२/७–८), आगे चलकर इस नदी को हाकड़ा कहा जाने लगा और इसी तरह इसका कग्गर या घग्घर नाम प्रचलित हुआ।

१०. दे. ऐंशियेंट इंडिया, पृ.५१; इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, पृ. २६१।

११. दे. समाज धर्म एवं दर्शन, वर्ष १५ अंक १ में प्रकाशित मेरा लेख–"भारतवर्ष को चार प्रदेशों में विभक्त करने वाली प्राचीन 'शरावती' नदी की पहचान।" यह लुप्त पुरातन नदी (दृषद्वती) सूरतगढ़ के उत्तर में लगभग तीन मील की दूरी पर सरस्वती के पूर्वी तट की ओर (संभवतः वर्तमान रंग महल) आकर मिलती थी। इन दोनों नदियों के संगम का उल्लेख, लाटयायत श्रौत सूत्र १०/१९/४ में है। उक्त संगम–स्थान पर इन दोनों नदियों के शुष्क प्रवाह–पथ आज भी मिलते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

□□□

हमें धीरे-धीरे आत्मनिर्भर होना है

• डॉ० सिल्विया मूदी

प्रस्तुतकर्ता—प्रेम जनमेजय

'अच्छा शिक्षक जीवनभर विद्यार्थी रहता है', यदि इस उक्ति को चरितार्थ देखना हो तो वेस्ट इंडीज़ विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर लैंग्वेज लर्निंग की निदेशिका, डॉ० सिल्विया मूदी कुबलाल सिंह से मिल लिया जाए। प्रौढ़ावस्था में भी भाषा सीखने का जो उत्साह उनमें है वह किसी भी युवा को लज्जित कर सकता है। भाषा के बारे में उनके सुस्पष्ट विचार हैं। त्रिनिडाड में 17 से 19 मई के बीच आयोजित होने वाले अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की संयोजिका इस सम्मेलन को लेकर बहुत उत्साहित हैं। स्पेनिश, अंग्रेजी, फ्रेंच और इटेलियन भाषा पर अधिकार रखने वाली और हिन्दी सीखने को निरंतर उत्सुक डॉ० मूदी के हिन्दी भाषा के प्रति क्या विचार हैं तथा त्रिनिडाड में वह इस सम्मेलन की क्या आवश्यकता अनुभव करती हैं, इन प्रश्नों के साथ डॉ० प्रेम जनमेजय ने उनसे बातचीत की। प्रस्तुत हैं अंग्रेजी में हुई उनसे बातचीत के कुछ अंश।

प्रेम जनमेजय—डॉ० मूदी पहले तो यह बताइए कि हिन्दी भाषा के प्रति आपकी रुचि कैसे जागृत हुई। मैं जानता हूँ कि एक भाषाविद् के रूप में आपकी पर्याप्त ख्याति है और आप अंग्रेजी, स्पेनिश के अतिरिक्त अच्छी फ्रेंच भी जानती हैं। पिछले कुछ वर्षों से आप हिन्दी भी सीख रही हैं। मुझे आपका हिन्दी अध्यापक होने का गौरव प्राप्त है। मुझे पहले तो यह बताएं कि हिन्दी के प्रति आपकी यह रुचि कैसे जागृत हुई तथा आप इसे अन्य भाषाओं से कैसे भिन्न पाती हैं?

डॉ० सिल्विया मूदी—हिन्दी के प्रति मेरी रुचि बचपन से ही है। जब मैं बहुत छोटी थी, तबसे ही मैंने अपने आसपास लोगों को हिन्दी बोलते सुना है, रेडियो पर हिन्दी फिल्मी गीतों को सुना और उस संगीत को सुनना मुझे बहुत ही अच्छा लगता था। इन गीतों के अर्थ मैं

नहीं समझती थी, पर बारबार मैं इन्हें सुनती थी। मेरे आसपास एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसा था जो हिन्दी बोलता था। इसके बाद मैं आनी शिक्षा के लिए विदेश चली गई और हिन्दी से मेरा सम्पर्क छूट गया परन्तु इसे सीखने की इच्छा समाप्त नहीं हुई। जब मैं विदेश से वापस अपने देश आई तो मेरा सम्पर्क एक ऐसे प्रोफेसर से हुआ जो समाज वैज्ञानिक थे और यहां हिन्दी भी पढ़ा रहे थे। मैंने उनसे हिन्दी सीखना आरम्भ किया परन्तु इस आरम्भ में कोई निरंतरता नहीं थी। जब भी समय मिलता मैं सीखने का प्रयत्न करती और हिन्दी सीखने की मेरी भूख बढ़ रही थी। इसके पश्चात् विभाग में हिन्दी का पाठ्यक्रम सम्मिलित किया गया। वस्तुतः इसके लिए मैंने बहुत प्रयत्न भी किए। अमेरिका आदि देशों में हिन्दी पढ़ाई जा सकती है तो वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय में क्यों नहीं? विश्वविद्यालय में हिन्दी का पाठ्यक्रम आरम्भ कराने में, लिबरल आर्ट विभाग की वर्तमान अध्यक्षा प्रोफेसर बारबरा लाला का महत्वपूर्ण योगदान है। मैं जब लौटकर आई और सेंटर फॉर लर्निंग सेंटर की निदेशक बनी तो मैंने सेंटर में भी हिन्दी का शिक्षण आरम्भ किया। यहाँ मैंने पहले तत्कालीन अतिथि आचार्य डॉ० सुवास कुमार से कुछ हिन्दी सीखी और बाद में पिछले तीन वर्ष से अपने वर्तमान हिन्दी गुरु डॉ० प्रेम कुन्द्रा (प्रेम जनमेजय) से नियमित रूप से हिन्दी सीख रही हूँ। जितना मैं हिन्दी सीख रही हूं उतना ही इसे सीखने की मेरी भूख बढ़ रही है। पहले मैं त्रिनिडाड के वातावरण में व्याप्त कुछ हिन्दी के, कुछ सांस्कृतिक शब्दों और आपसी रिश्तो के शब्दों को, जैसे दीदी, आजा आजी, नाना, भौजी आदि को ही जानती थी। आप जानते ही हैं कि त्रिनिडाड में अनेक ऐसे हिन्दी शब्द हैं जिनका प्रयोग न केवल भारतीय मूल के लोग करते हैं अपितु अन्य वर्गों के लोग भी करते हैं। जगह–जगह आप 'रोटी शॉप' देखते हैं तथा करेला, आलू, बैंगन आदि शब्दों का सभी प्रयोग करते हैं। दोगला, झंझट जैसे शब्द का अर्थ किसी को समझाने की ज़रूरत नहीं है। तो आप देखते हैं कि त्रिनिडाड के वातावरण में हिन्दी के अनेक शब्द बिखरे हुए हैं।

प्रेम जनमेजय–आपने कहा कि हिन्दी के प्रति आपकी रुचि में रेडियो द्वारा प्रसारित हिन्दी फिल्मी गीतों का महत्वपूर्ण योगदान है। मेरे विचार से ऐसा केवल आपके साथ ही नहीं है, अपितु त्रिनिडाड के अधिकांश हिन्दी प्रेमियों के साथ ऐसा ही है। हिन्दी फिल्मी संगीत ने त्रिनिडाड में हिन्दी के प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अच्छा बताएं कौनसा गाना आपको पसंद है और क्या मुझे सुना सकती है?

डॉ० सिल्विया मूदी–(हंसते हुए और थोड़ा शर्माते हुए) मैं गाना ज़रूर गाती हूं पर मेरे गाने के साथ मज़ेदार बात है, मैं हिन्दी गाने को पाश्चात्य संगीत की धुन के साथ गाती हूँ। मैं हिन्दी गाने गाना चाहती हूँ क्योंकि ये मुझे बहुत पसन्द हैं।

प्रेम जनमेजय–मैं जानता हूँ कि आपको हिन्दी गानों से कितना लगाव है। कक्षा में जब दूसरे छात्र गाते हैं तो आपकी आखों में अतिरिक्त चमक आ जाती है और धीमे–धीमे आप भी अपना स्वर मिलाती हैं। फिल्मी गाने ही क्या हिन्दी कविता के प्रति भी मैंने आपमें विशेष रुचि देखी है। 'हवा हूं, हवा मैं' कविता जिस लगन से आप गाती हैं वह आपके हिन्दी

साहित्य के प्रति प्रेम को भी लक्षित करता है। मैं जानता हूँ कि प्रकृति से और विशेषकर पेड़ों से आपको लगाव है तथा अपनी सीमाओं में आपने पेड़ को लेकर जो दो छोटी-छोटी कविताएं लिखी हैं वो मुझे बहुत पसन्द हैं। इसका अर्थ हुआ आपका हिन्दी प्रेम फिल्मी गीतों के कारण आरम्भ हुआ और हिन्दी कविता के साथ विकसित हो रहा है।

डॉ० सिल्विया मूदी—मैं यह तो नहीं कहूंगी कि मैं हिन्दी कविता लिखती हूं पर यह अवश्य कहूंगी कि लिखने का प्रयत्न कर रही हूँ, और इसमें मेरे गुरु प्रेम जनमेजय मेरी मदद कर रहे हैं।

प्रेम जनमेजय—चलिए, यह तो हुई भाषा के प्रति आपके प्रेम के आरम्भ की चर्चा। अब यह बताएं कि एक भाषाविद् के रूप में आप हिन्दी को स्पैनिश और फ्रेंच से कैसे भिन्न पाती हैं और इनमें क्या समानताएं पाती हैं?

डॉ० सिल्विया मूदी—मैं अंग्रेजी के अतिरिक्त फ्रेंच, इटैलियन और स्पैनिश जानती हूं, और थोड़ी-सी हिन्दी भी जानती हूँ। फ्रेंच, इटैलियन और स्पैनिश भाषाओं की उत्पत्ति लैटिन से हुई है और हिन्दी भारोपीय परिवार का आधार रखती है। हिन्दी की संरचना में क्रिया बाद में आती है जबकि अन्य भाषाओं में क्रिया ऑब्जैक्ट से पहले आती है। हिन्दी के संगठन ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया है। हिन्दी में व्यंजन बोलने के स्थान, घोष और अघोष के रूप बहुत अच्छी तरह से वर्गीकृत किए गए हैं। हिन्दी के स्वर और उसके लेखन में जो समानता है, जैसा आप बोलते हैं वैसा ही आप लिखते हैं और इसके कारण भाषा को सीखना बहुत आसान हो जाता है। कारकों का हिन्दी में भिन्न रूप से प्रयोग होता है और यह अंग्रेजी भाषी या स्पैनिश भाषी के लिए एक चुनौती भी प्रस्तुत करता है। हिन्दी में एक सरलता और सहजता है और यह उसका सौदर्य भी है। आप जानते ही हैं कि सरलता में ही स्वाभाविक सौंदर्य का वास होता है। परन्तु इसके सीखने में अनेक चुनौनिया भी हैं। अनेक सहायक क्रियाएं अर्थ को भिन्नता और सुन्दरता प्रदान करती हैं। अगर आप भाषा की इन विभिन्नताओं को पहचान जाएं और अभ्यास करें तो इसे सीखना सरल हो जाता है। मेरे लिए हिन्दी सीखना एक भिन्न इस अर्थ में भी है कि मैंने अधिकांश भाषाएं तब सीखीं जब मैं बच्ची थी और आज मैं हिन्दी तब सीख रही हूं जब मैंने अपने जीवन के अनेक वसन्त देख डाले हैं। (मुस्कराते हुए) कितने देखे हैं यह मैं आपको नहीं बताऊंगी। इतना बता सकती हूँ कि मैं पचास पार कर चुकी हूं। सेंटर के निदेशक के रूप में भी मेरी अनेक ज़िम्मेदारियां हैं जो मुझे नियमित रूप से भाषा सीखने में बाधा डालती हैं। किसी भाषा को सीखने के लिए केवल आपको कक्षा में अध्यापक द्वारा पढ़ाए गए पाठ पर ही ध्यान नहीं देना होता है अपितु जब आप कक्षा से बाहर जाते हैं तो आपकी ज़िम्मेदारी और बढ़ जाती है। आपको निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। एक विद्यार्थी के रूप में जब मुझे अभ्यास के लिए अपने व्यस्त समय में अवकाश नहीं मिलता है तो यह मुझमें निराशा पैदा करता है।

प्रेम जनमेजय—मेरे हिसाब से हमें गिलास को आधा खाली नहीं, आधा भरा देखना चाहिए और इस दृष्टिकोण से मैं कह सकता हूँ कि आपका हिन्दी सीखने का यह प्रयास

सराहनीय है। आप मात्र हिन्दी ही नहीं सीख रही हैं इसके प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभा रही हैं। मैंने पिछले तीन वर्षों में आपके हिन्दी प्रेम को बहुत नज़दीकी से देखा है। वेस्ट इंडीज़ विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित यह अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन इसी प्रेम का परिणाम है। पिछले दो वर्षों से मैंने इस विषय पर आपसे अनेक चर्चाएं की हैं। आपने मेरे सुझाव पर 'सेंटर' में हिन्दी के अनेक नए कार्यक्रम आरम्भ किए हैं। आप आरम्भ से इस सम्मेलन की योजना से जुड़ी हुई हैं। त्रिनिडाड में इससे पहले एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन और एक विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन हो चुका है। आप इस आयोजन को उससे कैसे भिन्न सझती हैं?

डॉ० सिल्विया मूदी—यह सम्मेलन पिछले दो सम्मेलनों से कैसे भिन्न है, यह तो मैं नहीं कह सकती, क्योंकि मैंने पिछले दोनों सम्मेलनों में हिस्सा नहीं लिया। मेरे लिए इस सम्मेलन का महत्व इस रूप में है कि मैं इससे एक आयोजक के रूप में जुड़ी हुई हूं। इससे पहले मैं एक प्रतिभागी के रूप में सम्मेलनों में जाती रही हूँ। यह मेरे लिए एक भिन्न अनुभव है और यह अनुभव मुझे आपके कारण मिला है। इस सम्मेलन के माध्यम से मैं हिन्दी संसार के बहुत निकट आई हूँ। मेरे हिसाब से यह सम्मेलन त्रिनिडाड में इस रूप से अलग है क्योंकि इसे हम हिन्दी भाषा के विदेशी भाषा के रूप में शिक्षण पर केंद्रित कर रहे हैं। इस सम्मेलन के माध्यम से त्रिनिडाड के हिन्दी अध्यापक और विद्यार्थी अनेक उन विद्वानों से मिल पाएंगें जिनके इस क्षेत्र में व्यापक अनुभव हैं। कैरेबियन में हिन्दी भाषा के प्रति लगाव है और यहां इसकी शिक्षण प्रक्रिया पर बात करना, चर्चा करना मुझे आवश्यक लगता है। त्रिनिडाड–वासी हिन्दी के विद्वानों से साक्षात् मिल पाएंगे तथा अपनी समस्याओं की चर्चा सीधे कर पाएंगें। हम शिक्षण की पद्धति, शिक्षण की सामग्री पर चर्चा कर पाएंगे तथा इस भाषा का अध्ययन हमें कहां ले जाएगा, इसे जान पाएंगे। मेरा सोचना है कि बहुत सारे लोग भाषा अध्ययन में रुचि रखते हैं पर नहीं जानते कि ये उन्हें कहां ले जाएगा। हम चाहते हैं कि इस सम्मेलन के माध्यम से हम त्रिनिडाड में ऐसी प्रक्रिया आरम्भ कर सकें, विश्वविद्यालय को ऐसा केंद्र बना सकें जो हिन्दी के विद्यार्थियों को इतना समर्थ बना सके कि वह यहां से भाषा सीखकर यहां के प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों में समुचित रूप से हिन्दी का शिक्षण कर सकें, विश्वविद्यालय में हिन्दी की उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकें और अध्ययन के लिए भारत जा सकें। इस तरह हम आत्मनिर्भर होंगे तथा केवल भारत से आने वाले विद्वानों पर निर्भर नहीं रहेंगे। मैं भारत से इस देश में आने वाले विद्वानों के विरोध में नहीं हूं, पर मैं चाहती हूं कि हम धीरे–धीरे इस दिशा में आत्मनिर्भर हों। इस देश में अनेक लोगों के पास हिन्दी का आधार है। आवश्यकता है उसे योजनाबद्ध तरीके से ठोस भूमि देने की, जिससे उसपर अपने विचारों का सुन्दर भवन तैयार किया जा सके।

□□□

हिन्दी के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है

● वीरेन्द्र गुप्त

त्रिनिडाड एवं टुबैगो में भारतीय उच्चायुक्त श्री वीरेन्द्र गुप्त से मिलना एक सुखद अनुभव है। अपनी जड़ों से जुड़े हुए वीरेन्द्र गुप्ता भाषा और साहित्य ही नहीं, भारतीय संस्कृति की भी गहरी समझ रखते हैं। अनेक विषयों में गहरी पैठ रखने वाले श्री वीरेन्द्र गुप्ता तर्क और वास्तविकता के धरातल पर स्वस्थ बहस करने को सदा तैयार रहते हैं। मितभाषी परन्तु किसी भी चर्चा के दौरान अपनी सार्थक एवं तार्किक टिप्पणयों से सामने वाले को मंत्रमुग्ध कर देने वाले इस युवा व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से भौतिक शास्त्र का अध्ययन करने वाले वीरेन्द्र गुप्त को उस भूमि के साहित्यिक संस्कार भी मिले हैं। हिन्दी के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त वस्तुनिष्ठ है। यही कारण है कि उनके त्रिनिडाड में आने से हिन्दी के प्रचार–प्रसार को बल मिल रहा है। त्रिनिडाड में अन्तर्राष्टीय हिन्दी सम्मेलन का आयोजन उनके सहयोग का परिणाम है। आवश्यक समझा गया कि 'गगनांचल' के पाठकों के लिए हिन्दी से जुड़े सवालों और कैरेबियन में उसके परिदृश्य की जानकारी देने के लिए महामहिम से बातचीत की जाए और इसके लिए 'गगनांचल' ने वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय में अतिथि आचार्य प्रेम जनमेजय को जिम्मेवारी सौंपी।

प्रेम जनमेजय—आप अनेक वर्षों से भारतीय विदेश सेवा में हैं और इस सेवा में अधिकांशतः अंग्रेजी भाषा में काम होता है। आपका हिन्दी के बारे में क्या दृष्टिकोण है?

वीरेन्द्र गुप्त—हिन्दी का हम भारतीयों के जीवन में एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यह हमारे रोज़मर्रा के जीवन से और हमारी संस्कृति से जुड़ी हुई है। चाहे हम अपने देश में

अपनी पढ़ाई हिन्दी माध्यम से, करें या अंग्रेजी माध्यम से, और कामकाज की भाषा भी चाहे अंग्रेज़ी रहे, परन्तु हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी से हिन्दी बहुत ही नज़दीकी सम्बन्ध रखती है। परिवार में आपसी बातचीत में हम इसी का प्रयोग करते हैं और अपनी भाषा ही वह एक चीज़ है जो हम लोगों को और विशेष रूप से उन भारतीयों को जो पिछले अनेक बरसों से विदेशों में हैं, जोड़े रखती है। विदेशों में जब हम अपने त्योहार मनाते हैं, पूजा–पाठ करते हैं या आपस में बातचीत करते हैं तो अपनी मातृभाषा में ही करते हैं। अब जैसे हमारा परिवार है, हम लोग बहुत सालों से भारत से निकले हुए है, पर हम घर में आपस में हिन्दी में ही बातचीत करते हैं।

प्रेम जनमेजय—इसी से जुड़ता हुआ सवाल है कि आप अनेक देशों में उच्चपद पर रहे हैं और आपको व्यापक अनुभव है वहाँ की संस्कृति और भाषा का। उन देशों में और त्रिनिडाड में आप माहौल को कैसे भिन्न पाते हैं?

वीरेन्द्र गुप्त—अधिकतर देशों में जहाँ मैं रहा हूँ, वहाँ मैंने देखा है हिन्दी का प्रयोग भारत से आए हुए लोग ही अधिकांशतः करते हैं। अनेक प्रवासी भारतीय व्यवहार में कम करते हैं परन्तु अपने सांस्कृतिक और धार्मिक अनुष्ठानों में वो इसका प्रयोग करते हैं। त्रिनिडाड में स्थिति भिन्न इस रूप में है कि यहाँ हिन्दी भाषा के प्रति लगाव भारतीय प्रवासियों में ही नहीं, भारतीय मूल के लोग भी, जिनकी जनसंख्या पचास प्रतिशत के लगभग है, विद्यमान है। यहाँ हिन्दी का माहौल बहुत ही रचनात्मक और भाषा के प्रति लगाव वाला है। इतने सारे भारतीय मूल के तथा भारतीय प्रवासी यहाँ हैं कि उनमें हिन्दी का प्रयोग बहुत अधिक है। तो यहाँ कोई दस बीस हज़ार नहीं है अपितु 6-7 लाख लोग ऐसे हैं जो हिन्दी से अपना जुड़ाव महसूस करते हैं। यहाँ भारतीय मूल को लोग ऐसे क्षेत्र से आए जहाँ उनकी मातृभाषा हिन्दी थी परन्तु अपने जीवनयापन के सवाल में ऐसे उलझ गए कि अपनी मातृभाषा से सम्पर्क छूट गया। पर अब आप देखते हैं हिन्दी के साथ छूटा हुआ सम्पर्क जोड़ने के लिए प्रयत्नशील हैं। भारतीय संस्कृति के प्रति इनकी जागरूकता बढ़ रही है और जैसे–जैसे यह जागरूकता बढ़ रही है, हिन्दी से उनका जुड़ाव बढ़ता जा रहा है। अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रमों में हिन्दी के गानों को गाते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों में हिन्दी का यथासम्भव प्रयोग करते हैं। तो हिन्दी के प्रति, संस्कृति के प्रति ये जो रुचाव और रुझान जो पिछले पाँच–छह वर्षों में बहुत बढ़ा है वो यहाँ के माहौल में हिन्दी को एक नये रूप में प्रस्तुत कर रहा है। यहाँ के लोगों मे अपनी अभिन्न संस्कृति को जीवित रखने, उससे जुड़ने का एक आत्मविश्वास जागृत हुआ है।

***प्रेम जनमेजय**—आपका कहना है कि यहाँ हिन्दी मात्र एक भाषा नहीं है इनकी संस्कृति का एक हिस्सा और इनकी पहचान का प्रतीक है।*

वीरेन्द्र गुप्त—आप बिल्कुल सही कह रहे हैं। आपने भी देखा है कि यहाँ अधिकांश लोग फिल्मी गानों को समझते नहीं हैं परन्तु उनको बहुत प्यार से गाते हैं। अपने कार्यक्रमों

में हिन्दी का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहते हैं। कार्यक्रमों में उपस्थित लोग चाहे हिन्दी को समझते नहीं हैं पर घंटों उसको सुनते रहते हैं। मेरे विचार से इसका कारण केवल ये नहीं है कि वो भाषा से प्यार करते हैं अपितु वो लोग चाहते हैं कि नयी पीढ़ी भी इस संस्कार को ग्रहण करे। अपनी सांस्कृतिक धरोहर से ये लोग बेहतर लाभ उठाना चाहते हैं। इसलिए जागरूकता दिनों-दिन बढ़ रही है।

प्रेम जनमेजय—जैसा कि अभी आपने हिन्दी फिल्म संगीत के प्रति यहाँ के लोगों में अतिरिक्त रुचि की चर्चा की और आप जानते ही हैं कि यहाँ चार-पॉच एफ०एम० स्टेशन हैं जो फिल्म संगीत को प्रसारित करते हैं और लोग यहाँ बड़ी रुचि से बिना समझे हुए उनको सुनते हैं। आप जानते ही हैं कि भारत में फिल्म संगीत को अधिक अच्छी दृष्टि से नहीं देखते हैं। पर मेरा अनुभव है और मैंने प्रयोग भी किया है कि इन गानों के माध्यम से हिन्दी सिखाई जा सकती है। ऐसे प्रयोग यहाँ पहले भी हुए हैं। यदि ये लोग गानों को गा सकते हैं तो इसका अर्थ हुआ कि वो उन शब्दों को जानते हैं, उनका उच्चारण जानते है, बस उन्हें उन शब्दों के अर्थ ही बताने हैं। फिल्म संगीत यहाँ हिन्दी के प्रचार-प्रसार में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। तो क्या आपको लगता है कि यहाँ हिन्दी के शिक्षण में इस माध्यम का और प्रयोग किया जा सकता है?

वीरेन्द्र गुप्त—बिल्कुल, इस माध्यम का प्रयोग किया जा सकता है। मैं जानता हूँ कि भारत में इसको तुच्छ माध्यम माना जाता है। पर आप देखें जब से हमारा देश स्वतंत्र हुआ है तब से लगातार हिन्दी के प्रति लोगों का जुड़ाव बढ़ रहा है और इसके बोलने वालों की संख्या बढ़ रही है और इसका कारण केवल सरकारी प्रयास नहीं हैं। मेरे हिसाब से हिन्दुस्तान और उसके बाहर हिन्दी को जनसामान्य तक पहुंचाने और उसके प्रचार-प्रसार में हिन्दी फिल्मों का अभूतपूर्व योगदान है। हमें हिन्दी फिल्मों के इस योगदान को मानना चाहिए। वो रोज़मर्रा के चीज़ों से लोगों को जोड़ती है और उसके प्रति लोगों में रुचि जगाती है। जब तक आप में रुचि नहीं जागेगी आप भाषा को नहीं सीखेंगे। मैं केवल त्रिनिडाड की ही बात नहीं कर रहा हूँ अपितु अनेक देशों में हिन्दी फिल्में इस दिशा में अपनी भूमिका निभा रही हैं। जैसे यहाँ आने से पहले मैं तंजानिया में था, वहाँ गुजराती समुदाय के अनेक लोग रहते हैं, वो गुजराती तो बोलते हैं परन्तु हिन्दी फिल्मी संगीत से अतिरिक्त लगाव रखते हैं। और त्रिनिडाड में भी हम फिल्मों की भूमिका देख रहे हैं। इसलिए हमने अपने उच्चायोग और महात्मा गांधी सांस्कृतिक केंद्र ने जो कार्यक्रम चलाए हुए हैं, वहाँ इसका प्रयोग करते हैं। हम चाहते हैं कि हिन्दी फिल्मों के प्रति रुचि का प्रयोग करके हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया जाए।

प्रेम जनमेजय—भारतीय उच्चायोग त्रिनिडाड और टुबैगो में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। अपने सीमित साधनों में हिन्दी से जुड़े अनेक कार्यक्रमों को आरम्भ किया गया है। पिछले तीन वर्षों मे सात कवि सम्मेलनों का आयोजन हुआ जिसमें यहां के स्थानीय कवियों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। अनेक हिन्दी प्रेमियों की

साहित्य–लेखन के प्रति रुचि बढ़ी है। भारतीय मूल के ही नहीं, अफ्रीकी मूल के हिन्दी प्रेमी भी कविता लिखने लगे हैं। इसके अतिरिक्त बातचीत सभा जैसे कार्यक्रमों के अतिरिक्त हिन्दी का शिक्षण आदि ऐसे अनेक कार्यक्रम हैं जो त्रिनिडाड हिन्दी प्रेमियों की भाषा और साहित्य सम्बन्धी भूख को ताप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पहले केवल भारतीय उच्चायोग में हिन्दी तीन स्तरों तक पढ़ाई जाती थी, परन्तु यहां के हिन्दी प्रमियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अब दीवाली नगर और सैन फैर्नांडो में भी हिन्दी की कक्षाएं चल रही हैं। इन कक्षाओं के अध्यापन में आप स्थानीय अध्यापकों का भी सहयोग ले रहे हैं। भारतीय उच्चायोग हिन्दी निधि द्वारा प्रकाशित होनी वाली पत्रिका 'हिन्दी निधि स्वर' के प्रकाशन में भी आर्थिक सहयोग कर रहा है और त्रिनिडाड में 17 से 19 मई तक आयोजित हुए अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा चुका है। आपको क्या लगता है कि यह आयोजन त्रिनिडाड में हिन्दी को कोई निश्चित दिशा दे पाएगा। त्रिनिडाड में हिन्दी का यह परिदृश्य बहुत उत्साहवर्धक है। इस संदर्भ में आपकी क्या टिप्पणी है तथा भावी योजनाएं क्या हैं?

वीरेन्द्र गुप्त—हिन्दी के मामले में त्रिनिडाड अन्य देशों से कुछ अलग है। वैसे तो हम अनेक देशों में हिन्दी के प्रचार–प्रसार के लिए अनेक काम करते हैं और करना भी चाहिए, परन्तु त्रिनिडाड मुझे अलग लगता है। यहाँ हिन्दी के प्रति रुचि लोगों के मन में है। यहां के लोग हिन्दी सीखना चाहते हैं। जैसे और देशों में होता है, यहाँ भी हम हिन्दी की कक्षाएं चलाते थे पर उनकी मांग यहां बहुत तेज़ी से बढ़ रही है। मैं जहां भी जाता हूँ लोग इस संदर्भ में अपनी मांग रखते हैं। यहां हिन्दी सीखने और सिखाने के प्रति अत्यधिक उत्साह है। इसके लिए हम स्थानीय लोगों का भी सहयोग ले रहे हैं। हम चाहते हैं कि चार–पांच नहीं चालीस–पचास कक्षाएँ भारतीय उच्चायोग के सहयोग से चलें। हिन्दी के प्रचार–प्रसार के सहयोग में हमारा हिस्सा तो बहुत छोटा हिस्सा है, यहाँ की अनेक गैरसरकारी संस्थाएँ इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण काम कर रही हैं। सनातन धर्म महासभा के चालीस–पचास के लगभग स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई चल रही है और वो लोग सरकार से बातचीत भी कर रहे हैं कि व्यवस्थाजनक तरीके से यह कार्यक्रम चले जिससे हिन्दी–शिक्षण को एक फॉर्मल; नियमित रूप दिया जा सके। इसके अतिरिक्त वेस्टइंडीज विश्वविद्यालय भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है, और विशविद्यालय के नेतृत्व में 17 से 19 मई तक आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन इस दिशा में एक महत्वपूर्ण क़दम है। त्रिनिडाड में साहित्य के गहरे शिक्षण की उतनी आवश्यकता नहीं है अपितु ज़रूरत है प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर हिन्दी भाषा के समुचित शिक्षण की। इस सम्मेलन का केन्द्र बिन्दु ही यह है कि कैरेबियन देशों में और विशेष रूप से त्रिनिडाड में हिन्दी शिक्षण के लिए क्या कदम उठाए जाएं। इस संदर्भ में हमारी क्या एप्रोच होनी चाहिए। आप जानते ही हैं कि हिन्दी–शिक्षण के अनेक माध्यम हैं, परन्तु सम्मेलन में इस बात पर चर्चा की जाएगी कि जो सांस्कृतिक माध्यम हैं,

रोज़मर्रा की ज़िंदगी में हिन्दी का जो प्रयोग है, उस सब का इस्तेमाल करते हुए हम कैसे सरल माध्यमों से हिन्दी का शिक्षण कर सकते हैं। तो यहाँ हिन्दी–शिक्षण के लिए बहुत ही अपरम्परागत तरीकों का इस्तेमाल करना है न कि नियमित तरीकों का। यहाँ की जो सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, यहाँ की जो आवश्यकताएँ है, उनके आधार पर, उनके परिप्रेक्ष्य में हिन्दी का शिक्षण होना चाहिए। यह सम्मेलन इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर आयोजित किया जा रहा है जिसमें मॉरिशस, हंगरी, यू०के०, अमेरिका, भारत, हॉलैंड, सूरीनाम, गुयाना समेत अनेक कैरेबियन देशों से पचास के लगभग हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान तो आये ही त्रिनिडाड से भी अनेक हिन्दी प्रेमियों ने इसमें हिस्सा लिया। एक और ख़ास बात जिसका मैं ज़िक्र करना चाहता हूँ कि त्रिनिडाड और टुबैगो की न केवल पहली सरकार अपितु वर्तमान सरकार ने हिन्दी के प्रचार–प्रसार में बहुत काम किए हैं, सहयोग दिया है और इस आयोजन में उनका उचित सहयोग मिल रहा है। प्रधानमंत्री पैट्रिक मैनिंग ने स्वयं इस आयोजन में पूरा सहयोग दिया और सम्मेलन का उद्घाटन किया।

प्रेम जनमेजय—अभी आपने सम्मेलन में चर्चा किए जाने वाले केन्द्र बिंदुओं की बात कही और मुझे याद है कि हमारी समिति की एक बैठक में आपने सुझाव दिया था कि सम्मेलन के दौरान यहाँ के हिन्दी अध्यापकों एवं विद्यार्थियों के लिए एक कार्यशाला का भी आयोजन किया जाए। इस कार्यशाला का आपके मस्तिष्क में क्या प्रारूप है?

वीरेन्द्र गुप्त—क्योंकि हमारा सम्मेलन इस बात पर केंद्रित है कि त्रिनिडाड में हिन्दी के विदेशी भाषा के रूप में शिक्षण को एक दिशा दे सकें, इसलिए अनेक पहलुओं के विशेषज्ञ आपस में चर्चा तो करें पर साथ ही यहां के हिन्दी अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए एक ऐसे सत्र का आयोजन किया जाए जिसमें हम सीधे उनसे जुड़ सकें, उनकी आवश्यकताओं को समझ सकें। नीति–निर्धारण में इन लोगों की भूमिका सीधे–सीधे नहीं, पर हम उनसे सुनना चाहेंगे कि उनके सुझाव क्या है और इस विषय पर वे लोग क्या सोचते हैं। आप कोई भी नीति शून्य में नहीं बना सकते, उसके लिए उन लोगों का वैचारिक योगदान भी आवश्यक है जो हिन्दी के शिक्षण से जुड़े हुए हैं। उनके अनुभव हमारे लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं। बहुत सारे लोग आपके माध्यम से इस सबसे जुड़े हुए हैं परन्तु यह सम्मेलन और लोगों को इससे जोड़ेगा और उनके विचारों से लाभ उठाएगा। हम यह चाहते हैं कि पूरे त्रिनिडाड में जो लोग औपचारिक या अनौपचारिक रूप से हिन्दी शिक्षण से जुड़े हुए हैं, इस कार्यशाला के माध्यम से उनके विचारों से लाभान्वित हों। हिन्दी के संदर्भ में कोई कार्यक्रम तैयार करने में उनके सुझावों को ध्यान में रखा जाए।

प्रेम जनमेजय—अब यह बताएं कि यह देश कैसा लगा?

वीरेन्द्र गुप्त—त्रिनिडाड और टुबैगो कैरेबियन का एक खूबसूरत देश है। पूरा ही कैरेबियन एक खूबसूरत जगह है। इसीलिए खूबसूरती इस नज़रिए से और बढ़ जाती है कि यहाँ भारतीय मूल के लोगों की विशाल जनसंख्या है। यहाँ ऐसा लगता ही नहीं कि आप कहीं

भारत से दूर हज़ारों मील दूर बैठे हुए हैं। इतने अधिक सांस्कृतिक कार्यक्रम यहां पर होते हैं, संगीत के कार्यक्रम यहाँ पर होते हैं और लोग यहाँ पर इतने उत्साह से भाग लेते हैं। भारतीय संगीत, नृत्य और भारतीय भोजन के प्रति यहाँ लोगों में पर्याप्त रुचि है। यहाँ के लोगों में भारत के साथ जो जुड़ाव है उसको देखकर बहुत ही अच्छा लगता है। यहाँ आकर लगता ही नहीं कि हम विदेश में बैठे हुए हैं। ये बड़ी खास बात है कि यहाँ आप जहाँ भी जाएं लोग बड़े सम्मानजनक एवं आत्मीय रूप से भारतीय दूतावास से जुड़े लोगों का स्वागत करते हैं, उनसे मिलते हैं। यह मेरे साथ, मेरे राजनयिक जीवन में, पहली बार हो रहा है कि जब लोग आपको राजनयिक कम और अपना हिस्सा अधिक समझते हों। हम अनेक कार्यक्रमों में जाते हैं और वहाँ जाकर एक अपनापन महसूस होता है और इन सब कारणों से यह ख़ास जगह ही लगती है।

प्रेम जनमेजय—आपने भारतीय मूल के त्रिनिडाडवासियों के भारतीय संस्कृति, संगीत और भाषा प्रेम की चर्चा की और मैंने देखा कि मानसिक रूप से जुड़े ये त्रिनिडाडवासी भारतीय पहनावे और खानपान के प्रति भी अतिरिक्त लगाव रखते हैं। इस लगाव के कारण क्या आपको लगता है कि व्यापार की दृष्टि से इस दिशा में सम्भावनाएं हैं? क्या इस दिशा में उच्चायोग कुछ प्रयास कर रहा है?

वीरेन्द्र गुप्त—आपने सही कहा, व्यापार की यहाँ बहुत सम्भावनाएँ हैं और इस दिशा में इससे पहले कोई अधिक प्रयास नहीं किए गए हैं। छह–सात महीने से, जब से मैं यहाँ आया हूँ। चर्चा कर रहा हूँ। अनेक व्यापारियों से मिला हूँ, प्रशासनिक अधिकारियों से मिला हूँ और सम्बन्धित मंत्री जी से मिला हूँ और सभी का मानना है कि इस क्षेत्र में बहुत सम्भवनाएं हैं। हमारा जो व्यापारी वर्ग भारत में है और जो हमारी सरकार है, वो भी मानती है कि इस दिशा में अनेक प्रयासों की जरूरत है। इस दिशा में हमने अनेक कार्यक्रम आरम्भ किए हैं, प्रतिनिधिमंडल आने–जाने आरम्भ हो गए हैं, जानकारियों का आदान–प्रदान हो रहा है तथा आपसी व्यापार के क्षेत्र तलाशे जा रहे हैं। अभी कुछ दिन पहले यहाँ से सात व्यापारी भारत गए थे और उन्होंने आपसी व्यापार पर महत्वपूर्ण निर्णय लिये हैं। यह पहली बार हुआ है कि औपचारिक रूप से यहाँ का व्यापारी वर्ग भारत गया और इससे यह भी पता चलता है कि इस दिशा में सक्रिय प्रयास आरम्भ हो गए हैं। हमने लोगों को बताया है कि खानपान, पहनावे आदि का व्यापार तो होना चाहिए और हो ही रहा है, पर इसके अतिरिक्त भी भारत अनेक गुणात्मक चीज़ों का विक्रेता बन गया है। मैं यहाँ दवाइयों का ख़ास रूप से ज़िक्र करना चाहूँगा। भारत की दवाइयां अमेरिका में जाती हैं, यूरोप में जाती हैं। मैंने यहाँ लोगों को बताया है कि अच्छी भारतीय दवाइयां अगर यहाँ सस्ते में मिल सकती हैं तो इसमें दोनों देशों को लाभ है। मैंने यहाँ लोगों को बताया है कि अच्छी भारतीय दवाइयाँ ये लोग अन्य देशों से महंगे दाम देकर खरीदते हैं, वही इन्हें भारत से, वैसी ही क्वालिटी को वो लोग भारत से मंगा सकते हैं। तो इस क्षेत्र में पर्याप्त रुचि जाग रही है और देखेंगे कि अगले दो–तीन वर्षों में हमारे आपसी व्यापार मे आशानुकूल प्रगति होगी।

प्रेम जनमेजय—जैसा कि आपने कहा कि इस देश में भारतीय वस्तुओं के प्रति ही नहीं हिन्दी भाषा के प्रति भी भारतीय मूल के लोगों में ही नहीं, अन्य लोगों में भी रुचि जाग रही हैं। मैंने भी अपने साढ़े तीन साल के प्रवास में देखा है कि वह चाहे वेस्ट इंडीज़ विश्वविद्यालय हो अथवा भारतीय उच्चायोग, हिन्दी और भारतीय संस्कृति के प्रति विभिन्न वर्गों में विशेष रुचि है। मेरे ही अफ्रीकी मूल के अमीलिया, शिर्लाना जैसे छात्र न केवल हिन्दी सीख रहे हैं अपितु साहित्य–लेखन में भी रुचि ले रहे हैं तथा कविताएँ लिख रहे हैं। तो यह रुचि एक वर्ग तक सीमित नहीं है।

वीरेन्द्र गुप्त—सही कहा आपने। आप देखें सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर यहाँ लोगों में पर्याप्त मेलमिलाप है, एक–दूसरे को समझने की समझ है। अब कार्निवाल को ही लें, जो अफ्रीकी मूल के लोगों के साथ आरम्भ हुआ, पर अब इसमें अनेक भारतीय मूल के लोग उत्सापूर्वक भाग लेते हैं। इसी प्रकार यहाँ जो दीवाली के कार्यक्रम होते हैं, दूसरे उत्सव मनाए जाते हैं या जो सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं उनमें अन्य वर्गों की बड़ी संख्या होती है तो इस तरह भारतीय वर्गों के लोग भी बढ़–चढ़कर हिस्सा लेते हैं। यह बहुत अच्छी चीज़ है। और जैसा कि आपने कहा भी हमारे द्वारा आयोजित हिन्दी कक्षाओं में अफ्रीकी मूल और चीनी मूल के छात्र भी पढ़ने आते हैं। इस देश को रेनबों कंट्री, इंद्रधनुषी देश, कहते हैं और ये सब लोग इसी मानसिकता के कारण ऐसी चीजो से जुड़ते हैं। सब तरीके के धर्म और सब तरीके के लोग हैं यहाँ और सब को एक–दूसरे में रुचि है। अफ्रीकी मूल के अनेक लोग भारतीय भोजन पसन्द करते हैं।

प्रेम जनमेजय—भारतीय छोले–भटूरे जो डब्लस कहलाते हैं, वो तो यहाँ सब का प्रिय नाश्ता है।

वीरेन्द्र गुप्त—जी हाँ, मेरे हिसाब से यहाँ खानों में बांटकर त्रिनिडाड को नहीं देखा जा सकता है अपितु अगर त्रिनिडाड को समझना है तो उसे सम्पूर्णता में देखना होगा।

□□□

त्रिनिडाड से कुछ कविताएं

त्रिनिडाड की धरती से लिखी गई ये कविताएँ सम्भवतः पहली बार त्रिनिडाड का हिन्दी साहित्य में द्वार खटखटा रही हैं। ये नौसिखियों की कविताएं हैं, इन्हें किसी भारी भरकम आलोचक की नहीं, सहृदय पाठक के मल्हम की आवश्कता है।

● डॉ० सिल्विया मूदी की दो कविताएं

मार्च का महीना

मार्च का महीना
सूखा और खाली
सुनसान समुद्री हवा
आकाश में एक टुकड़ा सफेद बादल
'चालीसा' में डूबा मेरा एकान्त दिल।

बीच मैदान के
खड़ा है एक गुलाबी पेड़
मेरी प्रतीक्षा में शायद
ईस्टर, मेरा गुलाबी पेड़
मैं प्रतीक्षा में।

दो

मैं कल खुश थी
आज मेरा दिल दुख से भरा है
कल जो पेड़ सामने खड़ा था
आज नहीं खड़ा है।

क्षमा नहीं करेगा पिता!

मूल : राजनदेइ रामकिसून चुन
भावानुवाद : प्रेम जनमेजय

□□□

बूढ़े की बूढ़ी आशा

रोहिणी, ओ बेटी रोहिणी!
उत्तर में गूंज उठी
बस गूंगी प्रतिध्वनि
और
घिर आए रात के बादल
बंद ओठों से, चुपचाप।

बसेरे में शान्त बैठे हैं पक्षी
सुनसान चुप्पी को तोड़ रही है, बस
सांप के मुँह में फंसे
नन्हें मेंढ़क की दबी चीख़।
सुनसान अंधेरी गलियों में
कभी दाएं, कभी बाएं
भागती हुई दो बूढ़ी आंखें
ढूंढ़ रही हैं अपनी जवान बेटी को।
तभी पुल से
इस सुनसान चुप्पी को चीरती
गूंज उठी एक देहाती आवाज़
'वह चली गई
साथ वाले गांव के सेठी के बेटे के साथ

तुम्हारी बेटी भाग गई।
अपनी झोपड़ी में लौट आया है बूढ़ा
सर झुकाए खड़ा है चुपचाप
जैसे तेज़ हवा से शासित
कोई कमज़ोर टहनी।

टप! टप!
दो बूंदें बूढ़ी आंखों से
टपकीं उस भरी गगरी में
जो लाई थी उसकी बेटी
टप! टप! करते
सूख गए अब आंसू।
अपने प्रेमी के अथाह प्यार में डूबी
बेटी ने
शर्म से गर्दन झुका दी अपने बाप की
उस बाप की
जो ईंधन की तरह जला उम्र भर
हां उसी बाप की
जो आज भी पछतावे की राख से
अपनी बेटी के माथे को गन्दा नहीं करेगा।

रोहिणी, बूढ़े की बूढ़ी आशा
छुप गई है सुनसान मकई के बीच कहीं
शायद छुपी रहेगी तब तक
जब तक
देख नहीं लेगी उसकी उठती अरथी।

मकई के झुके पत्ते
आंसुओं से पिरो गए
एक शब्दालंकृत माला
उसके लिए।

● नीलिमा आशा

अगर ऐसा होता

पवन पे सवार हम, गगन को चीरते
सरहदों के परे हम, उस मिट्टी पे उतरते।

झिलमिल सितारें तले, प्यारा – सा आँगन होता
इंद्रधनुष के रंगों में पले, प्यार ही प्यार होता।

सूर्य की किरणें जहाँ छूकर हमें जगातीं
रेत की गर्मी हमें, ठंडक पहुँचाती।

पर्वतों के शिखर पे, नीलिमा का बसेरा होता,
घनेरे बादलों का जहाँ, नामोनिशां न होता।

तराई के आगोश में, ये चाँदनी यों छिटकती
प्रीतम की बाहों में, वो दुल्हन यों सिमटती।

सूर्य ढल जाता मगर, साँझ से यह कह के
उजाला करूंगा सदा, राह पे जीवन के।

● आशा मोर

हिन्दी

हिन्दी लिखने बैठी, हिन्दी लिखनी न आई
आज फिर आँख भर आई।

अंग्रेजी पढ़ते–पढ़ाते, अंग्रेजी दिलो दिमाग़ पर छाई
आज फिर आँख भर आई।

अपरिचितों के शहर में, माँ की याद भुलाई
आज फिर आँख भर आई।

यह सब कैसे हुआ और कब, सोच फूटी रुलाई
आज फिर आँख भर आई।

● चेतराम लेखराज महाराज

सृष्टि

आसमान में बिखरे हुए तारे
मोतियों का समूह, रात का शृंगार
भौंरों की गुंजार करती पंक्तियां
और सुखद ठंडी, धीमी सुगन्धित बहती हवा।

चारों ओर शान्ति।
शान्त बहते सरोवर, सागर, नदी और नद।
वन में वृक्ष, सरोवर में फूल रहे कमल
मधुर गुंजार कर रहे भंवर
पक्षियों का मधुर कोलाहल।
कोयल, तोते पपीहे और चकोर
हाथी, बंदर, सिंह, हिरन और सूअर
सब विचरते हैं निर्भय।

सृष्टि तेरी इस मैत्रीपूर्ण अजातशत्रु शोभा का
वर्णन नहीं कर सकते हज़ारों कवि
तो भला मैं अकिंचन क्या कर सकता हूँ
मुझे क्षमा करें, मेरे पाठक !

□□□

सूरीनाम : भारतीय स्मृतियों का बसन्तजीवी देश

● प्रो० पुष्पिता

सूरीनाम से भेजी प्रोफेसर पुष्पिता की दो कविताएं 'गगनाञ्चल' के पाठक पिछले अंक में पढ़ चुके हैं। उन्होंने विशेष अनुरोध पर सूरीनाम की धरती का परिचय कराता यह लेख और वहां के परिवेश से प्रेरित चार कविताएं हमें प्रकाशनार्थ भेजी हैं। भारतीय मूल के लोगों की चेतना और वहां का वातावरण सजीव करता उनका आलेख सादर प्रस्तुत किया जा रहा है।

सूरीनाम देश में वर्ष भर ऋतुराज बसन्त के हर्ष का आनन्द अनुभव किया जा सकता है। प्रकृति की हरीतिमा आँखों को आलिंगनबद्ध कर लेती हैं आँखें समाने लगती हैं—प्रकृति की सौन्दर्य मंजूषा में। सूरीनाम देश प्राकृतिक सुषमा की सुगन्धित पुस्तक है। नैसर्गिकता का अविस्मरणीय धर्मग्रन्थ है। मैं सूरीनाम देश को 'सृष्टि सौन्दर्य का ऐश्वर्यशाली' देश मानती हूँ। कवि रवीन्द्रनाथ ने भारतवर्ष को 'महामानव समुद्र' कहा है। इसी के साथ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध निबन्ध 'अशोक के फूल' की कुछ पंक्तियाँ याद आती है—"मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था! शरीर जलकर राख हो गया और 'वामन पुराण' षष्ठ अध्याय की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी, वह स्थान रुक्म—मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ जो नाह—स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया। इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कोटि देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल—पुष्पों में परिवर्तित हो गया। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त मणियों का मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की निम्नतर कोटि बेला

बन गयी, स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं।" प्रकृति के सौन्दर्य की यह सच्चाई भारत के विशाल भूखण्ड के बाद सूरीनाम देश की वसुन्धरा में ही दिखायी देती है। इन्डोनेशिया में पवित्रता का प्रतीक माना जाने वाला 'बेला' पुष्प सूरीनाम में वर्ष भर लहलहाता रहता है। भारतवर्ष का राष्ट्रीय पुष्प 'कमल' यहाँ के कन्दाल (अंग्रेजी भाषा के केनाल का डच भाषान्तर) जो कि भारत भूमि से सन् 1873 में अरकाटियों (मनुष्य व्यापार के दलाल एजेंटों) के द्वारा बहला–फुसलाकर लाये गये भारतीयों के प्राणलेवा संघर्ष और मज़दूरी के बाद नहर के रूप में प्रकट हुई। उन्हीं नहरों में उनकी मजदूरी का प्रतीक बन कर खिल रहते हैं–नीले, गुलाबी और सफेद कमल पुष्प। सरोवर जीवी उपवन वाला देश है–सूरीनाम। भारतवर्ष का राष्ट्रीय फूल 'कमल' सूरीनाम का हृदय–पुष्प बनकर जहाँ–तहाँ खिला–खिलखिलाता रहता है और सूरीनाम देश को भारत की याद से भरता है।

घर–घर की वाटिका में पूजा–पुरोहिती के प्रतीक बने हुए आम, केला, नारियल और बाँस के वृक्ष देशवासियों के कल्याणार्थ आराधना में संलग्न दिखायी देते हैं। पूरा देश आम–पल्लवों के बंदनवार से वर्ष भर सुसज्जित रहता है। हिन्दुस्तानी (भारतीय मूल) घरों का शोभा और आस्था मूल्य यदि इन वृक्षों से प्रकट होता है तो ईसाई धर्मावलम्बियों के घरों में 'क्रिसमस ट्री' आशीष की मुद्रा में खड़ा हुआ शोभित है। रंगीन छोटे–छोटे फूलों से सजे घास की चादर ओढ़े फुटपाथ पर जगह–जगह नारियल के पंक्तिबद्ध खड़े हुए वृक्ष सूर्योपासना के निमित्त हर क्षण स्वयं को समर्पित करते हुए दिखायी देते है। बादाम पेड़ की छतरियां जगह–जगह लगी हुई है। सुपारी के पेड़ प्रकृति के पहरेदार बनकर खड़े हैं। सन्तरा (टेंगलो) मुसम्मी (परसीना) यहाँ के घर–घर में वर्ष भर फलों से लदे हुए शाखा–दर–शाखा हाथ बाँधे प्रतीक्षारत मिल जायेंगे। कपोतों के झुड के झुंड अपनी उड़ान में भारतीय प्रेम की याद दिलाते हैं। बहुरंगी तोते की टहक–भरी पुकार में भारत देश की बुलाहट की गूँज महसूस होती है। सूरीनाम देश की प्रकृति ईश्वराधना के लिए यज्ञ–अनुष्ठान–स्थली की तरह फूलों से सजी और फलों से समर्पित है। सूर्य के ताप से अगरबत्ती–सी सुलगती अपने ही फूलों के पराग से सुगन्धित महकती इस देश की धरती हर क्षण आत्मा में भक्ति का संगीत रचती है।

सागर–पुत्रों की तरह बादल अतलांतिक महासागर के वक्ष पर खिलन्दड़े बच्चों की तरह क्रीड़ा करते हुए हवाओं की हथेली थामकर आकाश में घूमते–घुमड़ते और गोताखोरी करते हुए दिन में कई बार सूरीनाम–धरती को नहलाते–धुलाते हुए पूजा–अर्चना के निमित्त हवन–यज्ञ के योग्य बनाकर पवित्र से पवित्रतर बनाने में याज्ञिकों की तरह लगे रहते हैं। वर्ष भर वर्षा का सुख जीने वाले सूरीनाम देश का मुखमण्डल सूर्य की भूमध्यरेखीय स्थिति के कारण सुनहरी धूपाभा से दमकता रहता है। अंतलांतिक महासागर में समा जाती है इस देश की सप्त महानदियाँ–सूरीनाम, कमोबेना, सरमक्का, नाइकेरी, मारोवेना, कोपनामा और

कोरान्तेन। सप्तसिन्धु की देह से सदेह हुआ है सूरीनाम देश। देश के नगरों के नाम नदियों के धारण नाम किये हुए खड़े हैं, जिससे अपनी प्राचीन सभ्यता के आधार–सूत्र का आभास मिलता है–नदियाँ ही नगरों की जननी है।

सूरीनाम मुख्यतः श्रीनाम का ही नामरूप है। लातिन अमेरिका के शीश पर मुकुट के एक रत्न की तरह चमकता हुआ सूरीनाम देश है। शेष रत्न है–फ्रेंच गयाना, ब्रिटिश गयाना, वेनजुयला, पेरू और चिले आदि। यह देश आँखों में बस जाता है। आँखें इस देश को आँकने लगती हैं। अंतलांतिक महासागर के तटौना देश की माटी–शंख, सीपी और मोटी रेत से बनी हुई "सबाना" नामधारी विशेष धरती का सृजन करती है। यहाँ के अनेकानेक देशों के प्रवासी नागरिक यदि नदियों और स्वीमिंग पूल में नहाते और रेत पर अपनी देह सुखाते हैं तो सूरीनाम देश की 'सबाना' मिट्टी नित्य वर्षा से अपनी देह धोती है और सूर्य के सुनहरे ताप से अपनी देह सुखाती है। इस देश के वास्तविक नागरिक यहाँ के वृक्ष, वनस्पति और फसल हैं। फूलों और फलों की घाटी का यह देश समुद्रतटीय है जिसके तट को हॉलैंड सरकार बाँध रही है। कुछ वर्ष पहले समुद्र महाराज नारकेरी नगर को उदरस्थ कर गये थे। नये बसे नगर की रक्षा के लिए समुद्र को बाँधने का प्रयत्न हो रहा है, लेकिन क्या कोई समुद्र को कभी बाँध सका है? मानव–मन का उमड़ता सागर जब कोई बंधन नहीं स्वीकार कर पाता है तो सागर तो सागर ऊपर से अतलांतिक महासागर। फिर भी मेरी शुभकामनायें हैं कामयाबी के लिए।

सप्ताहांत में यहाँ के नागरिक अपनी कारों में मोटरबोट जोड़कर नदियों के वक्ष पर फास्ट बोटिंग और तैराकी का आनन्द लेते हैं। पूरा वातावरण यहाँ का शुद्ध और पवित्र है। यहाँ के नागरिकों ने प्रकृति को प्रदूषित करने के दुःस्वप्न अभी नहीं पाले हैं। अमेरिकन, यूरोपीय और एशियन देशों के अमीरज़ादों का यह खुला हुआ खुशनुमा आरामगाह है। बहुराष्ट्रीय कम्पनी से बनी उपयोग की सभी सामग्री वातानुकूलित दुकानों में सजी–धरी है। जहाज, जीवन की दुनिया सजाने में रात दिन लगे रहते हैं। देश का प्राकृतिक वैभव मंत्रमुग्ध करने की सीमा तक मन को वशीभूत करता है। भारतवर्ष से सत्तरह हजार कि.मी. की दूरी पर बसे हुए सैंतीस प्रतिशत आबादी के मूल भारतीय प्रवासी अतलांतिक महासागर के तट पर अपनी अभिलाषाओं के वंशी डाले हुए अभी भी भारत की ओर लौट जाना चाहते हैं। भारत देश की मिट्टी से अपने माथे और मन का अभिषेक करना चाहते हैं। राजनीतिक अधिकार समानता, सामाजिक प्रतिष्ठा और यूरोपीय जीवन शैली का वैभव जीने के बावजूद ग़ुलामी के दंश की यंत्रणा आज भी हृदय में व्यथा की चिन्गारी की तरह चटख़ती रहती है। पुरखों को कुली और कुत्ता कहे जाने की याद भर से गला रुंध जाता है। आँखें भर आती है। धड़कने भरभरा जाती हैं। फिर भी, अमेरिकन, यूरोपीय, चाइनीज़ और इंडोनेशियन के बीच भारतीय प्रवासियों के तन–मन की अंजुलि भारतीय संस्कृति को सीखने–जीने के लिए खुली हुई है। मॉरीशस, फिजी, डरबन की तरह सूरीनाम देश में बस रहे प्रवासी भारतीय

मन्दिरों में भगवान और घरों में इन्सान बचाने में प्राणपण से लगे हुए दिखायी देते हैं। हर तीसरे भारतीय घर की चौखट के बगल में श्यामपट लगा हुआ मिल जाता है, जहाँ वे अपने पड़ोसियों को हिन्दी पढ़ाते है और अपनी हिन्दुस्तानी संस्कृति का प्रचार करते हैं। सूरीनाम में रहने वाले भारतीय अपने को आज भी हिन्दुस्तानी के रूप में ही अपनी पहचान करते–कराते हैं क्योंकि उनके पुरखों को जब हिन्दुस्तान छोड़ने को मजबूर होना पड़ा था तब देश हिन्दुस्तान के नाम से जाना जाता था, वे हिन्दुस्तानी के रूप में पहचाने जाते थे और आज भी वे गर्व से स्वयं को हिन्दुस्तानी कहते हैं। जबकि हम हिंदुस्तानी अपने को भारतीय मानने लगे हैं और अपने घरों की चारदीवारी के भीतर यज्ञ–हवन और पर्वों पर कई–कई लाल वर्ण की आकाश चुम्बी ध्वजाएँ गाड़ते हैं जिन्हें हिन्दू–झंडी कहते हैं।

विश्व के कई देशों के रंगों, जातियों और धर्मों वाले नागरिकों से रचा हुआ देश है–सूरीनाम। अनेक रंगों, विविध जातियों और विभिन्न बोलियों वाली चिड़ियों से आकाश गूँजता रहता है। प्रकृति ने अपना सर्वस्व इस देश की ज़मीन को समर्पित किया है। यहाँ की वसुन्धरा यदि बसन्तजीवी है तो वसुधा का गर्भ स्वर्णजनक है। बाक्साईट और आल्मुनियम की यहाँ अनेक ख़दाने हैं। एक समय में भारत को गुलाम बनाने वाले देशों ने विश्व में भारत की सोने की चिड़िया के रूप में पहचाना करायी थी। सूरीनाम सचमुच 'सोन चिरैया' देश हे। 'सोन चिरैया' कहलाये जाने वाले भारतीय देश के महेनतकश मजदूरों को अरकठिया एजेंट कुछ को बहला–फुसलाकर और कुछ को धोखे में रखकर। हमारे पुरखों ने जहाज से वापस बाहर आने की इच्छा ज़ाहिर की तो जहाज बंगाल की खाड़ी के बीच था। चारों तरफ पानी था। जीवन खाई में गिर चुका था। पहली बार लालारूख ज़हाज़ से कमोबेना तट पर, जिसे उस समय क़िला और आज न्यू एम्सटर्डम के नाम से जानते हैं–लाये गये। इसके बाद सूरीनाम तट पर बने हुए 'डिपो' में कुली नाम से ठस भरकर रखे गये। स्मृति के रूप में 'बाबा–भाई' के नाम से 'मूर्ति मोनामेन्ट' उनकी आत्मायंत्रणा का प्रतीक स्वरूप है।

अपने कोख से स्वर्ण को जन्म देने वाली और अपने देह से वसन्त का सौन्दर्य जन्मने वाली धरती को यहाँ के भारतीय प्रवासी 'श्रीरामधाम' कहते हैं। काशी की रामनगर की रामलीला की तरह माहभर यहाँ खुले मैदान में रामलीला का भव्य मंचन होता है। भारत से आये विभिन्न जाति–धर्म के लोग अपने को सूर्यवंशी भी मानते हैं। सूरीनाम नाम में अपने वंश की अनुगूँज अनुभव करते हैं। यहाँ की धरती से मिलने वाले स्वर्ण खज़ाने को देखकर इसे 'स्वर्णनाम' और सोनानाम कहने की कामना होती है। सूरीनाम की बायीं और दायीं बाँह की तरह बसे हुए गयानी देशों की धरती में हीरा की खदाने हैं। मुझे लगता है यहाँ के देशवासियों को भारत में गाये जाने वाले गीत "मेरे देश की धरती सोना उगले, उगले हीरा मोती' को हर्षित कंठ से गाना–गुनगुनाना चाहिए। ज़मीन से सोना उगाहने वाले खदानी मजदूरों के साथ यहाँ का सोना चुराने वाले पक्षी भी लगे रहते हैं, जो 'बाज़ पक्षी' की तरह बड़े आकार में होता है जिसे डच भाषा में 'पोयसी' कहते हैं। इसके सिर पर स्वर्ण मुकुट है।

स्त्रियाँ अपने लॉकेट में इसकी तस्वीर गढ़वाती है और गले में धारण करने को शुभ और सौभाग्य का प्रतीक मानती हैं।

आकाशी अंतरिक्ष में यदि सूरज, चाँद और सितारे चकाचौंध का मोहक संसार रचते हैं तो फायलॉबी (प्यार की आग), वेकेरान फ्लावर, ब्राजीलियन लिली, सूरजमुखी, कमल, बेला, अणहुल, नोगनबेलिया जैसे फूलों; अनेकों फलों व्हाइट गोल्ड (गन्ना) गोल्डेन राइस (चावल) जैसी फसलों और हरियाली से भरीपूरी धरती पर बड़े आकार के जुगनू अद्‌भुत आँखमिचौनी का मोहक संसार रचते हैं। घास के भीतर छुपे रहने वाले मेघा (मेढ़क) यहाँ सीटियों की ध्वनि में बोलते हैं ओर जुगनुओं के साथ लुकाछिपी का खेल खेलते हैं। मौका मिल जाये तो घरों के भीतर छिपकलियों की तरह छतों के कोनों में लटके हुए मेढ़क दिख जाते हैं।

सूरीनाम देश की किशोर, चंचल और खिलाड़ी हवाओं में खिला बसन्त देश को पाल रहा है। दिन में कई बार बरसकर सूरीनामी बादल मेरी सावन मेघी प्यास को बुझाने में लगे रहते हैं। यहाँ की धरती अपने फलों से मुझे पोष रही है और फूल मेरे सौन्दर्य–बोध को सींच रहे हैं, जिनकी बानगी साथ की कुछ कविताओं से पाठकों को मिल सकेगी।

● पुष्पिता

अभिसार

अतलांटिक महासागर
चन्द्रमा की आशीष उपस्थिति में
अभिसार करता है–
सूरीनाम देश के सप्त सिन्धुओं के साथ।
समुद्र!
सूर्य को साक्षी मानकर
स्वीकार करता है
नदियों का स्नेह–समर्पण।
पर्वत–प्रसूता नदियाँ
वसुन्धरा की आत्मजा
सागर की अंकशायिनी हैं।

सूर्यास्त का सूर्य
सुहाग–सिन्दुर–सी अपनी लाली और रोली

भरता है नदियों की माथ–माँग–बीच
प्रणय–शृंगार से संवर उठती है नदी
अनुराग–राग से भरपूर
प्रणयाग्नि के सप्त फेरों को जीते हुए
नदियाँ समर्पित होती है अतलांतिक महासागर को।

पूर्णिमा का चाँद
रचाता है नदियों की रुपहली सुहागरात
सागर के साथ
सूर्य करता है मंत्रोच्चार–सुबह–ही–सुबह
सूरीनामी गायक पक्षी–त्वा–त्वा और ब्लाउफोर्की
गाते हैं–प्रकृति का अद्‌भुत अभिसार गान।

नदियों के वैवाहिक सांध्यपर्व पर
वसुन्धरा–माँ की तरह आशीर्वाद कामना से
सूर्य को चढ़ाती है–केला, नारियल और फल–फूल
बासंती हवाएँ गाती हैं–अद्‌भुत मंगलगान।

वेकेशन फ्लावर

मातृभूमि की सोंधी माटी पर
स्नेह की बिछी हुई दूब की हरी–भरी नोक पर
अटकी हुई ओस को
पीती हुई सूर्य–किरणें याद आती हैं–
अकेलेपन की पलकों पर
ठहरे हुए आँसुओं की खारी व्यथा से
मन का एकल स्वदेश
स्मृतियों की कसक से पसीज उठता है।

मृगतृष्णा से सजग
प्यास को पछाड़ता हुआ
रेत से अठेखेलियाँ करता हुआ ऊँट
ढलते हुए सूर्य को
अपनी पीठ पर बैठाकर
भगा ले जाना चाहता है–सूरीनाम की ओर–मेरी ओर।

नदियों और झरनों के तट पर
जंगलजीवी हाथियों के झुंड की जल–क्रीड़ा
नगरवासियों के बीच हाथियों का उत्सवी नागरिक प्रेम
सप्तसिन्धुशाली सूरीनाम देश के
'रेन फारेस्ट' के घने वन में
आँसुओं से भरती है
छोटी आँखों के बड़े मन को
यहाँ की प्रकृति आकंठ भरती है।

सूरीनाम–यात्रा–पथों के बीच
नीग्रो और इण्डोनेशियन मछुवारों की
टेंट–भीतर लघुकाय टब और बाल्टी के पानी में
वोतरफिश, कोबी, स्नूकू और याराबाका सागरीय (सी)
करोबिया पताका, क्लापा, कवी–कवी
तिलपियो, डातरफिशी, मातुली और प्लाताएदे स्वम (खेती)
मछलियों की लड़पती छटपटाहट को देखकर
स्वदेश का मत्स्य प्रेम याद आता है
जहाँ मीन राशि है और लग्न भी
जहाँ आरे की गोलियाँ और लाईदाना खिलाते हैं लोग
और जिन्दा मछली नदी में खरीदकर बहाते हैं लोग।

एक्वेरियम से सूरीनाम देश के
शान्त जल में प्रतिबिम्बित–अपरूप रूप
जल–भीतर–जीवन–स्वप्न–स्पर्श की अभिलाषा में
जल–सतह–ऊपर से मछलियाँ
ब्लोचोपांकी, आका और स्नेपी मछली भोजी पक्षियों की
धोखे की भूख से बच नहीं पाती है।

प्रगाढ़ प्रणय के सघन विश्वास का प्रतीक 'फायलॉनी फ्लावर'
शब्दार्थ के रंगों में 'प्यार की आग' सा उजलता जलता
फुटपाथ और घर–भीतर
मुसाइन्दा और घासजीवी डॉटर सूरजमुखी फूलों के बीच
बहुरंगी फायरलॉबी पुष्प–गुच्छों को देख
भारतीय वसुधा–वक्ष का सौभाग्य वृक्ष–अशोक वृक्ष के
श्वेत–रक्ताभी पुष्प स्तबकों का सौन्दर्य
स्मृतियों को अपने पक्ष में पुकारता है।

पापाखाई, खुरचंनी और खैलबैख़ तोतों की
तीख़ी आत्मीय टेर अधीर कर जाती है आत्मा
गंगा–मैना की काकली स्मृति
वर्ष भर आम्रमंजरियों से सुरभित सूरीनाम देश के वक्ष में
हर क्षण अखरती है कमी कोयलिया के तान की।

सागर–सुत सावनिया मेघों की
घिर–झिर आने की एक–सार बरसात में
मयूरों की प्राणोत्कंठित ध्वनिगूँज की टहकती स्मृति में
तड़प उठते हैं प्राण
घन–प्रेम में घनानन्द से बावला
नृत्यरत विमोर मोर के
पोर–पोर की अविस्मरणीय फुरकन बीच
प्रणय की आत्मदग्ध पुकार में
साँसें खोजती हैं–आत्मीय साँस।

सहमे हुए समय में
याद आती है गिलहरी की चपल चंचलता
शीत की बरखा से
अपने शावक बचाने की विकलता में
शीत की ठहरी गुनगुनी धूप में
रस्सी, जूट बोरे की धुनाई करती गिलहरी
जैसे – वह भी किसी स्त्री की तरह
बच्चे के जन्म से पहले बुन रही हो स्वेटर।

सूरीनाम के 'वेकेशन फ्लावर' को
अपने समय के कक्ष के कैलेन्डर के बीच रखकर
मन गिनने लगता है–उँगलियों में
वेकेशन की प्रतीक्षा में दिन
कि कब पूरे होंगे प्रवास के दाहक दिवस?
जीवन की बँधी अँजुली को
कब खोलेगा समय–
अपने देश के लिए
कि वह अपने
प्रिय के वक्ष की वसुन्धरा में समाकर
खिला सकेगी–अपने प्रणय का वेकेशन फलावर!

ईश्वर की तरह

अतलांतिक महासागर की तटौना भूमि पर
सूरीनाम देश—दक्षिण अमेरिका का शीश
पृथ्वी के दूसरे अन्तिम छोर पर
स्वदेश—स्मृतियों की सागर लहरियाँ
कभी हिन्द महासागर
कभी अरब सागर
कभी बंगाल की खाड़ी की लहरियाँ
तरंगित करती हैं मन
विदेश में पाणिग्रहण कर
प्रथम प्रणय की परिणीता बन

सूरीनाम देश की वक्ष—सखा नदियाँ
कोरन्तेन और नाइकेरी नदियों का संगम
संगम का महासागर में समागम
सागर — नदियों के स्पर्श में
पीता है — नगर दुःख
सन् अट्ठारह सौ तिहत्तर में
अरकाटियों (दलाल—एजेंटों) के बहलावे का
परदेश में शिकार बन आये
भारतीय पीढ़ियों का संताप—नदी—भीतर।
सागर के वक्ष में
चुप होकर समा जाती हैं—नदियाँ
नवपरिणीता स्त्री के विह्वल चित्त की तरह।

कमोबेना और सूरीनामी नदियों के जल में
गुलाम पीढ़ियों की पीड़ा के आँसुओं की ऊष्मा है
लहरियों में अपनी जर—जोरू और परिवार से
विलगने का बिलखता शोर
सागर पीता है नदियों का दुख
ईश्वर की तरह!

सूरीनाम के सुनीलाकाश वक्ष से–

सूरीनाम देश में
सविता रश्मियों की लालाभी अँजुली में
रखती हूँ–स्नेह चितवन के समर्पण का
अक्षय चुम्बन–मातृभूमि के लिए।

परदेश की हवाओं में
घुलाती हूँ–स्वदेश गंधी स्वप्न श्वास
और अपरिचित दुनिया को
बनाती हूँ अपने लिए आत्मीय
जैसे–बच्चे बनाते हैं रेत में घरौंदा
स्वप्न खेल में जीते हैं जीवन यथार्थ।

विदेश में
सुनीलाकाश वक्ष ही स्वदेश का प्रतीक
सितारों की आँखों में रोपती हूँ
अपने स्वप्नों के आकांक्षा–बीज
प्रणय के 'नील–पुष्प' के सुरभित प्रस्फुटन की
प्रतीक्षा में जागती हूँ सारी
सृजन की आहट अगोरती धड़कनें
रचती हैं स्नेह तरंगित ध्वनियाँ
समय के कोटर में।

वियोग–संताप की घनघोर घटाओं से
भरी आँखें जीती है रात–दिन–अश्रु बरखा
भीतर–ही–भीतर
जिन्हें सुनते हैं सूरीनामी बादल
और रह–रहकर बरसते हैं मेरी आँखों के साथ
किन्हीं स्मृतियों में!

□□□

जीवनी-लेखन की चुनौती

● विष्णु प्रभाकर

कथा–साहित्य जीवन का प्रतिबिंब है, जीवनी स्वयं जीवन। इतिहास मात्र घटनाओं का विवरण है, पर जीवनी में घटनाओं के पीछे जो व्यक्ति है, उसके समग्र का वस्तुपरक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन रहता है। आलोचना की प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक होती है, जीवनी की संश्लेषणात्मक। इस दृष्टि से वह रचनात्मक होकर भी सृजनात्मक विधा है। नब्बे वर्ष की अवस्था में पहुंचकर लिखा हुआ उनका आलेख–

जीवनी–साहित्य की चर्चा करते हुए डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा था, "सचमुच चरित्र के सौंदर्य से बढ़कर कुछ भी आकर्षक नहीं है। इस सौंदर्य को जो प्रकट करता है वह हमारे ऊपर उपकार करता है।"

इस प्रसंग में मुझे महात्मा गांधी की याद आती है। मैडम क्यूरी की जीवनी पढ़कर, जो उनकी पुत्री ईव क्यूरी ने लिखी थी, उन्होंने कहा था, "यह तो सच्ची तपस्विनी थी। मेरे मन में होता है कि पेरिस जाकर उनका घर देख आऊँ। हमारे किसी वैज्ञानिक ने इतना दुःख नहीं भोगा।"

ये दो उद्धरण जीवनी–साहित्य के महत्त्व को प्रकट करते हैं। हमारे देश में जीवन–चरित्र या आत्मकथा लिखने की प्रथा नहीं थी। आत्मप्रकाश से अधिक आत्मगोपन का महत्त्व था, लेकिन मूल्य और मान्यताएँ निरंतर बदलती रहती हैं। इसलिए आज यदि इन विधाओं की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया जा रहा है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

जीवनी–साहित्य का केंद्र व्यक्ति है, परंतु क्या उसमें जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण, उसके यथार्थ और काल्पनिक गुणों का वर्णन करते हुए महानता का आरोपण, यही कुछ होना चाहिए? क्या जीवनी मात्र इतिहास या उपन्यास है? यह रचनात्मक विधा है या सृजनात्मक? ये प्रश्न आज के साहित्यकार को परेशान करते रहते हैं। कथा–साहित्य जीवन

का प्रतिबिंब है, जीवनी स्वयं जीवन। इतिहास मात्र घटनाओं का विवरण है, पर जीवनी में घटनाओं के पीछे जो व्यक्ति है, उसके समग्र का वस्तुपरक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन रहता है। आलोचना की प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक होती है, जीवनी की संश्लेषणात्मक। इस दृष्टि से वह रचनात्मक होकर भी सृजनात्मक विधा है। ढूँढने पर हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल में जीवनियाँ कहलाई जाने वाली कृतियाँ मिल सकती हैं, पर उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है। इसलिए जीवनी–साहित्य का वास्तविक रूप हमें पुनर्जागरण काल में ही मिलता है। इस युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति उभरे जो अपने कृतित्व के कारण लौकिक न होकर अलौकिक हो उठे। उनके प्रति हमारी दृष्टि विस्मयमूलक वीर–पूजा से आवृत्त रही।

वस्तुतः स्वाधीनता के पूर्व तक का युग सामाजिक और राजनीतिक चेतना के उदय और उससे उत्पन्न अपनी अस्मिता की पहचान का युग था। उस युग को आभामंडित करने वाले आदर्श पुरुषों के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा ही उत्पन्न हो सकती है और श्रद्धा का ज्वार संतुलित अध्ययन और कलात्मक क्षमता के मार्ग की बाधा होता है। जीवन मात्र कुछ सद्‌गुणों का समुच्चय नहीं है, संवेदन और आस्था के साथ वस्तुपरक अध्ययन भी आवश्यक है।

हम अनिवार्यतः वीरपूजक यानी बुतपरस्त हैं। विशेषणों का प्रयोग अतियों पर करते हैं। एक वर्ग मानता है कि जीवनी लिखते समय हमें उस व्यक्ति के गुण ही देखने चाहिए। वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि कमजोरियों से कटकर कोई महान् नहीं होता। यह दृष्टि हमें वस्तुपरक नहीं होने देती और जो अवगुण ढूँढ़ने के शोकीन हैं, वहां भी वस्तुपरक दृष्टि असंभव है। प्रश्न यह है कि 'मरने के बाद किसी के दोष न देखो', इस आदर्श से चिपटे रहे तो क्या जीवन–चरित्र लिखा जा सकेगा? क्या प्रेमचंद के जीवन में द्वंद्व नहीं हो सकता? मान्यता और आचरण का द्वंद्व? टॉलस्टाय की डायरी पढ़िए, कैसा द्वंद्व है उसमें? निरंतर मुक्ति पाने की चाह ऊपर ही उठती है। शरत् वेश्याओं के यहां जाते थे। प्रेमचंद की कोई प्रेमिका रही थी। इन बातों को स्वीकार करने पर क्या शरत् और प्रेमचंद घृणित हो रहेंगे? शरत् ने नारी को लेकर प्रश्न किया था कि यदि कभी उसका पद–स्खलन हो जाता है तो क्या वह नारी भी नहीं रहती।

हम समझते हैं कि जीवनी–लेखक में वस्तुपरकता के साथ ये दो गुण और भी आवश्यक हैं, क्योंकि उसका उद्देश्य एक ऐसे प्रामाणिक चरित्र का निर्माण करना है जो सम्यक् संपूर्ण हो, विश्वसनीय हो और रोचक भी हो।

दूसरी चुनौती जीवनीकार के सामने है पात्र के चुनाव की। जिस व्यक्ति की जीवनी वह लिखना चाहता है, क्या वह इस योग्य है? क्या उसका महान् और महत्त्वपूर्ण होना एक अनिवार्यता है? हम कहेंगे कि वह महान् हो या न हो, पर किसी न किसी रूप में महत्त्वपूर्ण तो होना ही होगा।

बहुत–से जीवनीकार चाहेंगे कि वह उस व्यक्ति की जीवनी लिखें, जिसके जीवन में उतार–चढ़ाव हो, रंगीनी हो, संघर्ष हो या फिर भी वह साहसी या विवादास्पद हो या नए मूल्यों का निर्माता और नए अविष्कारों का जनक हो। बहुत मसाला होता है उनके जीवन में लिखने के लिए।

बॉसवेल के हीरो जॉनसन ने स्वयं लिखा है, "वही व्यक्ति किसी की जीवनी लिख सकता है, जो उसके साथ खाता–पीता, बैठता–उठता और बोलता–बतियाता रहा हो।" डॉ॰ रामलिवास शर्मा ने महाप्राण निराला की जीवनी लिखी। डॉ॰ जॉनसन की मान्यता के अनुसार मुझे शरत्चंद की जीवनी लिखने का कोई अधिकार नहीं था, लेकिन क्या जानना लेखक को मोहांध नहीं बना सकता? उसके विपरीत अपरिचय से वस्तुनिष्ठता की संभावना बढ़ जाती है। आखिर यह जानना और न जानना है क्या? कोई उत्साह को अनिवार्य मानता है, कोई प्यार को, कोई आस्था को। किसी के लिए पार्टीजनशिप आवश्यक है। क्या ये विभिन्न शब्द किसी एक ओर इंगित करते हुए नहीं जान पड़ते?

मैंने अभी प्रश्न किया था कि आखिर जानना है क्या? क्या दूर रहकर किसी को नहीं जाना जा सकता। जानना मात्र भौतिक स्तर पर ही क्यों? वह चेतना के स्तर पर क्यों नहीं हो सकता? चेतना के स्तर से मेरा तात्पर्य यह है, किसी को उसके कार्य से जानना। ऐसे जानने के लिए आस्था और दृष्टि की ज़रूरत होती है। जहां ये दोनों हैं प्रेम तो वहां है ही। अपने अनुभवों की बात कहूँ मैं। मैं शरत् से कभी नहीं मिला। वह न तो मेरे प्रांत के थे, न ही मेरी भाषा के। फिर भी मेरे मन में उनके प्रति आकर्षण था और यह हुआ था, उनका तथाकथित लिजलिजा साहित्य पढ़कर। बार–बार मैं सोचता, कैसा होगा यह चरित्रहीन व्यक्ति जिसने ऐसे हृदयग्राही उपन्यास लिखे।

कितना निरुत्साहित किया मित्रों ने मुझे, और उनके कुछ समकालीन बधुंओं ने भी–'छोड़ो–छोड़ो क्या करोगे उसको लेकर? गुंडा था साला, लिज़लिज़ा। खैर, अब निकल ही पड़े हो तो साले को नंगा कर देना।'

यही शब्द मेरे लिए चुनौती बन गए उसे जानने के लिए, उससे मानसिक तादात्म्य स्थापित करने के लिए। मैं देश–विदेश में उन सभी स्थानों पर गया, जहाँ न केवल वह 'आवारा मसीहा' रहा था, बल्कि उसके पात्र भी रहे थे। उसके पात्रों को जानने के लिए मैं उनके साथ जिया। अपने अंतर में उन्हें हाड़–मांस के मानव के रूप में देखा। खोज–खोजकर उसके बूढ़े संगी–साथियों और रिश्तेदारों से मिला और उनके अंतरंग, अटपटे, कड़वे, मीठे, घृणा और प्रेम से आप्लावित अनुभव सुने। तब कहीं कुछ–कुछ पहचान हुई 'आवारा–मसीहा' से।

जानने का एक और तरीका होता है, रचनाओं के माध्यम से। जब मैं अपनी यात्राओं पर निकल रहा था, तब एक मराठी बंधु ने मुझे एक चुनौती–भरा पत्र लिखा था कि "हमारे प्रयत्नों का उद्देश्य यदि तथ्यपूर्ण सामग्री की खोज करना है तो यह प्रयत्न हास्यास्पद अवश्य है। इन प्रश्नों का उत्तर उनकी रचनाओं में से न पा सके तो वे और कहाँ मिल सकेंगे?"

मेरा हर शेर है अख़्तर मेरी ज़िंदा तस्वीर,
देखने वालों ने हर लफ़्ज़ में देखा है मुझे।

पर प्रश्न यह है कि क्या कृतिकार रचना के माध्यम से अपने को प्रकट ही करता है, छिपाता नहीं? शरत् के बाल–सखा और चचेरे मामा ने लिखा है, "शरत् ने अपने साहित्य में अपने को छिपाया है।" साहित्य में ही क्यों, बैठकों में भी उन्हें अपने बारे में किंवदंतियाँ प्रचलित करने में बड़ा आनंद आता था। तो क्या यह कम चुनौती है जीवनीकार के सामने? अतिरिक्त दैवी शक्ति प्राप्त करनी होती है इन चुनौतियों को झेलने में।

घटनाएँ भी आवश्यक हैं, पर अनिवार्य नहीं। अनिवार्य हैं उन घटनाओं के पीछे रहने वाले प्रेरणास्त्रोत। जो दिखाई देता है वह यथार्थ होता है, सत्य नहीं। सत्य की खोज में बहुत गहरे उतरना होता है। शरत् वेश्याओं के यहाँ जाते थे यह एक घटना है, यथार्थ है, पर सत्य नहीं। सत्य उस कारण में निहित है, जो उन्हें वहां ले जाता था। इस सत्य की तलाश उनका बचाव करना नहीं है, उनको समझना है।

एक विद्वान ने लिखा है, "जीवनी क्या है, अनुभवों का शृंखलाबद्ध कलात्मक चयन। इसमें वही घटनाएं ली जाती हैं, जिनमें संवेदना की गहराई हो, भावों को आलोड़ित करने की शक्ति हो। घटनाओं का चयन, लेखक किसी नीति, तर्क या दर्शन से प्रभावित होकर नहीं करता। वह गोताखोर की तरह जीवन–सागर में डूब–डूबकर मोती चुनता है। सशक्त और सच्ची संवदेना की हर घड़ी वही मोती है।"

इस स्थापना से मतभेद हो सकता है, पर इसके भीतर एक और चुनौती उभरती है। शुरू में हमने उसकी चर्चा की है कि जीवनी क्या है? इतिहास, उपन्यास या कविता? उत्तर दिया जा सकता है कि वह एक ओर इतिहास और उपन्यास, दूसरी ओर इतिहास और कविता के मध्य की स्थिति है। प्रसिद्ध जीवनी–लेखकों प्लूटार्क, ड्राइडेन और ऐलन शेल्सट्न–ये सब इन प्रश्नों से जूझे हैं और उत्तर भी दिया है। इर्विन स्टोन द्वारा सृजित 'वॉन गोग' की जीवनी 'लस्ट फॉर लाइफ' को पढ़ने पर उपन्यास का ही आनंद आता है। इतना ही तो अंतर है कि उसका नायक काल्पनिक नहीं है। यही कठिनाई होती है। कल्पना को इच्छा और सुविधा के अनुसार कैसा भी रूप दिया जा सकता है, पर जीवनी के नायक को वैसा ही चित्रित करना होता है, जैसा वह होता है। इसलिए इर्विन स्टोन ने मानो शपथ लेकर घोषणा की कि उसने जो कुछ लिखा है, सच लिखा है, सच के सिवा कुछ नहीं लिखा है। बेशक उसने सच लिखा है, यथार्थ नहीं। यथार्थ सतह के ऊपर होता है। सत्य को पाने के लिए सतह के नीचे उतरना होता है। यही तत्त्व जीवनी को इतिहास से अलग करता है, क्योंकि सतह के नीचे जाने के लिए कला की आवश्यकता होती है। कोयले और हीरे में समान तत्त्व होते हैं, अंतर केवल समीकरण का होता है। इस दृष्टि से 'लस्ट फॉर लाइफ' जैसी जीवनियाँ सृजनात्मक विधा के अंतर्गत आती हैं। 'आवारा मसीहा' के संबंध में दंभ का आरोपण सहकर भी एक बात कहना चाहूँगा। इसे प्रायः बहुत–से पाठक उपन्यास कहकर

पहचानते हैं। इसमें न तो मेरा कोई अपराध है, न प्रतिभा का कौशल है। उस व्यक्ति का जीवन था ही इतना रहस्यमय, इतना रोमांचक, इतनी अकल्पनीय घटनाओं से भरपूर कि मेरा सपाट लेखन भी कथा–रस से आप्लावित हो उठा।

'लस्ट फॉर लाइफ' के लेखक ने सच लिखने की शपथ ली है, मैं तो वह भी नहीं ले सकता। मैंने भूमिका में लिखा है कि यदि कोई मुझे चुनौती देगा कि मैंने जो कुछ लिखा है, गलत लिखा है, तो मैं उसका प्रतिवाद नहीं करूँगा। उसका प्रसिद्धि से पूर्व का जीवन विशेष रूप से इतनी जटिल गुत्थियों से भरा हुआ है कि सत्य की राह पाना मेरे लिए असंभव हो गया था।

हमारा विचार है कि जीवनी–लेखक को अपने पात्र का मनावैज्ञानिक अध्ययन करने का अधिकार है और ऐसा करते हुए यदि वह तथ्यों को विकृत नहीं करता तो उसे अपनी शैली चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

इस प्रक्रिया में एक और चुनौती उभरकर सामने आती है, वह सबसे महत्त्वपूर्ण है, वह पात्र के जीवन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की तलाश की है। इस सामग्री में पात्र की डायरी, पत्र, भेंटवार्ताएं, रचनाओं की पांडुलिपियां, समकालीन मित्रों के संस्मरण, स्कूल और कॉलेज के प्रमाण–पत्र आदि–आदि। यदि सरकारी नौकरी में रहा है तो वहां से पात्र से संबंध रखने वाला दस्तावेज़। इस सामग्री को दो भागों में बाँटा जाता है। एक वो जिसकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता, जैसे डायरी, पत्र, पांडुलिपि और सरकारी दस्तावेज़। शेष सामग्री के प्राते शोधकर्ता को सजग और सतर्क रहने की ज़रूरत होती है। यूँ कभी–कभी प्रामाणिक दस्तावेज भी परेशानी का कारण बन जाते हैं, क्योंकि वहां शोधकर्ता अपनी सहज बुद्धि का प्रयोग करना भूल जाता है। शरत् के कई जीवनीकारों ने लिखा है कि उन्होंने दिसंबर मास में मैट्रिक की परीक्षा पास की। मैं दो कारणों से इसे स्वीकार नहीं कर पाया, एक तो परीक्षाएँ प्रायः मार्च में होती हैं, दूसरे उनकी माँ की मृत्यु दिसंबर से पूर्व हो चुकी थी और इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद थे कि उनके मैट्रिक की परीक्षा का परिणाम आने के समय वह जीवित थी। अंततः मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में उस वर्ष का कैलेंडर ढूँढ़ निकाला। उससे पता लगा कि परीक्षा तो मार्च में ही हुई थी। परिणाम भी सही समय निकला था, पर कैलेंडर में वह दिसंबर में प्रकाशित हुआ था।

जॉनसन के जीवनीकार क्लिफोर्ड के अनुभवों की चर्चा करते हुए ऐलन शेल्सटन ने लिखा है कि जॉनसन की आर्थिक स्थिति का सही आकलन करने के लिए उन्हें लंदन के एक बैंक में मोटे–मोटे, भारी–भारी, धूल–भरे लैजरों से माथापच्ची करनी पड़ी और वह केवल अपनी पुस्तक में एक वाक्य लिखने के लिए।

ऐसा करते हुए क्लिफोर्ड की तरह मैंने भी कभी थकान अनुभव नहीं की, बल्कि आनंद और उत्तेजना का ही अनुभव किया। भेंटवार्ताएँ भी प्रायः छल कर जाती हैं और समकालीन व्यक्तियों के संस्मरण तो अकसर भूल–भुलैयाँ में फँसा देते हैं। विशेषकर शरत् जैसे व्यक्तियों के, जो स्वयं अपने बारे में किंवदंतियाँ फैलाने में माहिर थे।

शोधकर्त्ता के सामने अनेक विशृंखल तथ्यों का ढेर लग जाता है। ऐसी स्थिति में उसे हर तथ्य को कसौटी पर कसना होता है और यह सीखना पड़ता है कि 'क्या लेना है' से अधिक महत्त्वपूर्ण है, 'क्या छोड़ना'।

एक बार झाँसी जाना हुआ। वहाँ बाजार में जाते हुए एक बंगाली प्रिंसिपल से भेंट हो गई। उनसे बातें करते हुए मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब मुझे पता लगा कि वह अपने विद्यार्थी जीवन में शरत् बाबू से बनारस में मिले थे और बातें भी की थीं। जो बनारस जाकर भी न पा सका था, वह महत्त्वपूर्ण सामग्री अनायास ही मुझे झाँसी में मिल गई थी। ऐसे ही एक दिन टी–हाउस में एक मित्र ने बताया, "कुछ समय पूर्व यहीं कहीं एक वृद्ध बंगाली सज्जन रहते थे। वह कभी–कभी शरत् बाबू की बातें किया करते थे। वह सज्जन तो मुझे नहीं मिले, पर उन्हें खोजते–खोजते पता लगा कि शरत् के कोई रिश्तेदार रामकृष्णपुरम् में रहते हैं। अंततः मैंने उन्हें खोज लिया। मेरी प्रसन्नता और विस्मय की सीमा नहीं थी कि जिस व्यक्ति को मैं चौदह वर्ष से खोज रहा था वह दिल्ली में ही मेरी नाक के नीचे बैठे थे। वह शरत् के प्रिय बाल–सखा और चचेरे मामा के पुत्र थे। उनके पास मुझे शरत् का एक दुर्लभ पत्र मिला। उसने मेरी कई अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सुलझा दिया। यह तब की बात है जब मैं अपना शोधकार्य पूरा करके छठी पांडुलिपि तैयार कर रहा था।

संक्षेप में, जीवनीकार का यह कर्त्तव्य है कि वह सत्य को खोज निकालने के लिए जितना संभव हो उतना प्रयत्न निश्चय ही करे, पर साथ ही यह कभी न भूले कि अपने पात्र को पुनः सृजित करने की प्रक्रिया में वह शोधकर्त्ता से अधिक सर्जक होता है।

□□□

विदेशी साहित्य के अनुवाद की अनिवार्यता एवं चुनौतियां

● दिविक रमेश

विदेशी साहित्य के अनुवाद की आवश्यकता पर बल देना जितना आसान है उतना ही उक्त साहित्य का अनुवाद–कर्म ज़ोखिम और चुनौतियों से भरा है। सबसे बड़ी चुनौती तो भाषा–भेद तथा अनुवाद को लेकर मतभेद हैं। कुछ लोगों की मान्यता है, अपनी भाषा में अनुवाद मूल भाषा से ही–यानी उसे पूरी तरह अर्जित करके ही किया जाना चाहिए।

अपने एक अनुभव से बात शुरू करना चाहता हूँ। मैं कोरिया में था और कोरियाई साहित्य–विशेष रूप से कविता और संस्कृति को जानने–समझने के लिए उत्कट लालसा से भरा था। जीवन तो देख ही रहा था। मेरे विद्यार्थी, उनमें भी खासकर किम छंग योंग मेरी मदद के लिए तत्पर थे। टैगोर की सन् १८२४ ई. में लिखी गई चार पंक्तियों की कविता "लैंप आफ द ईस्ट" का कोरियाई लोगों पर पड़ा प्रभाव मुझसे छुपा न था। कम उम्र में दिवंगत हो जाने वाले आधुनिक कविता के अत्यंत महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय कवि किम सॉ वॉल की सुप्रसिद्ध कविता "छिन्दलाय कुट" (ओ और उ के बीच की ध्वनि) यानि छिन्दालय फूल अपने विद्यार्थी की मदद से पढ़ और समझ चुका था। इस कविता में न केवल पाठक को (यदि वह रचनाकार है तो) रचनात्मक प्ररेणा और शक्ति से भर देने की क्षमता है बल्कि अपने अन्य पाठकों तक पहुंचाने की उत्सुकता पैदा करने की भी ताक़त है। ऐसी ही "उत्सुकता" जब मुझमें भी जागी तो स्वाभाविक था कि मैंने अपनी भाषा में उसका अनुवाद करना चाहा। छोटे आकार की वह कविता देखने में काफी सीधी–सरल थी, लेकिन अनुवाद की दृष्टि से बहुत ही कठिन पड़ रही थी। लेकिन मेरा अनुवाद–संघर्ष ज़ारी था। इसी बीच

कोरिया के बाल–कविता के अत्यंत वरिष्ठ कवि यून सॅक जूंग की एक कविता "दुनिया का मानचित्र" पढ़ने को मिली। इस कविता ने मुझे अनेक ढंग से प्रभावित और उत्तेजित किया। विश्वबंधुत्व और विश्वशांति की इससे बेहतर बाल–कविता मैंने आज तक नहीं पढ़ी है। कविता यूं है:–

घर का काम मिला है मुझको
नक्शे में दुनिया दिखलाऊँ
रात बैठकर मेहनत की पर
रहा अधूरा क्या बतलाऊँ
देश न हो तो तेरा मेरा
राष्ट्र न हो जो मेरा तेरा
हो बस दुनिया देश बड़ा–सा
तब होगा आसान बनाना
नक्शे में दुनिया बतलाना
(प्यारी सी दुनिया दिखलाना)

कविता पढ़कर, मेरे अनुवाद–संघर्ष मन में आया–काश, इस पृथ्वी पर हर इन्सान की एक ही ज़बान होती, जैसे होती हैं संवेदनाएँ, जैसे होते हैं भाव, जैसे होती हैं मूल प्रतिक्रियाएं। या फिर हर इन्सान हर ज़बान को जानने वाला ही होता। तब इतनी मुश्किलें होती ही नहीं, और होती तो टिकती नहीं। और सबसे बड़ी बात तो यह कि अनुवाद की जरूरत ही न हुई होती। आज सूचना प्रणालियों के उत्कृष्ट रूपों की भरमार के बावजूद, एक–दूसरे के मध्य संप्रेषण के कितने बड़े–बड़े अन्तराल हैं, क्या किसी से छिपे हैं?

खैर! मैं अपने उक्त अनुभव के स्मरण से, असल में, अनुवाद के आदिम और बुनियादी हेतु को समझने–समझाने की कोशिश कर रहा था और शायद यह दुष्कर्म भी कि अनुवाद कार्य को (भी) मैं अधिकशत: एक सहज प्ररेणा से उद्‌भूत रचनात्मक कार्य सिद्ध करूं। यह अलग बात है कि अनुवाद–कार्य (यहां तक कि साहित्य के अनुवाद–कार्य भी) योजनाबद्ध और प्रायोजित शैली में किए जाते हैं। अनुवाद–कर्म को लेकर पर्याप्त बहसें उपलब्ध हैं, लेकिन कोई निष्कर्ष सर्वमान्य हो, ऐसा अब तक तो नहीं है। हर अनुवादक का अपना अनुभव है और अपना नज़रिया भी। हाँ, एक बात ज़रूर सामान्य है वह है "अनुवाद" की आवश्यकता या फिर अनिवार्यता को मान्यता। जीवन के मूल में अनेक समानताओं, तमाम अड़चनों के बावजूद, बहुभाषी भारत में, अपनी–अपनी भाषाओं के साहित्य को एक–दूसरे तक पहुंचाने की सद्इच्छा देखी जा सकती है। अत: भारतीय व्यक्ति अनुवाद की आवश्यकता को भली–भांति समझता है।

कहा गया है कि २०वीं शताब्दी अनुवाद का युग है। पांव–पसारा २१वीं तक भी माना जाता सकता है। यूं ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो अनुवाद शब्द और कर्म को हम दूसरी या तीसरी शताब्दी तक खींच ले सकते हैं। प्रेस के आगमन तथा टेक्नोलोजी के विकास ने अनुवाद के क्षेत्र में प्रगति के द्वार खोले। मैं समझता हूँ कि महायुद्धों, उपनिवेशवाद तथा राजनैतिक शोषण के प्रति जन–संघर्षो और उनसे जुड़ी नई मानवतावादी दृष्टि तथा उसकी विचार–छाया में सृजित साहित्य ने अनुवाद कर्म के लिए एक बड़ी भूमिका अदा की है। भारत के संदर्भ में, अंग्रेजी की भूमिका दो तरह से कारगर सिद्ध हुई। एक तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भू–भागों और जनसमुदायों, उनकी जीवन–शैलियों, उनकी कलाओं, उनके साहित्य आदि के प्रति जानकारी और ललक तीव्र हुई तथा दूसरी ओर, अंग्रेजी सीख लिए जाने के बाद, अंग्रेजी के माध्यम से न केवल अंग्रेजों का, बल्कि अंग्रेजों के आधिपत्य में ज़ी रहे देशों के साहित्य का, उपलब्ध सामग्री का हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद होने लगा। धीरे–धीरे जब, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक ध्रुवीकरण हुआ तो राष्ट्रीय और मानवीय हितों को पुष्ट करने वाले तमाम विश्व–साहित्य के प्रति अपने–अपने ढंग से खोजी नज़रें खिचीं और गाहे–बगाहे अनुवाद कार्य हुए। यहां मैं अनुवादों की कोटि या उनके स्तर का प्रश्न टाल रहा हूँ।

प्रश्न है विदेशी साहित्य के अनुवाद की अनिवार्यता का। साहित्य में जनमानस को उत्प्रेरित करने की कितनी शक्ति निहित होती है, इसका प्रमाण–संकेत आज के साहित्य विरोधी माहौल में भी, मैंने ऊपर टैगोर की पंक्तियों के हवाले से दिया है। कोरिया जापानी साम्राज्यवाद के अधीन था। टैगोर एशिया के सर्वप्रथम नोबल पुरस्कार विजेता बन चुके थे। जापान में उनके दोस्त थे। जब जाते तो वहाँ कोरियाई विद्यार्थी उन्हें कोरिया की जापानियों के हाथों हो रही दुर्दशा से अवगत कराते और देश के हित में कुछ करने की मिन्नत करते। आखिर १९२९ में, मूलतः अंग्रेजी में चार पंक्तियों की एक कविता टैगोर ने लिखी और कोरियाई विद्यार्थियों को दी जिसका शीर्षक था (जैसा ऊपर उल्लिखित है) –"लैम्प ऑफ द ईस्ट"। इस कविता में कवि ने कोरिया के अतीत–गौरव और उज्ज्वल भविष्य की बात कही है। आज भी यह कविता उनकी भाषा में, कोरियाई बच्चों की ज़बान पर सुनी जा सकती है। कोरियाई भाषा में अनुवाद कर, उक्त कविता, असल में, पाठ्यक्रम में लगा दी गई। कहते हैं, साहित्य इन्सानों को जोड़ता है। यदि यह सत्य है तो टैगोर की कविता ने यह काम किया है। आज जबकि भूमण्डलीकरण का सवाल बार–बार सामने आ रहा है, साहित्यिक और सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण की अनिवार्यता ज़ोरों से बढ़ रही है। आर्थिक भूमण्डलीकरण भले ही भौतिक समृद्धि का कारण बन जाए लेकिन एक वैश्विक संस्कृति, जहां किसी भी भू–भाग का इन्सान, इन्सान बना रह सकता है, का कारण नहीं बन सकता, जिसकी तीखी धारों वाले बंटे देशों के विश्व में कहीं ज्यादा जरूरत हो चली है। ऐसे में हमें मानना ही होगा कि साहित्य विश्व–संस्कृति की सामग्री है जबकि अनुवाद उसका प्राण और आत्मा है। इस

सारी बात में विश्व–साहित्य की कल्पना भी छिपी है। विश्व–साहित्य अपना प्राण और आत्मा अनुवाद के माध्यम से प्राप्त करने को अभिशप्त है। विश्व–साहित्य, विश्व–संस्कृति का निर्माता भी है और एक स्तर पर वाहक भी। "कन्टापोरेरी फ्रेंच पोइटरी" (१९६५) की भूमिका में पाल ऐन्जल (Paul Engle) ने लिखा था, "विश्व जितना सिकुड़ता है, अनुवाद की आवश्यकता उतनी ही फैलती है।" यदि वह सच है कि अन्तराष्ट्रीयता के बढ़ते हुए भाव ने, साहित्य के अनुवाद को बढ़ाया है तो सच यह भी है कि विभाजक और विध्वंसक सत्तात्मक शक्तियों के विरोध में "वैश्विक साहित्य" वैश्विक दृष्टि की कल्पना के साथ–साथ उसके अनुवाद की अनिवार्यता को भी अनुवाद की तमाम खामियों के बावजूद स्वीकार किया गया है।

एक बात, मेरे मन में प्रारम्भ से बैठी हुई है कि साहित्य ही वह क्षेत्र है जो अपने मूल रूप में मानव विरोधी नहीं हो सकता। जो लोग मानवतावादी या गैर–मानवतावादी साहित्य के भेद में जाते हैं, मुझे कभी तर्कसंगत नहीं प्रतीत होते। गैर–मानवतावादी साहित्य लिखवाया जा सकता है, विज्ञापनों की तरह, लेकिन तब वैसे बहुरूपिए साहित्य को साहित्य की श्रेणी में ही क्यों रखा जाए? साहित्येतर ऐसे क्षेत्र जरूर हैं और उनकी काफी हद तक हमें जानकारी भी है, जिनके माध्यम से कोई सत्ता अपने हित में व्यक्तियों और उनकी काफी हद तक हमें जानकारी भी है, जिनके माध्यम से कोई सत्ता अपने हित में व्यक्तियों और देशों के सामाजिक–आर्थिक चरित्र को बदलने का व्यवसायिक दुष्कर्म करती है। ऐसे में, अनुवाद कर्म का भी दुरुपयोग किया जाता है। आज विश्व में, एक नकारात्मक दृष्टि को बुरी तरह जगह दी जा रही है, जो खतरनाक है और उससे साहित्य तथा उसका अनुवाद ही बचा सकता है। यह तो ठीक है कि अपने राष्ट्र अपने लोगों की प्रशंसा की जाए, अपनी संस्कृति, अपनी परंपराओं के प्रति लगाव और निष्ठा का पाठ पढ़ाया जाए—भले ही शक्ति से भी, लेकिन यह कहाँ तक ठीक है कि अन्य समाजों के प्रति असम्मान ही नहीं, घृणा का पाठ पढ़ाया जाए। यही वह खतरा है जो अलगाव, लोभ, खूनी संघर्ष, जातीयता के नाम पर विध्वंसक प्रवृत्तियों के द्वार खोलता जाता है। २१वीं शताब्दी के सदंर्भ में, ११९३ में, अमेरिका में, "फोरेन अफेयर्स" के "समर इश्यू" में, सेमुअल हन्टिंगटन (Samuel Huntington) ने अपने एक बहुचर्चित विश्लेषणात्मक लेख में कहा था कि यह शताब्दी "सभ्यताओं" (संस्कृतियों) के रूप में प्रतिपादित होगी। इसी आधार पर यह भी माना गया कि मनुष्यता में बंटवारे और संघर्ष का सबसे बड़ा कारण संस्कृति होगी। यदि यह धारणा सही है तो इसके चलते मूल्य विभ्रम की स्थितियां और कट्टरवादी दुर्गतियां सहज ही जन्म लेंगी। १९९३ में ही हुए एक सर्वे के अनुसार ३८ देशों में या तो युद्ध छिड़ गया था या राजनीतिक हिंसा फैल गई। हिंसा और घृणा का एक भयानक रूप हाल ही में अमेरिका में देखने को मिला जबकि उसका फैलाव हम सब आज भी देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे विश्व—साहित्य की रचना और खोज ज़रूरी हो जाती है जो एक विश्व–दृष्टि का दायक बन सके और

विनाशोन्मुख मानवता को शरण दे सके तथा राह भी। पिछले दिनों कविता में "नेचुरल मोडरनिज्म" का नारा भी लगा है जिसका लक्ष्य है प्रकृति, जीवन, मनुष्य और सभ्यता का सांस्कृतिक सामंजस्य। जाहिर है, यह नारा एक "वैश्विक चिन्तन और चिन्ता" का परिणाम है। इसका प्रभावपूर्ण सर्वव्यापी पदार्पण अनुवाद के माध्यम से ही संभव हो सकता है।

इस प्रसंग को और अधिक न बढ़ाते हुए, मैं देशी साहित्य के अनुवाद की आवश्यकता को उस निगाह से भी देखता हूँ जिस निगाह से सुविख्यात रूसी इतिहासविद् और लेखक निकोलाई कारामजिन (Nikolai Karamzin) ने देखा है। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अनुवाद (१७९२) की भूमिका में लिखा था, रचनात्मक आत्मा केवल यूरोप में ही नहीं बसता, यह तो पूरे विश्व का नागरिक है। इन्सान हर जगह इन्सान है। उसके पास, हर जगह एक संवेदनशील हृदय और अपनी कल्पना के आइने में स्वर्ग और नरक है। वस्तुतः अनुवाद के माध्यम से विश्व संस्कृति के बनने में जबरदस्त कार्य हुआ है और मनुष्यता हर छत्र के नीचे उपलब्ध हो सकी है। हाँ, इतना कहना अवश्य बनता है कि अनुवाद कार्य में गति की बहुत बड़ी अपेक्षा अब भी बनी हुई है। एशियाई देशों के साहित्य–क्षेत्र में अनुवाद की स्थिति काफी दयनीय है। अनुवाद–क्रिया एक निरन्तर क्रिया है। यह क्लासिक्स या साहित्य के कुछ अंशों के अनुवाद तक सीमित नहीं रह जानी चाहिए।

विदेशी साहित्य के अनुवाद की आवश्यकता पर बल देना जितना आसान है उतना ही उक्त साहित्य का अनुवाद–कर्म ज़ोखिम और चुनौतियों से भरा है। सबसे बड़ी चुनौती तो भाषा–भेद तथा अनुवाद को लेकर मतभेद हैं। कुछ लोगों की मान्यता है अपनी भाषा से ही–यानी उसे पूरी तरह अर्जित करके ही किया जाना चाहिए। ये लोग "माध्यम भाषा" को अनुवाद की श्रेष्ठता और प्रामाणिकता की दृष्टि से नकारते हैं। विडंबना यह है कि विश्व की सभी भाषाओं को सभी देशों में जानने वालों की संख्या न के बराबर है। ऐसे में प्रायः अंग्रेजी से (कम से कम भारत में) अनुवाद किए जाते हैं। अंग्रेजी के माध्यम से किसी अन्य भाषा के अनुवाद को कितनी ही प्रशंसा क्यों न मिल जाए लेकिन उसे कुछ कमतर कार्य ही समझा जाता है। गाहे–बगाहे, सलाह मिल जाती है, अच्छा होता यदि भाषा सीख लेते। यहां मुझे कोरियाई कविताओं के अंग्रेजी में अनुवाद करने वाले अनुवादक प्रोफसर डेविड आर. मेक्कन की बात याद आ रही है। उनका कहना है कि माना भाषा–ज्ञान की सुविधा महत्वपूर्ण है, लेकिन एक अर्थ में, पूर्णता के अर्थ में नहीं। अच्छे और ठीक अनुवाद के लिए मूल और लक्ष्य भाषा की पूर्ण जानकारी ही पर्याप्त नहीं होती। वस्तुतः एक अच्छे अनुवादक का पहला लक्ष्य होता है रचना, मसलन कविता को एक पूर्ण वस्तु के रूप में जानना। मूल को एक कविता के रूप में समझना। पूर्ण कविता के रूप में समझना कविता के "अर्थ" के रूप में समझने से भिन्न भी हो सकता है। एक लेटिन अमेरिकी लेखक ने कहा था, जो मैंने कहा है, उसका अनुवाद मत करो, उसका अनुवाद करो जो मैंने कहना चाहा है। यानी केवल शब्दों का अनुवाद मत करो बल्कि जिस संदर्भ में उन शब्दों का अर्थ निकलता है, उसका

अनुवाद करो। विशेष रूप से, कुशल अनुवादक जानते हैं, कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिन्हें हम सांस्कृतिक शब्द कह सकते हैं, उनका अनुवाद सहज नहीं होता। जिन कविताओं में भौगौलिकता अधिक होती है उनका अनुवाद भी बहुत कठिन होता है जब तक कि अपेक्षित तैयारी न कर ली जाए। ब्रिटिश कवि एन्थोनी थ्वेट (Anthony Thwaite) ने इसीलिए कहा है कि अनुवाद शब्दों का नहीं होता, वह तो तात्पर्य को जो प्रत्यक्ष हो या अन्तर्निहित, स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। यह धारणा अनुवाद को पुनर्रचना की कोटि तक पहुँचा सकती है। दूसरी ओर हिन्दी के शीर्षस्थ अनुवादक विष्णु खरे हमेशा ठीक–ठाक, यथासंभव, यथावृत, अनुवाद के कायल हैं वे "पुनर्रचना" अथवा "अनुरचना" को खराब अनुवादकों का एक दुर्निवार लक्ष्य मानते हैं। इसी प्रसंग में, उन्होंने अनुवाद की एक ऐसी चुनौती का भी उल्लेख किया है जो प्रायः उन अनुवादकों को धेरती है जो स्वयं भी रचनाकार होते हैं। विष्णु जी के अनुसार, उन्हें अपनी रचनात्मकता को, अनूदित कृति पर मढ़ना या थोपना हमेशा मूल के साथ एक अवांछनीय ज़्यादती लगी है। असल में, इस प्रकार के थोपने के प्रति जो रचनाकार–अनुवादक सजग नहीं होता, वह भाषा–शैली और रूप की दृष्टि से किसी भी कविता का समान अनुवाद करता है और हर कविता या कवि का जो अपना निजपन वैशिष्ट्य होता है, उसे नेस्तनाबूद कर बैठता है।

अनुवादक यदि किसी "माध्यम भाषा" के सहारे से अनुवाद कर रहा है तो उसे "प्रामाणिक अनुवाद की चुनौती" को नहीं भूलना चाहिए। जहां तक हो सके, प्रयत्न करना चाहिए कि अत्यंत प्रामाणिक माने गए अनुवाद को खोज निकाले। यह निःसंदेह परिश्रम–साध्य ही नहीं पेचीदा काम भी है। लेकिन, यह जानते हुए भी कि कोई भी अनुवाद अंतिम या पूर्ण नहीं हो सकता, अच्छे अनुवादक को यह कार्य करना ही होता है। स्वयं मैंने, ज़रूरत पड़ने पर ऐसा ही किया है। विष्णु खरे ने "कालेवाला" के उपलब्ध अंग्रेजी अनुवादों में से, के. डब्लयू.एफ.कर्वी के फिनी से अंग्रेजी में किए गए अनुवाद को, हिन्दी में अनुवाद के लिए चुना क्योंकि फिनलैंड में उसे मानक माना गया है।

मैंने अपने अनुभव से जाना है कि मूल भाषा का अज्ञान या अल्प ज्ञान अच्छे अनुवाद की राह में उतनी बड़ी चुनौती या अड़चन नहीं बनता जितना रचना के परिवेश की नासमझी या अल्पसमझी बनती है। कोरियाई कविताओं तथा दूसरी रचनाओं के अनुवाद करते समय मुझे कोरिया के जीवन, वहां की संस्कृति, वहां के आकार, वहां के लोगों, वहां के इतिहास के संसर्ग और साक्षात् ने जितनी जो सहायता दी वह अद्भूत थी। इनके अभाव में, कितने ही कोरियाई शब्दों की जानकारी के बावजूद, मैं रचनाओं की गहराई में जा ही नहीं सकता था। मैं तो कहता हूँ कि समर्पित अनुवादक को उस देश की जमीन पर ज़रूर रहने का अवसर मिलना चाहिए जिस देश के साहित्य का वह अनुवाद कर रहा है या करना चाहता है।

मेरे पास कुछ ऐसे अवसर भी थे जो प्रायः अनुवादकों को कम ही नसीब होते हैं। इन अवसरों ने मुझे प्रयोगधर्मा बनाया। मैंने संकेत किया था कि उपलब्ध अंग्रेजी अनुवाद मैं देख

गया था। प्रामाणिक अनुवाद भी चुन लिया था। इसके बावजूद कठिनाई थी। कोरियाई जन–जीवन का साक्षात् अंग्रेजी अनुवादों की अक्षमता भी सामने ले आता था। यूँ बात बन गई। कुछ कविताएं ऐसी थीं जिनके उत्कृष्ट होने की जानकारी (कोरिया में रहने और कवि–मित्रों के संसर्ग के कारण) तो थी किन्तु वे अंग्रेजी में उपलब्ध नहीं थीं। ऐसी कविताओं के अनुवाद की चुनौती का मैंने एक प्रयोग के द्वारा सामना किया। मैंने हिन्दी सीख रहे अपने विद्यार्थियों की एक टोली बनाई। उनसे कोरियाई कविताओं के आशय और अर्थ लिख लाने को कहा। एक बार में एक ही कविता को। फिर कई बैठकों में उन पर चर्चा हुई। रचना और रचनाकार सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री से भी परिचय प्राप्त किया गया। तब कहीं जाकर कविताओं के हिन्दी में अनुवाद किए गए। इसके हिन्दी अनुवादों को, बिना मूल देखे, कोरियाई में लिखने का काम दिया। तब मूल से मिलाकर यह देखा गया कि हिन्दी का अनुवाद किस हद तक उसके करीब हुआ। हाँ, इस सबसे पूर्व कोरियाई कविताओं के इतिहास, काल क्रमानुसार उसके विकास तथा उसकी विशेषताओं से अपने को जरूर परिचित करा दिया था। मैंने ही नहीं बल्कि मेरे विद्यार्थियों और कोरियाई मित्रों ने भी पाया कि अनुवाद अच्छे हो गए हैं। इस बीच भाषा को जानने का थोड़ा बहुत प्रयत्न भी चलता रहा। यह बात अलग है कि समयाभाव के कारण इस लक्ष्य की पूर्ति न हो सकी।

कोरिया में रहते हुए अनुवाद की एक और चुनौती का भी मैंने सहज ही सामना कर लिया था। रचनाओं के चयन की चुनौती, हम प्रायः उन्हीं रचनाकारों और उनकी भी उन्हीं रचनाओं के अनुवाद किया करते हैं जो या तो पुरस्कारों और राजनीतिक कारणों से प्रसिद्ध हो जाया करती हैं अथवा जो हमारे पास हमारे कुछ विदेशी मित्रों के माध्यमों से पहुंच जाया करती हैं। विदेशी मित्र यदि किसी एक साहित्यिक गुट से सम्बद्ध हुआ तो वह भूलकर भी विरोधी गुट से सम्बद्ध लेखक की रचना के अनवाद की सिफारिश नहीं करेगा। मैं, दावे के साथ कह सकता हूँ कि साहित्य के अनुवाद के क्षेत्र में भी गुटपरस्ती का आलम है और वह भी अपने ही देश में नहीं, बाहर के देशों में भी है। मैंने पाया है कि बाहर के कुछ देशों में हिन्दी के उन रचनाकारों के ही ज़्यादातर अनुवाद हुए हैं जो गुटवादिता की मेहरबानी से अपने यहां भी प्रचारित–प्रसारित हैं। शेष छूट जाते हैं–उपेक्षित रह जाते हैं–इससे किसी देश का पूरा कविता साहित्य सामने नहीं आता। कोरिया में रहते हुए मैंने जान लिया था कि वहाँ भी एक–दूसरे को काटने वाले हैं – अपने–अपने पूर्वाग्रहों के कारण। मैंने इसकी उपेक्षा की और संतुलित ढंग से चयन करने का प्रयत्न किया।

कई अनुवादकों ने छन्दोबद्ध अनुवाद कर एक अन्य चुनौती का सफल सामना किया है। मैं समझता हूँ कि यदि मूल कृति के अभिव्यक्तिगत मूल सौन्दर्य को लक्ष्य भाषा में लाना हो तो मूल कृति की मूल भाषा को जानना लगभग अनिवार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कई और चुनौतियाँ भी होती हैं जिनसे हर अनुवादक अपने–अपने ढंग से जूझता है। चुनौतियों से जूझने में असमर्थता बहुत बार कृति के अनुवाद करने की ललक को मार दिया

करती है। पूरी तैयारी के अभाव में भी हम कितनी रचनाओं को खारिज करते चलते हैं और ऐसे में कुछ महत्वपूर्ण रचनाओं को अपने अनुवाद से वंचित रहना पड़ता है।

अन्त में, इतना ही कहना चाहूँगा कि अनुवादक के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती होती है रचना को रचना के स्तर से न गिरने देते हुए, रचना को अपनी भाषा का ऐसा रूप देना कि पाठक को लगे कि वे अपनी ही भाषा में कोई मूल रचना पढ़ रहे हैं। अनुवाद वही सफल होता है जो पाठक को आस्वाद के उस धरातल पर पहुँचा दे जो मूल का आधार हो। यह कार्य विदेशी साहित्य के संदर्भ में भारतीय भाषाओं के आपसी अनुवादों की तुलना में कठिन होता है, लेकिन ग़नीमत है असम्भव नहीं।

□□□

उर्दू की महिला कथाकार : टकराव और विरोध की बदली हुई कथाएं

● मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी

महिला कथाकारों ने जब भी क़लम उठाई है, वही पुराने, स्वयं को हुकमरानी के जर्जर कम्बल में छुपे हुए मर्द के सामने पाया है। शताब्दियों की सभ्यता में वही मर्द की जात उसके क़लम का निशाना बनी है। कभी खजुराहो के मन्दिरों में उसने मर्द के आगे अपने हथियार डाल दिये हैं तो कभी उसके ज़ुल्म के आगे अपने सर झुका दिये हैं। आर्यावर्त्त में, औरतों की दासता के हज़ारों वर्षों की यात्रा में, अब धीरे-धीरे औरत का बदला हुआ रूप सामने आ रहा है ....

तीन विभिन्न शेड्स

(क) "नई शताब्दी में प्रवेश करते हुए और विश्व गाँव (Global Village) की सजीव वस्तु होते हुए भी मेरे अपने अन्दर की एक दुनिया है। मैं रचनात्मक प्रक्रिया को कविता, संगीत या कला तक ही सीमित नहीं देख सकती। मुझे एहसास है कि टेकनोलोजी का साम्राज्य स्थापित करने वाला 'बिल गैट्स' भी एक रचनाकार है जिसके विस्तार ने विश्व के हर रचनाकार की रचनात्मक प्रक्रिया को प्रभावित किया है। मेरी नज़र में 'नोम चोमिस्की' एक बड़ा रचनाकार है कि उसका लेख अमरीकी राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के बख़िये उधेड़ कर रख देता है......."

अबाबिलें लौट आएगी (तरन्नुम रेयाज़), पेश लफ्ज़)

(ख) "औरत....... उसे स्वयं से नफ़रत का एहसास हुआ। ऐसा क्यों? औरत सभी व्यवहार में, जीवन के हर मोड़ पर पवित्रता की धूल झाड़ते ही चित्त क्यों हो जाती है? एकदम

से चित्त और हारी हुई....मर्द जीतता है। और औरत कितनी बड़ी क्यों न हो जाये.....औरत की महानता कहाँ सो जाती है..."

जुर्म (तबस्सुम फ़ातिमा.......'लेकिन जज़ीरा नहीं' कथा संग्रह से)

(ग) "मैं असीम चाह के साथ–साथ उससे बहुत नफ़रत भी करने लगी। एक साथ दोनों जज़्बे मुझ पर व्याप्त थे। मुहब्बत के मारे मैं उसके गन्दे मोज़े तक सूंघती और भीगी बनियान अपनी तकिया पर रख देती।"

वह अज़ीब क़िस्म का ज़लील और कमीना व्यक्ति था। मैं रोती तो वह उठकर सबसे पहले घर के दरवाज़े खिड़कियाँ बन्द करने लगता। हाथ–पैर जोड़ने लगता....ख़ुदा के लिये मत रो, लोग तुम्हारा रोना सुनेंगे तो मेरे बारे में क्या राय स्थापित करेंगे?

नेक परवीन (ग़ज़ाल ज़ैग़म......'एक टुकड़ा धूप', कथा संग्रह से)

यह बदली–बदली हुई महिला कथाकारों की कथाओं के तीन विभिन्न शेड्स हैं, जहाँ ख़ास तौर पर दृढ़ फ़ैसले जारी किये गये हैं।

● औरत अब 'नेक परवीन' बनकर नहीं रह सकती। (ग़ज़ाल जैग़म), दुःख मौसम कहानियों के दिन बीत गये। औरत अब दुःख से समझौता नहीं कर सकती....पति उसके लिये यदि बुल डॉग (ग़ज़ाल की कहानी 'नेक परवीन' के आगे का अंश देखिये) तब भी ऐसे पति को "हैण्डल" करना वह अच्छी तरह जानती है और वह, 'नेक परवीन' केवल अपने पति पर आश्रित नहीं है।

यह कहानी का एक अंश है। अब एक दूसरा दृष्टिकोण देखते हैं।

● औरत ही हर बार चित्त क्यों होती है? शारीरिक ढंग से भी इस पराजय से बाहर निकलने का उत्साह कोई साधारण उत्साह नहीं है। याने औरत किन–किन ढंग से अपने–आपको जाँच सकती है, यह विचार करने का मौक़ा है।

● नई शताब्दी के ग्लोबल गाँव से आज की औरत अनदेखी नहीं है कदाचित् इसी कारण वह पुरानी शताब्दी से बाहर निकलकर कुछ अधिक फैल गई है या कुछ नई जिज्ञासा की इच्छुक है।

तरन्तुम रेयाज़, ग़ज़ाल ज़ैग़म और तबस्सुम फ़ातिमा नई शताब्दी की नई दुनियाओं के बारे में जिस प्रकार सोच–विचार कर रही हैं, वह हमारे लिये न केवल नया है बल्कि चौंकाने वाला है।

पुराने किस्से : नया आंगन

मुमताज़ शीरीं से ख़दीजा मस्तूर, मिसेज़ अब्दुल क़ादिर से.....रोमांचक कथाओं वाली हिजाब इमतेयाज़ अली, इस्मत चुग़ताई, क़ुर्रतुलऐन हैदर से वाजदा तबस्सुम और रफ़ीया मंज़ूरुल अमीन, शमीम सादिक़ा, ज़ाकिया मुशहदी से तबस्सुम फ़ातिमा, तरन्नुम रेयाज़ और ग़ज़ाल ज़ैग़म तक जो विभिन्न मत्तता में कल मौजूद थे वही आज भी मौजूद हैं....मुमताज़

शीरीं जलते हुए अंगारों की बारिश करती हैं तो ख़दीजा, आंगन के बटवारे पर सौ–सौ आँसू बहाती हैं। श्रीमति अब्दुल क़ादिर गंभीरता से औरत के स्त्रीत्व बदलते समय और बदलते तेवरों की बात करती हैं तो हिजाब इमतयाज़ अजी, एक रोमांचक वादी में रोमांचक प्राणी वर्ग को इक्ट्ठा करके ख़ुश हो जाती हैं। अर्थात् एक डरावने माहौल में यह संसार एक ऐसा चिन्ह बन जाता है, जहाँ प्राणों का बसेरा है और मानव केवल भूत–प्रेत......जो एक–दूसरे को डरा–धमकाकर अपना उल्लू सीधा कर रहा है।

इस्मत की घटना दूसरी थी। इस्मत ने लिहाफ़ में "खौफ़ज़दा" पागल हाथी देख लिया था। पता नहीं यह उनके घरेलू माहौल का असर था, मज़बूर समाज की सितम ज़रीफ़ियों का दबाव, चौथी के जोड़ा से चाचा चाबड़े तक, इस्मत लिंग वर्ग में ही औरत से सम्बंधित कहानियाँ खोजती रहीं और इसलिये लिहाफ़ के अन्दर से दीवारों पर रेंगते पागल हाथी से अधिक कुछ भी देख पाने में असफल रहीं।

वास्तव में यह इस्मत की कहानियों का क़सूर नहीं था बल्कि यह मान और सम्मान का अकाल था।

कुर्रतुलऐन हैदर की दुनिया इस सम्बंध में थोड़ा भिन्न थी। अर्थात् वह औरत के सम्बन्ध में बहुत हद तक Confused थीं याने उनकी आपबीतियों में महिला के लिये उनका जला–कटा रुख ऐसा था, जैसे कोई घमण्डी राजकुमारी अपनी दासियों को नफ़रतभरी दृष्टि से देख रही हो.....चाहे उनमें फिल्म एक्ट्रैस नरगिस हो या कोई तिरम खानम, कुर्रतुलऐन हैदर ने कभी महिला की समस्याओं की परवाह नहीं की। उनके पास अतीत का एक झरोखा था, लिखने की एक मेज़ थी और आत्मप्रशंसा का मनोभाव था, जिसके आगे–पीछे उनकी आँखें कुछ भी देख सकने की स्थिति में नहीं थीं।

वाजदा तबस्सुम की क़लम 'होर ऊपर, होर ऊपर' से आगे कभी नहीं बढ़ी। याने जिस हद तक औरत के 'होर ऊपर, होर ऊपर' की कल्पना को वह चटकारेदार शब्दों में प्रस्तुत कर सकीं। याने औरत की प्राप्ति उनके निकट "चटकारे" से अधिक महत्व नहीं रखती थी; दूसरा दृष्टिकोण उनके यहाँ यह भी सामने आता है कि क़ुदरत की यह हसीन देवी ने तो केवल प्राप्ति के लिए ही जन्म लिया है। कहानी "उतरन" हो या "सातवां आसमान" वाजदा क़लीम ने औरत को नंगा ही किया है। इसीलिए ऐसी कहानियों में कभी भी औरत की साइकी नहीं उभर सकी और न ही विरोध की फ़िज़ा पैदा हो सकी।

इसके विपरीत देखें तो मसरूर जहाँ, रफ़ीआ मंज़ूरुल अमीन, शमीम सादिक़ और ज़किया मुशहदी की कहानियों की फ़िज़ा भिन्न थीं। एक ओर रफ़ीआ मंज़ूरुल अमीन जहाँ मानवीय समस्याओं के दर्द, ज़मीन की भाषा में सुनाने का प्रयास कर रही थीं, शकीला अख़्तर औरत को डायन बनाने वाले कारणों पर विचार कर रही थीं। शमीम सादिक़ा विद्वत्ता के सहारे औरत की साइकी की जाँच कर रही थीं। ज़किया मुशहदी के यहाँ दृश्य रचना ग़ज़ब की थी.....याने वह एक ऐसी पेन्टर थी जिसकी दृष्टि से कोई भी शेड या रंग बचकर

नहीं निकल सकता था। उनके यहाँ ज़बरदस्त आंशिक रचना थी, परन्तु विरोध की भावना यहाँ भी धीमी–धीमी थी। हो सकता है यह शिल्प का दवाब हो, माहौल और समाज का दबाव हो, परन्तु यह अवश्य है कि विरोध के सुर के बावजूद ज़किया ने अपनी कहानियों में "औरत की चीख़" को कभी हावी नहीं होने दिया।

महिलाओं के इस कारवां में बहुत से नाम रह गये हैं, मुझे इस बात का एहसास है। लेकिन नामों की गिनती करना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है। महिला कथाकारों ने जब भी क़लम उठाई है, वही पुराने, स्वयं को हुकमरानी के जर्जर कम्बल में छुपे हुए मर्द के सामने पाया है। शताब्दियों की सभ्यता में वहीं मर्द की ज़ात उसके क़लम का निशाना बनी है। कभी खजुराहो के मन्दिरों में उसने मर्द के आगे अपने हथियार डाल दियें हैं तो कभी उसके ज़ुल्म के आगे अपने सर झुका दिये हैं। आर्यावर्त में, औरतों की दासता के हज़ारों वर्षों की यात्रा में, अब धीरे–धीरे औरत का बदला हुआ रूप सामने आ रहा है.........

मुमताज़ शीरीं की चीख़, उसके बदले हुए रुख़ का एक हिस्सा थी.....

लेकिन इस्मत के लिहाफ़ का हिलना डुलना, औरत समर्पण के लक्षण हैं। याने मर्द की दुश्चरित्रता और दासता से घबराई औरत LESBIANISM की आग़ोश में पनाह लेती है। यह विरोध नहीं है, पराजय है और इस्मत की अधिकतर कहानियां ऐसी ही पराजय से दो–चार हैं। यहाँ औरत दो–दो हाथ नहीं करती है, मर्द ज़ात की पराधीनता स्वीकार कर लेती है या बहुत अधिक किया तो अत्याचार के घर से निकलकर दूसरे घर में चली जाती है।

तरन्नुम, तबस्सुम, ग़ज़ाल : परिवर्तन का नया दौर और चीख़ती कहानी

"वह तुरत अपनी कोर्स की किताबें समेटकर कोठे पर चढ़ गई। वह ख़ानदान की पहली लड़की थी जिसको कॉलेज में शिक्षा दिलाई जा रही थी।

अम्मा जानी चिल्लाती रहीं। वह ऊपर चढ़कर नोट्स बनाती रही और क़ानून पढ़ने की ज़िद बांध ली।

"पूरा ख़ानदान क़ानून पढ़ने के ख़िलाफ़ है यह भला लड़कियों के पढ़ने की चीज़ है।"

"बड़े चाचा! यह विद्या है और विद्या प्राप्त करना मेरा हक़ है"

— सूर्यवंशी चन्द्रवंशी (ग़ज़ाल ज़ैग़म)

"श्रवण शक्ति से एक कहकहा टकराता है.....मेरी सल्तनत के बारे में सुना? अब यहाँ के क़ानून बदल गये हैं, विचार में परिवर्तन आ गया है। अर्से से अन्धेरी गुफ़ा में बन्द क़ैद जिस्म में फफोले उग आये हैं।

यहाँ फफोलों का उगना जुर्म है कि यह अयोग्य लोगों की पहचान है ऐसे मुजरिम की आँखें निकाल दी जाती हैं।

"तुम्हारी आँखें तुम्हें वापस नहीं मिलेंगीं कि अब यहाँ का क़ानून बदल गया है। तुम्हारे हाथ कितने नर्म हैं। पाँव कितने नाज़ुक, पहले इन्हें कठोर बनाओ। इतना कठोर कि इनमें फफोले न उग सकें।

नया क़ानून (तबस्सुम फ़ातिमा)

"मर कर भी तुम्हें चैन से जीने नहीं दूंगी। शैतान दरिन्दे सांप.....अपने ही बच्चों को खाते हो....आदमी नहीं हो तुम सांप हो सांप......'

बाप (तरन्नुम रेयाज़)

तरन्नुम की कहानी की यह औरत, मर्द के अत्याचार से जन्मी है। कुछ वर्ष पूर्व से ही इस "नृशंसित" महिला ने कुछ अधिक ही अपने हाथ पाँव निकाल लिये हैं। अब यह औरत जान गई है कि पाणिग्रह पत्र के बदले मर्द के नाम को गले से लगाये रखने का ज़माना चला गया। अब यह औरत सांप की तरह "फुनकारने" पर न केवल विवश हो गई है बल्कि उसका बस चले तो दो क़दम आगे बढ़ाकर वह ऐसे मर्द की जान भी ले सकती है, चाहे वह उसका पति ही क्यों न हो।

ग़ज़ाल के यहाँ सारा ज़ोर शिक्षा प्राप्त करने पर है कि यह विद्या औरत को मर्द का मुक़ाबला करने के अनुकूल बनाता है। यही विद्या उसकी शिनाख़्त में सहायक होती है और इसी विद्या के सहारे औरत कहीं भी किसी के भी ख़िलाफ़ मोर्चा सम्भाल सकती है।

खुद्दारी की रक्षा और विद्या प्राप्ति के बाद का नया दृष्टिकोण, तबस्सुम की कहानियों उभरता है, "नया क़ानून" हर लिहाज़ से नया तजर्बा है। याने औरत को केवल नेक परवीन बनकर नहीं रहना है बल्कि अब नर्म मांसल हाथों और पांव का ज़माना चला गया। तबस्सुम देख रही हैं कि शताब्दियों से शारीरिक दुर्बलता के कारण औरत, मर्द के अत्याचार का शिकार होती रही है। अब इसे याने औरत को अपने हाथ पाँव इतने कठोर करने होंगे कि उनमें फफोले न उग सके.......

देखा जाये तो कहानियों में तैरते यह एहसास, न केवल नए हैं बल्कि महिला कथाकार के बदलते चेहरे और तेवर का भी पता देते हैं कि वर्षों की पराजय एवं तिरस्कार का बदला लेने के लिये औरत अब किस ढंग से सामने आ रही है। वह केवल लड़ाई पर आमादा नहीं है बल्कि वह शिक्षा ग्रहण कर रही है और दूसरी ओर अपने हाथ और पाँव को भी कठोर बना रही है। नई कथा की यह भूमि, वास्तव में भारतीय भूमि की समस्याओं से फूटी है और इसमें महिलाओं पर होने वाले अत्याचार एवं अन्याय की पुरानी दास्तान के अक्स मिल जायेंगे।

नई कथाएं, नई दशा

रुचिकर परिवर्तन इन कथाओं का गुण हैं। बदलते समय के साथ–साथ औरत भी बदली है। वह केवल राजनीतिक स्तर पर बिन्दरा नायके, इन्दिरा गांधी, ख़लिदा ज़िया या

सोनिया गांधी नहीं बनी है बल्कि अपने समय का थोड़ा–थोड़ा परिवर्तन का धुआँ पीते हुए वह मर्द की स्वामित्व का एक तुच्छ–सा खिलौना बनकर रह गई है। वह मर्द की पराधीनता का पुराना किस्सा बनकर अब नहीं रहना चाहती। वास्तव में अब शताब्दी के नये पृष्ठ पर वह मर्द के साथ खुबसूरत चूहे–बिल्ली का खेल खेलना चाहती है। उसे अपने अतीत और अतीत की नग्नता का एहसास है, जब वह खजुराहो में सजती थी और सती हो जाती थी। जब वह घर की लौण्डी या बांदी थी और मर्द के सौ–सौ अत्याचार उचित थे। जब वह ममता की मूर्त थी और मर्द की जागीरे सल्तनत उसके निर्बल अस्तित्व को लगातार रौंदने के प्रयास में लीन थी।

फिर भी औरत ज़रा–ज़रा–सी उठी।

पहले वह अत्याचार के वर्षों पुरानी रीति के खोल से बाहर निकली।

फिर धीरे–धीरे खुद की शिनाख़्त का सिलसिला आरम्भ हुआ, फिर उसने लड़ना सीखा।

भारतीय सभ्यता का सर्वेक्षण लें तो धीरे–धीरे वह इन्दिरा गाँधी जैसी प्रतिष्ठा पर भी पहुँची।

इस शताब्दी के अन्त होने तक, उसने मर्द के अत्याचार के विरुद्ध अपना मोर्चा संभाल लिया।

.... मैं भी क़ानून पढ़ूंगी (ग़ज़ाल ज़ैग़म)

.... मर्द ही हर बार सवारी क्यों करता है (तबस्सुम फ़ातिमा)

.... और ग्लोबलाइज़ेशन की फ़िक्र (तरन्नुम रेयाज़)

तबस्सुम फ़ातिमा, तरन्नुम रेयाज़ और ग़ज़ाल ज़ैग़म की नज़र, वक्त के आस–पास घूमते साये, सिचुएशन या रिश्तों में आने वाले परिवर्तनों पर तो है ही, परन्तु यह अपनी लेख से अकस्मात् सब कुछ बदल दिये जाने के हक़ में है......घर से दफ्तर और दफ्तर से राजनीतिक मेज़ कुर्सियों पर अपना आतंक स्थापित करने वाली औरत इन कमज़ोरियों को छोड़कर एक इनक़लाबी औरत के तौर पर सामने आचुकी है जिसका वास्तविक युद्ध मर्दाना समाज से है।

उर्दू की महिला कथाकारों ने हर दौर में अच्छी कथाएं अपने पाठक को सौंपी हैं, बँटवारे के विषय पर जमीला हाशमी के "बनवास" और इस्मत की "जड़े" से अधिक अच्छी कहानी कदाचित् ही किसी दूसरी भाषा में मिले। मुमताज़ शीरीं के अंगारे बरसाते शब्दों से अधिक आग शायद ही उस समय की दूसरी भाषा की कथाओं में नज़र आये......यह आग धीरे–धीरे जंगल की आग की तरह उर्दू की महिला कथाकार की कहानियों में फैलती चली गई। फलस्वरूप तरन्नुम रेयाज़, तबस्सुम फातिमा, ग़ज़ाल ज़ैग़म की कहानियों में न केवल विद्रोह

की कानाफूसी सुनने को मिलती हैं, बल्कि नई औरत का वह विद्रोही रूप भी नज़र आता है जो नई शताब्दी की औरत की IDENTITY या शिनाख़्त है। इसी कारण कहा जाता है कि 'अबाबिलें लौट आएंगी,' लेकिन जज़ीरा नहीं, 'एक टुकड़ा धूप का'.....नई शताब्दी के कैनवास पर बहुत महत्व रखती हैं, बल्कि आने वाले समय में जब भी महिला कथाकार की कथाओं का ज़िक्र आयेगा, तो इन कहानियों को IGNORE करना आसान नहीं होगा।

□□□

हिन्दी ग़ज़ल का आधारभूत चिंतन

● अनिरुद्ध सिन्हा

समकालीन ग़ज़ल की व्यापकता या इसकी विश्वसनीयता पर संदेह करना मानसिक दिवालियेपन के सिवा कुछ भी नहीं। हिन्दी ने अब इसे आत्मसात कर लिया है। यह कितनी विचित्र बात है, हिन्दी ने इसे जन्म दिया और उर्दू ने समृद्ध किया। हिन्दी भाषा और शिल्प के नये प्रयोगों और अभिव्यक्ति के नये अंदाज़ का नमूना दीक्षित दनकौरी के इस शेर में देख सकते हैं—

मैं जब भी ख़त में लिखता हूँ वहां सब खैर से होंगे
तभी क्यूं कांपती हैं उंगलियां भगवान ही जाने!

प्रसिद्ध वामपंथी आलोचक क्रिस्टोफर कॉडवेल की पुस्तक "भ्रम और यथार्थ" (Ilusion and Reality) साहित्य खासकर कविता के प्रति एक विशेष समझ पैदा करती है। उनके मत के परिदृश्य में समकालीन मुक्तछंद कविता को देखा जाए तो इसकी प्रासंगिकता ही समाप्त हो जाती है। ऐसे यह विवाद का विषय है। जहाँ तक मेरा मानना है इस पर बहस हुई ही नहीं, अगर हुई भी तो वह गंभीरता की परिधि तक नहीं पहुँच पाई। तो सवाल उठता है "क्या यथार्थ बुर्जुआ साहित्य का एक उपेक्षित हिस्सा है?" इस विचारणीय मुद्दे को केन्द्र में रखकर क्रिस्टोकर कॉडवेल के विचारों को देखा जा सकता है। उनका मत है, "कविता की विशेषताएं भाषा, समाज, व्यक्ति एवं यथार्थ से ग्रहण की जाती है, कविता भावात्मक प्रयत्न है, उसका संबंध मनुष्य के आवेग से होता है। कविता अ–सांकेतिक, मूर्त्त एवं अपने प्रभाव में संघात्मक होती है।"

भारत में इन्टरनेट के बढ़ते हुए नेटवर्क और खपत को ध्यान में रखकर देखा जाए तो वैज्ञानिक हस्तक्षेप मानवीय संबंधों एवं संवेदना पर लगातार हो रहा हे। एक कमरे में पूरे परिवार के साथ बैठकर अश्लील विज्ञापनों से युक्त सीरियलों को देखना यह कौनसी

पारिवारिक लयात्मकता और संवेदना की ओर इशारा करता है। हालांकि विश्व में कम्प्यूटर, इंटरनेट आदि माध्यमों से कामुकता और अश्लीलता के प्रक्षेपण को लेकर विपरीत आशंकाएँ प्रकट की जा रही हैं। विश्व बाज़ार में आज इनकी ताक़त मानवीय संबंधों में इस तरह रच–बस गई है जिसे कम करना मुश्किल प्रतीत होता है। भारत भी विश्व बाज़ार का एक हिस्सा है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में हिन्दी कविता को पारिभाषित करने से पूर्व कॉडवेल का यह विचार रेखांकित करना आवश्यक है "कविता में और भी बहुत कुछ होता है–मसलन पुनरुक्तियाँ, रूपक प्रतिपक्षता।" कॉडवेल ने अपने दूसरे मत में कविता को स्वतंत्र और सामंजस्यपूर्ण सृजन की, मनुष्य की सामान्यीकृत क्षमताओं के निर्माण में व्यापक अर्थ में लिया है। इसका अर्थ यह नहीं कि कविता के विस्तारीकरण के क्रम में इसके स्वाभाविक स्वरूप की हत्या कर दी जाए। स्वाभाविक स्वरूप से मेरा आशय है इसकी लाक्षणिक विशेषता जो छन्द और लय से उद्घाटित होती है। दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ और कविता कुछ अधिक कहने की चिंता में गद्य की चपेट में आ गयी। परिणामस्वरूप इसके अपने निजी पाठक इससे दूर होते चले गए।

गद्य और पद्य साथ–साथ नहीं चल सकते। दोनों की अपनी–अपनी युक्तियां और साधन हैं। यहाँ तक कि दोनों के पाठक भी अलग–अलग हैं। गद्य की तुलना में पद्य के पाठक अधिक गंभीर होते हैं। पद्य में युग के भाव, अभाव और आकांक्षा का मार्मिक चित्रण होता है। प्रकाशित या अप्रकाशित रूप में अपने युग की संवेदना को झंकृत करने की शर्त कविताओं में आवश्यक रूप से पायी जाती है। यह शर्त लयात्मकता में और भी प्रबल हो जाती है। शायद यही कारण है, हिन्दी कविता में छंदों की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया गया है। हालांकि छंदों के बंधन से मुक्त होने के काफी प्रयास किए गए मगर सफलता नहीं मिली। छंदों की प्रासंगिकता बनी रही।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में अगर छंद को पारिभाषित किया जाए तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि छंद सामाजिक चेतना का रूप, आत्मिक उत्पाद का एक प्रकार, एक निश्चित विचारधारा का संवाहक, चिंतन का एक विशिष्ट कोण सौन्दर्यात्मक ढंग से व्यक्त प्ररूप और साहित्य का कलात्मक संज्ञान है। कलात्मकता प्रतिबिंबन की सक्रिय प्रकृति है जिसका आधार देशकाल और परिवेश की संस्कृति से है। भारत की संस्कृति पर किसी अन्य देश की संस्कृति प्रतिस्थापित करने की कोशिश की जाएगी तो उसका परिणाम नाकारात्मक होगा। सामाजिक वास्तविकता के सत्य के विपरीत समाजवैज्ञानिक विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टि से विचारों की नपुंसकता ही मानी जाएगी। साहित्य यथार्थ का पोषक है भ्रम का नहीं।

मुक्तछंद कविता के सबसे बड़े पक्षंधर निराला थे। वे अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। उनकी कविताओं में सामाजिक यथार्थ के साथ–साथ गहनतर आभ्यंतरिक संबंध भी विद्यमान हैं। समाज के आत्मिक जीवन के बहुविध क्षेत्रों के उद्घाटन में जहाँ छंद की बाधा या प्रतिबद्धता महसूस हुई उन्होंने उसे तोड़कर अपने विचारों को पूर्णता दी। इसका मतलब छंद

की सापेक्षता का त्याग कतई नहीं है। परिमल की भूमिका में अपनी इस सोच का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा भी है" जहां मुक्ति रहती है, वहां बंधन नहीं रहते, न मनुष्यों में, न कविता में। यदि किसी प्रकार का शृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया तो वह कविता उस शृंखला में जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्तमय कह सकते हैं।"

ग़ौरतलब है निराला ने शृंखला तोड़ने की बात कही है। शृंखला का मतलब है छंदों की शृंखला। उन्होंने विचार पर विशेष ज़ोर दिया। हो सकता है कभी उनकी वैचारिक शृंखला को छंदों की शृंखला ने आहत किया हो। बावजूद इसके निराला पर छंद की अवहेलना का आरोप नहीं लगाया जा सकता। उन्होंने कई नवीन और कठिन छंद गढ़े हैं। उनकी सारी कविताएँ छंद में हैं। हाँ भले कहीं–कहीं पर उन्होंने छंद के यथार्थवादी सिद्धांत को ठुकराया है। छंद का अनुशासन विशेषकार गीत, दोहा, ग़ज़ल आदि पर विशेष रूप से लागू होता है, क्योंकि इनमें एक ही छंद में समान अत्यानुप्रास वाले तुक के सांचे में ढलना आवश्यक है। शायद यही कारण है जिससे एक ध्वन्यात्मक वातावरण का निर्माण होता है।

अपाहिज व्यथा को वहन कर रहा हूँ
तुम्हारी कहन थी कहन कर रहा हूँ

छंदशृंखला : मुफालुन–मुफालुन–मुफालुन–मुफालुन

या

लघु+गुरु गुरु+लघु+गुरु गुरु+लघु+गुरु गुरु+लघु+गुरु,गुरु

निराला ने इस छंदशृंखला की बात की, मगर लोगों ने इसका ग़लत अर्थ ले लिया। परिणामस्वरूप हिन्दी कविता धीरे–धीरे गद्य की चपेट में आ गयी। यह सही है छंद थोड़ा कठिन इसलिए भी है क्योंकि इसमें वैचारिक समझदारी और योजनाधर्मिता का समावेश आवश्यक है। थोड़ी–सी भी असावधानी इसकी आत्मा को लहूलुहान कर देती है।

यह सही है कि कोई भी साहित्य युग–भावना से निदेशित होता है, मगर इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस युग–भावना को आम पाठकों तक लेजाने के लिए साहित्यकारों ने कौनसा रास्ता चुना है। पाठकों की मनोवेदना के प्रगाढ़ रंग क्या उस रास्ते पर हैं। मोटे तौर पर हम पाठकीय स्वीकृति भी कह सकते हैं। पाठकों की कल्पना शक्ति और उनके सपनों के साक्ष्य के कुछ अवशेष हैं या वह रास्ता बिल्कुल नया है। साहित्य और समाज को अलग–अलग दर्पण में नहीं देखा जा सकता। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि युग–भावना की वास्तविकताओं के प्रतिबिंबन का तरीका भी साहित्यकार जानें, अन्यथा साहित्य के नाम पर उनका पूरा लेखन बकवास साबित होगा। कुछ इसी तरह की आशंका हिन्दी कविता के समक्ष खड़ी है। कारण जानने की उत्सुकता कुछ आलोचकों ने ज़ाहिर की, मगर गहन पड़ताल के अभाव में इस प्रश्न को यथावत छोड़ दिया गया। पठनीयता की नियमसंगत परिणति पर पहुंचे बग़ैर एक नयी परिभाषा जारी कर दी गयी, "समकालीन

कविता बौद्धिकता की मांग करती है।" इस नयी परिभाषा के बाद समकालीन कविता एक नए वर्ग के हिस्से में चली गयी या कर दी गयी जो आम पाठकों के लिए मूल चिंता का दुष्परिणाम कविता के समक्ष पठनीयता का संकट बनकर उभरा जो आज तक प्रभावी है। यदि यह सच मान भी लिया जाए कि समकालीन कविता बौद्धिकता की मांग करती है तो भी यह हिन्दी साहित्य की व्यवहारिक परिधि से बाहर खड़ी दिखायी पड़ती है। किसी भी साहित्य का महत्व इस बात से निर्धारित होता हे कि उसमें सामाजिक मूल्यों के प्रति कितना रुझान है। साहित्य को सामाजिक मनोदशा प्रतिबिंबित करने के लिए उसे व्यवहारिक होना पड़ेगा।

पिछले वर्षों में हिन्दी काव्य में अयथार्थ के जो क्षितिज उद्घाटित हुए उसका धुंधलका दुष्यंत कुमार के बाद धीरे–धीरे छंटने लगा। दुष्यंत कुमार ने हिन्दी कविता को एक नयी दिशा दी। उन्होंने हिन्दी तथा उर्दू भाषाओं के मिश्रित रूप में ग़ज़लें कीं। पाठकीय रुझान बढ़ा। सामाजिक प्रवत्तियों को उजागर करने में उनकी ग़ज़लें सफल भी हुईं। यह बात अलग है कि आलोचकों ने इसे अपनी पराजय के दर्पण में नहीं देखा या उनकी आत्ममुग्धता ने देखने का अवसर नहीं दिया। देखने और नहीं देखने का सिलसिला आज भी पूर्ववत है। समकालीन ग़ज़लों में फार्मूलाबद्ध प्रगतिशीलता की छाप कहीं भी नहीं देखी जा सकती। परिस्थितियों को जीवंत परिघटनाओं के रूप में ग्रहण करती हैं। उदाहरणस्वरूप, दुष्यंत कुमार के दो शेर–

घंटियों की गूंज कानों तक पहुंचती है
इक नदी जैसे दहानों तक पहुंचती है

आज सड़कों पर लिखे हैं सैकड़ों नारे न देख
घर अंधेरा देख तू आकाश के तारे न देख

स्पष्ट है दुष्यंत कुमार की ग़ज़लों में समाजवादी जीवन की सौन्दर्यमूलक संकल्पनाएं हैं, न कि उग्र वैचारिक संघर्ष का छद्म नारा। झूठी शोहरतों और प्रगतिशीलता की वाहवाही भरी तालियों की मोहताज़ नहीं हैं। उनके लेखन का मूल उद्देश्य था जीवन का आत्मिक सौन्दर्य। व्यवस्था विरोधी होने के बावजूद वे जनवादी या प्रगतिशील खेमों से बचते रहे। निजी भावनाओं की अभिव्यक्ति इनकी ग़ज़लों का मूल कथ्य है।

दुष्यंत कुमार के बाद जो पीढ़ी उभरकर सामने आयी उसने हिन्दी मुहावरों के साथ दुष्यंत कुमार द्वारा रखी गयी हिन्दी में नवीन छंदों की नींव को और भी पुख़्ता कर दिया। समकालीन ग़ज़लों में मनोरंजन आधार रहने के बावजूद यथार्थ की विश्वसनीयता और समग्रता दोनों मौजूद हैं। अनुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति के लिए यथार्थ से जुड़ना आवश्यक हो जाता है। यथार्थ जब कटु लगने लगे तब कवियों का दायित्व हो जाता है कि वह अपने लेखन में साहित्यिक सौंदर्य का समावेश करे। ऐसा नहीं करने से काव्य की ध्वन्यात्मकता पर

प्रतिकूल असर पड़ता है। समकालीन ग़ज़लकारों वे पास ऐसा तजुर्बा हासिल है। देखें गिरिराज शरण अग्रवाल का यह शेर—

चांद कहते है जिसे नभ का दुलारा हो गया
झांकता था जो क्षितिज से वह सितारा हो गया

इस शेर में आज के हालात की नंगी सच्चाइयां है, साथ ही काव्यात्मक सौंदर्य भी। विशुद्ध सांसारिक चित्रों को रेखांकित करने के बावजूद कवि की दृष्टि प्रकृतिवादी है। यथार्थ को सिर्फ सामाजिक विरोधी सूची में नहीं रखना चाहिए। प्रकृति के साथ भी एक रिश्ता हो। व्यक्ति का जो रिश्ता समाज से है वही रिश्ता प्रकृति से भी है। सामाजिक पहलुओं के अध्ययन में सूचनात्मक पहलू के अलावा दार्शनिक पहलू का भी बड़ा महत्व होता है। सीधी बातों को दर्शन के साथ जोड़ने की क्षमता हर किसी के भीतर नहीं पायी जाती। यह सत्य है लेखन में जीवन आवश्यक है, मगर यह भी सत्य है उसमें जीवन सौंदर्य हो अन्यथा वैसा लेखन निष्प्राण माना जाएगा। उसकी महत्ता सिर्फ छापे की खूबसूरती तक सिमट कर रह जाएगी।

आज़ादी के बाद भारत के विकास के संदर्भ में यदि योजनाओं का गणित देखा जाए तो साफ ज़ाहिर होगा कि भारत केवल योजनाओं का देश बनकर रह गया है। यहां योजनाएं बनती हैं जरूर, मगर वो फाइलों के गर्भ में ही दम तोड़ देती हैं। इसीलिए राजेश रेड्डी ऐसी योजनाओं के औचित्य को व्यंजित तो करते ही हैं, साथ ही इसके कार्यान्वयन की अपूर्णता से लोगों को आगाह भी करते हैं—

न हाथ आएंगे अरमानों के हिरन तेरे
बदल ले कितने तू तीरो—कमान बदलेगा

इसी बात को अशोक अंजुम साफ—साफ कहते हैं—

पाँच सालों की ज़िन्दगी के लिए
टोपियों ने दिखा दिए सपने

समकालीन ग़ज़ल की व्यापकता या इसकी विश्वसनीयता पर संदेह करना मानसिक दिवालियेपन के सिवा कुछ भी नहीं। हिन्दी ने अब इसे आत्मसात कर लिया है। यह कितनी विचित्र बात है, हिन्दी ने इसे जन्म दिया और उर्दू ने समृद्ध किया। हिन्दी भाषा और शिल्प के नये प्रयोगों और अभिव्यक्ति के नये अंदाज़ का नमूना दीक्षित दनकौरी के इस शेर में देख सकते हैं—

मैं जब भी ख़त में लिखता हूँ वहां सब खैर से होंगे
तभी क्यूं कांपती हैं उंगलियां भगवान ही जाने।

सामाजिक जीवन में व्याप्त कुरीतियाँ, विघटित हो रहे मानवमूल्य, आर्थिक विषमता, रिश्तों में फैलती अपसंस्कृति जैसी स्थितियों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से समकालीन ग़ज़लें युद्ध कर रही हैं। आधुनिकता की चकाचौंध में सामाजिक आदर्शों एवं उनके यथार्थ

के प्रति एक जागरूक प्रहरी की तरह चाहे वह बेटी के विवाह में दहेज जैसी घिनौनी कुप्रथा से आक्रांत एक पिता की पीड़ा हो या पारिवारिक विखंडन के बीच बाप–बेटों के टूटते रिश्ते हों, ग़ज़ल विरोध करने से नहीं चूकती। सियाराम प्रहरी के दो शेर–

घर पहुंच भी न पायी कि दुल्हन जली
कैसी बारात है और मत पूछिए

बेटियां जल गयीं या जलायी गयीं
आपको ज्ञात है और मत पूछिए

साहित्य के बिना न तो समाज गतिशील रह सकता है और न जीवन। हमारे युग में ज्ञानमीमांसीय गवेषणा के लिए साहित्य को महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। सामयिक समस्याओं और विचारों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करना साहित्य का प्रथम लक्ष्य होता है। साहित्य को गतिशील और जीवंत बनाए रखने के लिए उत्तम और समाजोन्मुख साहित्य की आवश्यकता है। इन दिनों ग़ज़ल के बहाने जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें सामाजिक सोच और आत्मिक सरोकार है। उद्भ्रांत, विभांशु दिव्याल, अमरेन्द्र, जहीर कुरेशी, प्रेमकिरण, सुल्तान अहमद, ज्ञान प्रकाश विवेक, शिवनंदन सिंह, अशोक आलोक, अखिलेश तिवारी आदि को ग़ज़ल लेखन की पहली सूची में देखते हैं। समकालीन ग़ज़लों में जीवन जगत की समस्याओं का व्याख्या है। पहली व्याख्या व्यक्तिवादी है, दूसरी सामाजिक आलोचनात्मक व्याख्या है। ये इसकी साकारात्मक उपलब्धियां हैं जो इसके बेहतर भविष्य के लिए पुरानी गुत्थियों को सुलझाने में सहायक सिद्ध होंगी।

□□□

जहाँ तक गीतों की वापसी का सवाल है

● कमल किशोर श्रमिक

गीत एक ऐसी प्रभावशाली (पूर्ण) विधा है, जिसके द्वारा ड्राइंगरूम में खेलती हुई बच्ची की भावनाओं से लगाकर अणुबम–विस्फोट एवं महायुद्ध के कुप्रभावों को सम्पूर्णता में व्यक्त किया जा सकता है, मौसम की जानकारियों को सार्थक शब्द दिये जा सकते हैं। मैंने कभी नहीं देखा कि मज़दूरों–किसानों के बीच कभी नई कविता का कोई कवि आया हो। यह कैसी वर्गीय प्रतिबद्धता है कि जिस वर्ग से आप वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध हैं, उसके पक्षधर हैं, उस वर्ग से अपनी कविता में संवाद नहीं कर सकते।

प्रकृति के उद्‌भव के साथ गीतों को जोड़ा जाना मात्र काल्पनिक नहीं है। पदार्थ में गति और गति में लय एक अमूर्त गीतात्मकता ही तो है, इस बात को प्राचीन भारतीय कवियों ने भलीभांति समझ लिया था। तभी तो निर्झरों का झरता स्वर, सरिताओं का कल–कल निनाद, पक्षियों का कलरव, वायु का लहराना, बिजली की चमक और गर्जन, सागरों की सीटी तक में गीत के स्वरूप की तलाश की गई। तनिक कल्पना करें मानव सभ्यता के प्रारम्भिक विकास में जब किसी आदिम स्त्री ने अपने रोते नवजात शिशु को स्तनपान कराते हुये उसे अपने बाहों में पालने की भांति झुलाया होगा और भाषा के अभाव में हर्षातिरेक में किलकारी मारते हुए अपने जीवनसाथी को मात्र संकेतों से रोते शिशु को चुप कराने की विधि बताई होगी, उस समय क्या किसी अर्मूत गूंगी लोरी (गीत) का जन्म नहीं हुआ होगा? जिसे वर्षों बाद भाषायी ज्ञान होने पर शब्द प्रदान किये गये होंगे। इस तरह हम कह सकते हैं मानव सभ्यता के सांस्कृतिक विकास में गीतों का योगदान अप्रतिम है, अनिवार्य है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। प्राचीन भारतीय लोकजीवन को ठीक–ठीक समझने के लिए कविता एक

ऐसा सोपान है, जिसके द्वारा मानव सभ्यता प्राचीनकाल से लगाकर आधुनिक काल तक उत्तरोत्तर ऊपर चढ़ती रही है। दूसरे शब्दों में गीतों के अस्तित्व को नकारना मानव संस्कृति के बड़े भाग को काट कर देखना है, किसी आधुनिक कवि ने 'गीतों' के बारे में ठीक ही कहा है–

ये बहुत दूर से चलकर आये हैं
जाने कितनों को कितना भाये हैं
तुम इन्हें मिटाने की क्यों सोच रहे
यह जीवन के कुछ राज़ छिपाये हैं
यह हृदय सिन्धु में जाने वाले गीत
मोती का पता लगाने वाले गीत।

छायावादी काल को गीतों का स्वर्णयुग और उस काल के काव्य–मंचों को काव्य–साधना के केन्द्र कहा जाता है। 1950 तक वह स्वस्थ परम्परा बनी रही। निराला, पंत, महादेवी, बच्चन, सुभ्रद्रा कुमारी चौहान आदि सैकड़ों कवियों के गीतपरक अवदान को हिन्दी साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता। कहा जाता है कि छायावादी काल से प्रभावित गीत अपनी बहुआयामी दृष्टि खोकर टाइप्ड होता चला गया। वास्तव में ऐसा है नहीं, यह अवधारणा भी उन कथित समीक्षकों के द्वारा प्रचारित की गई जो नई कविता या विचार कविता के पक्षधर थे। गीतों को भावातिरेक की विधा या छंदबद्ध कविता को यह कहकर खारिज करना कि इसमें जीवन के व्यापक आयामों का विश्लेषण नहीं हो सकता या इस विधा के द्वारा अन्तर्विरोध पूर्ण चिन्तन को व्यक्त नहीं किया जा सकता, सत्य नहीं हैं और अगर इसे सत्य मान भी लिया जाये तो नई कविता और गद्य में भी यही फर्क दृष्टिगत होता है। अगर हर विचार को विस्तार में व्याख्यायित करना ही आवश्यक है, तो गद्य पर्याप्त है और कविता की आवश्यकता ही क्या है! इस संदर्भ में प्रसिद्ध जनवादी कवि श्री शील का, जो स्वयं नई कविता भी लिखते थे, कथन था कि हमारे देश में कवि की एक अलग इमेज रही है। यहां कवि के रूप में नाथों, सिद्धों, सन्तों, फकीरों की एक परम्परा रही है। यही कारण था कि कवियों को आमजन सम्मान की दृष्टि से देखता था। कवि साहित्यकारों में श्रेष्ठ माना जाता था। यह बात कवियों को महाकवि बनाने वाले समीक्षक सहन नहीं कर पाये। राजनीति में जिस प्रकार मंत्री बनाने वाले अराजक तत्व स्वयं मंत्री बन गये, साहित्य में कवि को महाकवि बनाने वाले समीक्षक स्वयं कवि बन गये। इसके लिए छंदबद्धता को तोड़ना आवश्यक था। रामावतार त्यागी के इस सोच को पूर्णता देना अनिवार्य था कि "स्वर्ण को खोटा–खरा कसकर बताती है कसौटी, पर कसौटी स्वयं पत्थर है, खरा कंचन नहीं है।" महाकवि निराला ने चंद फ्री वर्स की कविताएं लिखकर ऐसे लोगों के लिए द्वार प्रशस्त कर दिये थे।

यह भी आकस्मिक नहीं है कि समकालीन कविता के पांच महाकवि मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदार, शमशेर, शील सभी छंदबद्ध कविता में महारत हासिल कर चुके थे। इस संदर्भ में डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन का दूरदर्शन पर लीलाधर जगूड़ी द्वारा लिया गया साक्षात्कार उद्धृत करना भी समीचीन होगा। जब जगूड़ी ने पूछा कि नई कविता और छंदबद्ध कविता में आप किसे श्रेष्ठ मानते है? तो डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन ने कहा था जो कवि छंदबद्ध कविता लिख लेता है, वही अच्छी नई कविता भी लिख सकता है।

यहां यह सब लिखने का मेरा यह अभिप्राय कतई नहीं है कि मैं नई कविता को मान्यता नहीं देना चाहता। गद्य में पद्य व पद्य में गद्य की अवधारणा प्राचीन समय से चली आ रही है। मैं तो यहां तक कह सकता हूँ कि महादेवी वर्मा और सहादत हसन मंटो के गद्य को अगर टुकड़ों में लिख दिया जाये तो यह एक अच्छी नई कविता का स्वरूप ग्रहण कर सकता है। जहां छंदबद्ध कविता में बहुत कुछ नारेबाजी या गद्य जैसा यांत्रिक लिखा गया है, वहीं विचार कविता का टनों कूड़ा अलमारियों की शोभा बढ़ा रहा है। छंदबद्ध कविता भारतीय आमजन को अपनी–सी लगती है, नई कविता बौद्धिक सार्थकता के बावजूद आम जनता को रास नहीं आई है। आज भारत का हर चौथा व्यक्ति कबीर, तुलसी, रहीम या निराला की रचनाएं सुना सकता है, किन्तु अज्ञेय समेत सैकड़ो नई कविता के किसी कवि की कोई पंक्ति उसे याद नहीं होगी। जहां तक बात कहने के प्रभाव का प्रश्न है, तो गीत की गागर में सागर की बात को कौन झुंठला सकता है। उदाहणार्थ कवि बच्चन व्यक्ति की क्षणभंगुरता को इंगित करते हुए कहते है–"माटी का तन माटी का मन, पल भर जीवन मेरा परिचय"। इसी बात को अज्ञेय के शब्दों में देखें–"पानी में मेढ़क कूदा गुडप"। अब आप ही (पाठक) निर्णय करें बात कहां प्रभावशाली ढंग से व्यक्त की गई है?

गीत एक ऐसी प्रभावशाली (पूर्ण) विधा है, जिसके द्वारा ड्राइंगरूम में खेलती हुई बच्ची की भावनाओं से लगाकर अणुबम–विस्फोट एवं महायुद्ध के कुप्रभावों को सम्पूर्णता में व्यक्त किया जा सकता है, मौसम की जानकारियों को सार्थक शब्द दिये जा सकते हैं।

1960 के आसपास देश की राजनैतिक, सामाजिक स्थिति में भारी परिवर्तन देखा गया! कांग्रेस के प्रति आम जन का मोहभंग, संविद सरकारों का पतन, किसान–मज़दूरों द्वारा अपने शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक हड़तालें एवं आंदोलन, विदेशी कम्पनियों की लूट, उपभोक्ता संस्कृति का भारतीय समाज में व्यापक प्रभाव, नक्सलवादी आंदोलन, बीमार लोकतंत्र की भ्रष्ट राजनीति, आतंकवाद आदि सब का प्रभाव कविता ग्रहण कर रही थी। क्योंकि कविता आसमान से अवतरित नहीं होती, कविता मानव जीवन की एक कलात्मक अनुकृति भर है। यह वही काल था जब द्वितीय विश्वयुद्ध की भयावहता से निराश होकर यूरोपवासी अस्तित्ववाद (क्षणवाद) में जीवन का तात्कालिक सुख तलाश रहे थे। टी.एस. इलियट या इजरापाउन्ड जैसे कवियों के प्रभाव वाली कविताएं भारत में आयात हो रही थीं। यहां का बुद्धिजीवी (अग्रेजीदां) कवि इस प्रभाव में रचनाएं लिख रहा था। श्री अज्ञेय के

संपादन में तारसप्तक का प्रकाशन पहले ही हो चुका था। प्रगतिवाद या जनवाद के स्थान पर प्रयोगवाद को स्थापित करने के भागीरथी प्रयास चल रहे थे। काव्य में मौलिकता एवं नयेपन के नाम पर भूखी कविता, नंगी कविता, अकविता, साठोत्तरी कविता, आक्रोशित कविता आदि दर्जनों काव्य–आंदोलन चलाये जा रहे थे। हर कवि वैचारिक रूप से अपनी बात को संप्रेषित करने के लिए नई या आसान विधा तलाश रहा था। इसी काल में भावनात्मक विधा या विचार के मामले में (आल्हा) घोषित किया गया। इसी काल में उपभोक्ता संस्कृति के व्यवसायिक प्रभाव के कारण वो काव्य मंच जो साधना के केन्द्र कहे जाते थे, विदूषकों, जोकरों के अखाड़े बन गये, क्योंकि एक गद्यात्मक विधा में लोगों को लतीफे सुनाने की छूट मिल चुकी थी और नई पीढ़ी का एक वर्ग इसे ही कविता समझ रहा था।

सन् 1960 तक बच्चन, रंग, नीरज, नैपाली, देवराज दिनेश, त्यागी, बालस्वरूप राही, महेश्वर तिवारी आदि लगभग सौ गीतकार मंचों पर छाये रहे, पत्र–पत्रिकाओं में छपते रहे, किन्तु मंचीय विदूषकों और साहित्य में नई कविता के समर्थक समीक्षकों की दोहरी मार के कारण यह सब हाशिये पर आ गये। गीतों को छापने वाली पत्रिकाएं (धर्मयुग–हिन्दुस्तान) बन्द होती गईं। आंदोलनरत अनियतकालीन पत्रिकाओं ने गीत को अछूत मानकर छापना बन्द कर दिया और साहित्य के कथित महारथी गद्यकारों ने सम्पूर्ण छंदबद्ध काव्य को पुराना (आउट आफ डेट) घोषित कर दिया। ज्ञात हो कि इन फतवाकारों में अधिकांश लोग वही थे, जो अंग्रेजी साहित्य से ऊर्जा प्राप्त कर रहे थे। ऐसे लोग एकेडेमिक कुर्सियों पर आसीन थे। गद्य और पद्य दोनों लिख रहे थे तथा समकालीन कविता के नये प्रतिमान गढ़ रहे थे। इन्हीं तथाकथित विद्वानों का साहित्य में भी वर्चस्व था और यही सब पाठ्य–पुस्तकों के कोर्स को भी निर्धारित कर रहे थे। यही कारण है कि समकालीन कविता के मूल्यांकन में जहां अनेकानेक अमूर्त लिखने वाले नई कविता के कवियों को महाकवि घोषित किया गया, वहीं कई समृद्ध छंदबद्ध कविता के कवियों का उचित मूल्यांकन न होने के कारण साहित्य में यथोचित स्थान नहीं मिल सका। पूरे देश के पैमाने पर ऐसे कवियों की एक बड़ी संख्या है। शील, रंग, शिशु, सुमन, नीरज, त्यागी, नैपाली, राही आदि गीतकारों को इसी उपेक्षित कोटि के कवियों में चिन्हित किया जा सकता है। हालांकि जनमानस के दिलों में इन गीतकारों के गीतों की गूंज अभी तक बनी हुई है।

सन् 1950 के आसपास जनवादी (क्रांतिकारी) साहित्य में माउत्सेतुंग की कविताओं या उनकी राजनैतिक अवधारणा (गांवों से शहरों को घेरो) का कोई प्रभाव नहीं था, इसी समय रंग लिख रहे थे "नगर–नगर बढ़ रही अमीरी मेरा गांव गरीब है"। इसी काल में शील का "देश हमारा धरती अपनी हम धरती के लाल, नया संसार बनायेंगे" गीत सम्पूर्ण देश में गूंज रहा था। मगर दु:ख के साथ लिखना पड़ रहा है कि समकालीन कविता के इतिहास में उक्त कवियों को एक बूंद स्याही तक नसीब नहीं हुई है। गीत के हाशिये पर अपनी अस्मिता बनाये रखने के कुछ सामाजिक कारण भी हैं। आज़ादी के पचास वर्षों में लोकतांत्रिक व्यवस्था

अलोकतांत्रिक सिद्ध हुई। इस मांगने खाने वाले देश में जहां लगभग एक करोड़ साधू या भिखारी सामाजिक भार के रूप में अपना जीवन गुजार रहे हैं, आबादी का तीस प्रतिशत व्यक्तियों का समूह सुबह से शाम तक पेट भरने के प्रयास में लगा रहता है एवं बीस प्रतिशत लोग ऐय्याशी का जीवन जी रहे हैं।

भूमण्डलीकरण के प्रभाव एवं विदेशी कम्पनियों की लूट के कारण छोटे एवं मझोले उद्योग–धंधों (कल–कारखानों) का पतन हुआ है। भ्रष्टाचार लाइलाज रोग बन चुका है। बेकारी, भुखमरी के कारण युवावर्ग में हताशा है, वह ग़लत दिशाओं में अपना मार्ग तलाश रहा है। पूरा भारतीय समाज त्रासद परिस्थितियों में जीने के नाम पर तिल–तिल कर कालकवलित हो रहा है। इन स्थितियों में उपभोक्ता संस्कृति एवं अर्थ या बाजार के व्यापक दबाव के कारण सामाजिक नैतिकता का अवमूल्यित होना स्वाभाविक ही है। यूं कविता नैतिकता की उपदेशक तो नहीं होती, किन्तु मानव जीवन की समस्त कमजारियों को चिन्हित करती हुई कही न कहीं प्रकारान्तर से सामाजिक न्याय (सोशल जस्टिस) या नैतिकता की पक्षधर अवश्य बन जाती है। यही कारण है कि नैतिक अवमूल्यन के साथ काव्यगत मूल्यों का अवमूल्यन भी हुआ है। आज महानगरों का व्यस्त जीवन या गावों का आर्थिक रूप से असुरक्षित जीवन इस बात की आज्ञा नहीं देता कि लोग दो घड़ी सामाजिक संर्दभों में संवेदना के स्तर पर विमर्श कर सकें। ऐसे में आम आदमी अगर सम्पूर्ण कविता से कट रहा है, तो हमें आश्यर्च नहीं करना चाहिए।

मानव जीवन का मनोविज्ञान यह है कि लोग दु:ख के विराट अंधेरे में एक टुकड़ा रोशनी को तलाश लेते हैं, बंधुआ मज़दूरों के गावों के लोग शाम को नाचते–गाते हैं। किसान लोकगीतों में अपने जीवन का सुख–दु:ख तलाशता है। भूखी पीढ़ी का युवा वर्ग सुख या दु:ख में तात्कालिक रूप से नाचता–गाता है। मिलों, फैक्ट्रियों के गेटों पर सम्पन्न होने वाली मज़दूर सभाओं में तो क्रांति–गीत नेताओं के भाषणों से अधिक प्रभावशाली होते हैं। शायद यही तर्क है कि न्यायोचित तर्कशील संवेदना के संवाहक गीत कभी नष्ट नहीं होंगे, कभी अनुपयोगी नहीं होंगे। यूं तो हम उस बौद्धिक युग में सांस ले रहे हैं, जहां साहित्यिकों का एक वर्ग सम्पूर्ण साहित्य को डिस्पोजेबल माल की तरह 'यूज एन्ड थ्रो' इस्तेमाल करने की सलाह दे रहा है। ऐसे लोग हर युग में रहे हैं और अपनी अरचनात्मक अवधारणाओं से लोगों को चौंकाने का प्रयास करते रहे हैं।

हर्ष की बात है कि पिछले एक दशक से साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग गीत के महत्व को स्वीकार करते हुए गीत (ग़ज़ल) की पूर्ण वापसी का प्रयास कर रहा है। मंचों की अधोगति को भी लोग महसूस कर रहे हैं। मंच कितने भी खराब क्यों न हों किन्तु हजारों–लाखों लोगों से सीधे संवाद करने का दूसरा माध्यम अभी नहीं बन सका है। इधर मंचों पर भी कम सही किन्तु सशक्त रचनाकार आ रहे हैं। पत्र–पत्रिकाओं ने भी गीत और ग़ज़ल प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है! 'गगनाञ्चल' और 'अलाव' जैसी आधा दर्जन पत्रिकाएं तो जैसे गीत

की पक्षधरता में आंदोलनरत दिखाई देती हैं। छायावादी युग से प्रभावित इकहरे आयाम वाले गीतकार भी बदलते युग के संदर्भों को देखते हुए, जीवन के सभी पक्षों को गीतों में उतार रहे हैं, आज गीत केवल बड़े वर्ग के मनोविनोद का साधन नहीं है, यह जन–जन के दुखों का सहभागी बनते हुए परिवर्तनकामी आकाक्षाओं का बिगुल बन रहा है। यह नाचीज़ लेखक स्वयं मिलों के गेटों पर मज़दूर सभाओं में क्रांतिकारी गीत पढ़ता रहा है और मैंने कभी नहीं देखा कि मज़दूरों–किसानों के बीच कभी नई कविता का कोई कवि आया हो। यह कैसी वर्गीय प्रतिबद्धता है कि जिस वर्ग से आप वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध हैं, उसके पक्षधर हैं, उस वर्ग से अपनी कविता में संवाद नहीं कर सकते। आज नई कविता के शिल्प में भी गीतात्मक तत्वों को सहेजा जा रहा है।

अन्त में, मैं यह पुनः कहना चाहता हूँ कि मैं नई कविता की विधा का विरोधी नहीं हूँ, इसे एक काव्य–विधा के रूप में स्वीकार करता हूँ। हाँ, गीतों–ग़ज़लों का समर्थक हूँ, और इस नये युग के नये वर्षों में गीतों–ग़ज़लों की वापसी को मैं ही नहीं, कह सकता हूँ, भारत का आमजन आशाभरी निग़ाहों से देख रहा है।

□□□

व्यक्तित्व

स्वामी विवेकानन्द और जापान

● डॉ० कमल किशोर गोयनका

स्वामी विवेकानन्द ने सर्व–धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका की यात्रा की। वे इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा यूरोप के देशों में भी गये और उन्होंने जुलाई, 1893 में लगभग दस–पंद्रह दिन के लिए जापान की भी यात्रा की।

भारत की उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ भारत–पुत्रों में स्वामी विवेकानन्द का विशेष स्थान है। उनका जन्म बंगाल में हुआ था और उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने अनेक वर्षों तक हिमालय तथा अन्य स्थानों पर साधना की और स्वामी परमहंस का शिष्यत्व ग्रहण किया। राजा राममोहन राय को अंग्रेजी शिक्षा से जो पश्चिम के ज्ञान–विज्ञान की जानकारी मिली थी, उससे उन्होंने नवजागरण का शंखनाद किया। देश के विभिन्न प्रान्तों में धार्मिक एवं समाज–सुधार की संस्थाएँ आरम्भ हुईं और शिक्षित समुदाय उनमें भाग लेने लगा। स्वामी विवेकानन्द उन्हीं परिस्थितियों में जन्मे और शिक्षित हुए थे तथा देख रहे थे कि किस प्रकार हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति का अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों स्पष्ट थे। उन्होंने हिन्दू जाति के उद्धार और उत्कर्ष का संकल्प लिया और संन्यासी बनकर हिन्दू धर्म के प्रचार–प्रसार में लग गये। वे जब 'सर्व–धर्म सम्मेलन' में भाग लेने अमेरिका गये तो उन्होंने अपने भाषण से सभी को मंत्र–मुग्ध कर दिया और उनकी ख्याति विश्व में फैल गयी। उन्होंने वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, पुराणों के साथ विश्व के सभी धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया था और वे वेदान्त, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, आत्मा–परमात्मा आदि विषयों पर घंटों धाराप्रवाह बोलते थे। वे सच्चे देशभक्त और मानवभक्त थे। वे हिन्दू थे, परन्तु अन्य धर्मों को भी प्रेम करते थे। वे समाज और शिक्षा–सुधार के प्रबल समर्थक थे तथा अंधविश्वास, जड़ता, कर्मकाण्ड, कूपमंडूकता आदि को समाप्त करना चाहते थे। वे भारत के नवजागरण के अग्रदूतों में थे। उनके उपदेशों, सन्देशों, विचारों तथा व्याख्यानों का

प्रभाव उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी में स्पष्ट दिखायी देता है और जब तक मनुष्य रहेगा, वह निश्यच ही बना रहेगा।

स्वामी विवेकानन्द ने सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका की यात्रा की। वे इंग्लैंड, फ्रांस तथा यूरोप के देशों में भी गये और उन्होंने जुलाई, 1893 में लगभग दस–पंद्रह दिन के लिए जापान की भी यात्रा की। उन्होंने जापान के याकोहामा नगर से 10 जुलाई, 1893 को जो पत्र लिखा था, उससे स्पष्ट है कि वे बम्बई से कोलम्बो, सिंगापुर, हांगकांग, कैंटन आदि से होते हुए नागासाकी नगर पर उतरे थे और वहाँ से वे कोये होते हुए याकोहामा पहुँचे थे। यह पत्र उन्होंने ओरिएंटल होटल, याकोहामा से लिखा था और वे तब तक ओसाका, क्योटो और टोकियो आदि की यात्रा भी कर चुके थे। उनकी उस जापान–यात्रा के दौरान उनके क्या कार्यक्रम हुए, उनका आतिथ्य किसने किया तथा वे किन–किनसे मिले, इसकी कोई जानकारी उनके संस्मरणों एवं पत्रों से नहीं मिलती है, लेकिन इसकी पर्याप्त जानकारी मिलती है कि उनको जापान कैसा लगा तथा वे उस देश से कितने प्रभावित हुए। उन्हें कुछ समय बाद कुमारी जोसेफ़िन मैविल ऑड का जापान–यात्रा का निमंत्रण मिला और एक जापानी मित्र ने जापान–यात्रा का मार्ग–व्यय भी भेजा, परन्तु वे अपने खराब स्वास्थ्य, लम्बी समुद्र यात्रा तथा दो महीने से अधिक न दे पाने की असमर्थता आदि के कारण दुबारा जापान न जा सके।[1] उन्होंने जोसेफ़िन मैविल ऑड को लिखा कि जापानी मित्र का दिया मार्ग–व्यय उन्हें लौटा दें तथा जब वह भारत आयेंगी तो वे उसे वह धन–राशि दे देंगे। अब इसका प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि स्वामी विवेकानन्द पुनः जापान गये या नहीं, यद्यपि विवरणों से यह स्पष्ट तो होता है कि अमेरिका जाते तथा लौटते समय वे मित्रो के आग्रह पर एक बार फिर जापान जाना चाहते थे। उनका देहान्त लगभग 40 वर्ष की आयु में 4 जुलाई, 1902 को हो गया और सन् 1901 को लिखे पत्रों से स्पष्ट है कि वे दुबारा जापान की यात्रा नहीं कर पाये थे।

स्वामी विवेकानन्द की जापान–यात्रा, उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार, जुलाई, 1893 में हुई थी और वे वहाँ से वैंकूवर, कनाडा होते हुए शिकागो पहुँचे थे। उनका 20 अगस्त, 1893 को शिकागो से लिखा पत्र इसका प्रमाण है कि वे अगस्त में अमेरिका पहुँच गये थे। स्वामी विवेकानन्द इससे पूर्णतः अवगत थे कि पुराने समय में 'महान तथागत' के उपदेशों के प्रचार के लिए भारत से बौद्धधर्म प्रचारक जापान गये थे और जापान में बौद्धधर्म प्रचलित था, लेकिन वे मानते थे कि जापान का बौद्धधर्म श्रीलंका के बौद्धधर्म से श्रेष्ठ है। उन्होंने एक भेंटवार्ता में कहा था, "जापानी बुद्धमत उससे बिल्कुल भिन्न है जो हमें लंका में दिखायी देता है। वह बिल्कुल वेदान्त है। वह सकारात्मक और ईश्वरवादी बुद्धमत नहीं।"[2] लेकिन उन्हें जापान का 'आधुनिक बौद्धधर्म'[3] बहुत उचित प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि वैवाहित सम्बन्धों का आधार 'पवित्र धर्म–संस्कार' न होकर 'परस्पर प्रेम और आकर्षण' हो गया है। इसके कारण वहां 'संन्यास' उपहास बन गया है और इस कारण वहाँ बड़े–बड़े संन्यासी और संन्यासिनियाँ कैसे पैदा हो सकती हैं?[4]

स्वामी विवेकानन्द ने यूरोप के नव–जागरण (रेनेसाँ) के सन्दर्भ में यूरोप, जापान और भारत को एक साथ मिलाकर देखने का प्रयत्न किया। उन्होंने लिखा कि चीन और जापान ने भारत से शिक्षा ली और उनकी सभ्यता आज भी जीवित है और अब उसमें पुनरुत्थान के लक्षण भी दिखायी दे रहे हैं।[5] विवेकानन्द का विचार था कि इटली से जो 'रेनेसाँ' यूरोप पहुँचा, वह भारत और जापान भी पहुँचा। उनके शब्दों में यह 'रेनेसाँ' की 'तरंग लहरी' जापान के किनारों पर जा पहुँची और जापान उस जल का पान कर मत्त हो गया। एशिया में जापान ही 'नवीन जाति' है।[6]

विवेकानन्द जापान की इस ग्रहण शक्ति, विकास तथा अपने वैशिष्ट्य की रक्षा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने एक इन्टरव्यू में कहा, "जापान में तुम पाओगे कि उन्होंने दूसरों से जो सीखा है, उसे आत्मसात् कर अपना बना लिया हे, पचा लिया है। हमने जो विदेशियों से सीखा, उसे हम पचा नहीं पाये। उन्होंने यूरोपवासियों की हर चीज़ ग्रहण की, पर वे जापानी ही बने रहे, यूरोपीय नहीं बने, पर हमारे यहाँ तो पाश्चात्य ढंग से रहने का एक संक्रमण रोग पैदा हो गया है।"[7] स्वामी विवेकानन्द ने जापान राष्ट्र की देशभक्ति और कलाप्रियता की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। वे मानते हैं कि जापानी नागरिकों ने ही अपने देश को महान् बनाया है, क्योंकि उनमें नैतिकता, देशभक्ति और कलाप्रियता विद्यमान है। वे फरवरी, 1897 मैं दिये गये एक इन्टरव्यू में कहते हैं," ये मनुष्य हैं जो देश को महान् बनाते हैं। देश का अर्थ क्या होता है? यदि आप जापानियों की सामाजिक नैतिकता और राजनीतिक नैतिकता ले लेते हैं तो आप उतने ही महान् हो जायेंगे जितने जापानी हैं। जापानी अपने देश के लिए सब कुछ बलिदान करने को तैयार हैं और वे एक महान् राष्ट्र बन गये हैं।"[8]

स्वामी विवेकानन्द भारत में व्यक्ति–व्यक्ति को संस्कारित करना चाहते थे जिससे यह राष्ट्र महान् बन सके। वे इसी इन्टरव्यू में आगे कहते हैं कि 'संसार में कभी जापानियों के समान देशभक्त और कलाप्रिय जाति नहीं देखी। उनकी एक विशेषता यह भी है कि जब यूरोप और दूसरे देशों में कला, साधारणतया गंदगी के साथ पायी जाती है, जापान में कला का अर्थ है कला+परम स्वच्छता।' स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द जापान की कला–चेतना से बहुत प्रभावित हैं और उसे भी उसकी महानता का कारण समझते हैं। वे दूसरे इन्टव्यू में कहते भी हैं, "आज जापान एक महान् राष्ट्र है और इसका कारण है उनकी कला। ....एशिया की आत्मा ही कलात्मक है–एशिया का हृदय चिरकाल से कला की क्रीड़ास्थली रहा है"[9] उनका मत है कि जापान ने 'उपयोगिता' और 'कला' में समन्वय करके 'अभूतपूर्व प्रगति' की और अब जापान पाश्चात्य देशों को सिखाने की क्षमता रखता है।[10]

स्वामी विवेकानन्द ने ऐसे कलात्मक, विकसित एवं राष्ट्रीयता से परिपूर्ण जापान को लगभग दो सप्ताह तक देखा और उसके लोकजीवन का यत्र–तत्र विवरण प्रस्तुत किया। जापान के याकोहामा नगर से 10 जुलाई, 1893 को लिखे पत्र में उन्होंने जापानी जीवन का वर्णन करते हुए लिखा है," कैंटन से मैं फिर हांगकांग लौटा और वहाँ से जापान पहुँचा।

पहला बन्दरगाह नागासाकी था, जहाँ हमारा जहाज कुछ घंटों के लिए ठहरा और हम लोग गाड़ी में बैठकर शहर घूमने गये। चीनियों में और इनमें कितना अन्तर है! सफ़ाई में जापानी लोग दुनिया में किसी से कम नहीं हैं? सभी वस्तुएँ साफ़–सुथरी हैं। सड़कें प्रायः सब चौड़ी, सीधी, सम और पक्की हैं। उनके मकान पिंजड़ों की भांति छोटे हैं और प्रायः प्रत्येक कस्बे और गाँव की बस्तियों के पीछे सदाबहार चीड़ वृक्षों से परिपूर्ण हरी–भरी पहाड़ियाँ हैं। जापानी लोग ठिगने, गोरे और विचित्र वेशभूषा वाले हैं। जापान सौन्दर्य–भूमि है! प्रायः प्रत्येक घर के पिछवाड़े जापानी ढंग का बढ़िया बगीचा रहता है। इन बगीचों के छोटे–छोटे लता–वृक्ष, हरे–भरे घास के मैदान, छोटे–छोटे जलाशय और नालियों पर बने हुए छोटे–छोटे पत्थर के फूल बड़े सुहावने लगते हैं।"[11]

स्वामी विवेकानन्द इसी पत्र में जापान की 'सुव्यवस्थित सेना' 'नौसेना में वृद्धि', 'इंजीनियरिंग का कौशल' तथा अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के निर्माण आदि की प्रशंसा करते हैं। उन्होंने जापानियों द्वारा निर्मित तोपें तथा एक मील लम्बी सुरंग देखी एवं जापान–चीन के बीच चलने वाली स्टीमर लाइन को भी देखा। वे मन्दिर भी देखने गये और वहाँ देखा कि कुछ संस्कृत मंत्र बंग लिपि में लिखे हुए हैं।[12] स्वामी विवेकानन्द ने एक मंत्र का उल्लेख भी किया है और वह है–'ओ ह्रीं क्लीं'। उनका मत था कि थोड़े पुरोहित ही संस्कृत जानते हैं, पर वे सबके सब बड़े बुद्धिमान हैं। अपनी उन्नति का आधुनिक जोश पुरोहितों तक में प्रवेश कर गया है।[13] वहाँ के लोक–जीवन की भी कुछ चर्चा उन्होंने की, जैसे जापानी जमीन पर थाल रखकर कुछ झुककर खाते हैं[14], तथा वहाँ की लड़कियों का लोक विश्वास है कि यदि उनकी गुड़ियों को हृदय से प्यार किया जाये तो वे जीवित हो उठेंगी। इस कारण जापानी बालिका अपनी गुड़िया को कभी नहीं तोड़ती।[15]

स्वामी विवेकानन्द ने भारत और जापान के सम्बन्धों पर भी महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये। वे इंग्लैंड की अपेक्षा जापान से सम्बन्ध बनाने और उनसे सीखने एवं सहायता लेने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि इंग्लैंड की अपेक्षा जापान जाना हमारे ज्यादा हित में होगा। यदि हमारे शिक्षित और धनी व्यक्ति जापान जायें और वहाँ के हाल–चाल देखें तो उनकी आँखें खुल जायेंगी।[16] उन्होंने जापान के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के कारणों की चर्चा कुमारी जोसेफ़िन मैविलऑड को 14 जून, 1901 को लिखे पत्र में की थी। उन्होंने लिखा था, "तुम जापान पहुँचकर, खासकर जापानी ललित कला देखकर अत्यन्त आनन्दित हो रही हो यह जानकर मुझे खुशी हुई। तुम्हारा यह कहना यथार्थ में सत्य है कि हमें जापान से बहुत कुछ सीखना होगा। जापान हमें जो कुछ सहायता प्रदान करेगा, वह अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण और श्रद्धा से ओत–प्रोत होगी, परन्तु पाश्चात्य सहायता का रूप सहानुभूति रहित तथा अभावात्मक होगा। जापान तथा भारत के सम्बन्ध स्थापित होना नितान्त वांछनीय है।"[17] उन्होंने जापान में पाया कि जापानी हिन्दुओं की प्रत्येक वस्तु को 'महान्' एवं भारत को 'पवित्र भूमि' मानते हैं[18] तथा भारत उनके लिए 'उच्च और श्रेष्ठ वस्तुओं का

स्वप्न–राज्य' है।[19] जापानियों की भारत के प्रति इस श्रद्धा–भाव के बावजूद वे समझते थे कि भारत जापान से बहुत कुछ सीख सकता है और इसके लिए वे चाहते थे कि भारत का प्रत्येक युवक एक बार अवश्य ही जापान जाये। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक इन्टरव्यू में कहा था, "यदि मुझे अविवाहित ग्रेजुएट मिल जायें तो मैं उन्हें जापान भेजकर यांत्रिक शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध कर दूँगा जिससे कि जब वे स्वदेश लौटें तो अपने ज्ञान से भारत का कुछ हित कर सकें। कितना अच्छा होगा।"[20] स्वामी विवेकानन्द भारत के युवकों की प्रवृत्तियों से दु:खी थे। वे स्पष्ट कहते थे कि जीवन–भर बेकार की बातें करते हो, देश के बाहर जाने पर जाति चली जाती है, अंधविश्वास और छूआछूत में डूबे हो तथा पश्चिम की बेसमझ नकल कर रहे हो। वे चाहते थे कि ये भारतीय नवयुवक जापान से कुछ सीखें और भारत की उन्नति में अपना योगदान करें।

स्वामी विवेकानन्द की प्रबल कामना थी कि भारत जापान से सीखे और अपना विकास करे, परन्तु वे भारत को जापान बनाने के पक्षधर नहीं थे। उनसे 'दि हिन्दू' मद्रास के सम्वाददाता ने पूछा कि क्या वे भारत को जापान के समान बनाना चाहते हैं तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि 'निश्चय ही नहीं', और इसका कारण बताते हुए कहा कि भारत कभी जापान के समान कैसे हो सकता है और वास्तव में कोई भी देश उसके समान कैसे हो सकता है? प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है। भारत की विशिष्टता धर्म है, समाज–सुधार और अन्य बातें गौण हैं। इसलिए भारत जापान के जैसा नहीं हो सकता।...भारत भारत है। हम जापानियों जैसे नहीं है, हम हिन्दू हैं। भारत का वातावरण ही शान्ति देने वाला है?[21] इससे स्पष्ट है कि विवेकानन्द जापान के श्रेष्ठ तत्त्वों को लेना चाहते थे जिनसे भारत की उन्नति और विकास हो सके। वे निश्चय ही भारत को जापान बनाने के समर्थक नहीं थे।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का यह जापान–दर्शन तथा जापान–चिन्तन ऐतिहासिक महत्त्व का है, क्योंकि एक सौ आठ वर्ष पूर्व भारत का एक संन्यासी जापान को पश्चिम से श्रेष्ठ समझता है और जापान से वैज्ञानिक एवं विकासात्मक सम्बन्धों की स्थापना करना चाहता है। वे जापान के देश–प्रेम, कला–प्रेम एवं वैज्ञानिक प्रगति से इतने प्रभावित हैं कि वे भारत के प्रत्येक नवयुवक को एक बार जापान देखने का परामर्श देते हैं। भारत के लोग अंग्रेजों की गुलामी और उनके वैज्ञानिक विकास के आतंक में इतने खो गये कि स्वामी विवेकानन्द के इस जापान–दर्शन पर किसी का ध्यान नहीं गया और जापान भारत से दूर बना रहा। स्वामी विवेकानन्द का देहान्त सन् 1902 में हो गया और वे आगे कुछ करने के लिए जीवित नहीं रहे। स्वतन्त्रता के बाद पं. जवाहरलाल नेहरू भी पश्चिम से ही जुड़े रहे और जापान उपेक्षित रहा। अब कुछ समय से हमने जापान की ओर देखा है तथा जापान भी कुछ उद्योगों में मदद कर रहा है, लेकिन स्वामी विवेकानन्द का स्वप्न अभी पूर्ण होने की प्रतीक्षा कर रहा है। एशिया की सुख–शान्ति के लिए भारत–जापान के अटूट सम्बन्ध अनिवार्य हैं।

संदर्भ

1. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड 1, पृष्ठ 395, खण्ड 8, पृष्ठ 378
2. 'दि हिन्दू' समाचारपत्र, मद्रास को फरवरी, 1897 को दिये इंटरव्यू से; विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–4, पृष्ठ 249 पर संकलित
3. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड–8, पृष्ठ 394-95
4. वही, पृष्ठ 395
5. वही, खण्ड–5, पृष्ठ 334
6. वही, खण्ड–10, पृष्ठ 93
7. वही, खण्ड–8, पृष्ठ 234
8. वही, खण्ड–4, पृष्ठ 250
9. वही, खण्ड–8, पृष्ठ 234
10. वही, पृष्ठ 236
11. वही, खण्ड–1, पृष्ठ 397
12. वही, खण्ड–1, पृष्ठ 398, खण्ड–5, पृष्ठ 330, खण्ड–8, पृष्ठ 176
13. वही, खण्ड–1, पृष्ठ 398
14. वही, खण्ड–10, पृष्ठ 82
15. वही, खण्ड–6, पृष्ठ 307, श्रीमती सरला घोषाल को लिखे पत्र से
16. वही, खण्ड–8, पृष्ठ 234
17. वही, खण्ड–8, पृष्ठ 376
18. वही, खण्ड–4, पृष्ठ 49, फरवरी 1897 को दिये इन्टरव्यू से
19. वही, खण्ड–1, पृष्ठ 398–99
20. वही, खण्ड–8, पृष्ठ 234
21. वही, खण्ड–4, पृष्ठ 250

□□□

मेरी दृष्टि में मेरे पिताजी

● राजशेखर व्यास

भारत के महान् स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, 'विक्रम' संपादक, पद्मभूषण—साहित्य वाचस्पति डॉ० (स्व०) पं. सूर्यनारायण व्यास जी, विश्वविख्यात इतिहासकार, लेखक, पत्रकार, संपादक, ज्योतिषाचार्य, क्रांतिकारी, उज्जयिनी के विक्रम विश्वविद्यालय, विक्रम कीर्ति मंदिर, कालिदास अकादेमी, सिंधिया शोध प्रतिष्ठान और अखिल भारतीय कालिदास—समारोह के भी जनक—संस्थापक थे। अपने जीवनभर की संचित निधि दान करके उन्होंने उज्जयिनी में कालिदास स्मृति मंदिर बनवाया। आज़ादी की लड़ाई में अनेक बार जेल भी गए और सरकार से कभी कोई पेंशन भी नहीं स्वीकारी। यह वर्ष महामना महापुरुष स्व० व्यास जी का जन्मशताब्दी वर्ष रहा है।

बचपन में रविबाबू (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) की एक कविता सुनी थी—"सकल गर्व दूर करि दिवो, तोमार गरब छोड़िबे ना, संवारे डाकिया कहिबे जे दिन, पावे तब पद रेणुकण,.. —मैं अपना और सब गर्व छोड़ सकता हूँ, सारे गर्व छोड़ सकता हूँ, लेकिन जो गर्व तुम्हारे लिए है वह मैं कभी नहीं छोड़ पाऊँगा और जिस दिन मुझे तुम्हारे चरणरज की धूलि के सौवें कण का भी हिस्सा मिल गया तो उसे अपने मस्तक पर धारण कर सारी दुनिया को उसे अपने जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि बताऊँगा।"

सूर्य को दीपक दिखाना या करछुल से सागर नापने का प्रयास हो भी, तो वह भी एक सूक्ष्म उदाहरण ही होगा। पं. सूर्यनारायण व्यास जी पर बोलने—लिखने के लिए डॉ० सुमन से बड़ा अधिकारी विद्वान इस समय भारत में कौन होगा? उनके मानसपुत्रों में डॉ० प्रभाकर क्षौत्रिय, कमलेश दत्त त्रिपाठी, रथसा, बालकवि बैरागी जैसे विद्वान जन, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी हैं जिन्होंने पंडित जी को निकट से देखा है।

पंडित जी के विषय में बात करने का मन हो तो कौनसे पंडित जी, इतिहासकार पंडित जी, पुरातत्ववेत्ता पंडित जी, क्रांतिकारी पंडित सूर्यनारायण व्यास, 'विक्रम' के संपादक पं. सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिष और खगोल के अपने युग के असाधारण सर्वोच्च न्यायालय और 'सूर्य' पं. सूर्यनारायण व्यास, किस बारे में बात करें?

सिंहपुरी में एक तिमंजिला भवन जहाँ, 2 मार्च 1902, प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्य पं. नारायण जी व्यास के घर में पं. सूर्यनारायण व्यास का जन्म हुआ। पं. नारायण जी व्यास की एक परम्परा थी महर्षि सांदीपनी की, मैं नहीं जानता वह सत्य थी या नहीं। डां. विष्णुश्रीधर जी ने लिखा है कि वह परम्परा ऐसी रही कि उसे विश्वविद्यालय बनाकर व्यास जी ने उसे स्थापित कर दिया। उसी सांदीपनी वंश के महर्षि नारायण जी व्यास जिनके बारे में किंवदन्तियाँ हैं, कथाएँ हैं, कुछ ऐतिहासिक सत्य हैं। वे दोनों हाथों से एक समय में एक साथ लिखते थे, व्याकरण भी, ज्योतिष भी, एक हाथ से व्याकरण एक हाथ से ज्योतिष! और दोनों एक समय में। संस्कृत और ज्योतिष के अपने समय के असाधारण व्यक्तित्व लोकमान्य तिलक, मदनमोहन मालवीय, पंडित जी के दर्शन करने यहाँ पधारे। यह मैने 'सम्मेलन पत्रिका' के 'मालवीय विशेषांक' में पढ़ा था। मालवीय जी महाराज दो बार उनके दर्शन करने यहाँ नारायण जी के पास आये। उनका परम उद्देश्य था खगोलीय गणना सीखना। ऐसे असाधारण पुरुष के घर में 2 मार्च, 1902 में सिंहपुरी मुहल्ले की छोटी–सी गली में स्थित एक मकान में पं. सूर्यनारायण व्यास का जन्म हैरत में डालता है। बाद के दिनों में राजेन्द्र माथुर के ये शब्द–'विक्रम' के संपादक पद पर मालवा का चिन्तक लेखक अरब, इराक, मलेशिया, साइप्रस तो छोड़िये 'बोल्शिविक क्रांति' पर लिखता है। सिंहपुरी में जन्मा एक नौजवान रास्पुतिन पर काम करता है।" मैं कई बार सोचता हूँ कि ऐसा क्यों हुआ? शायद वह पूरा दौर, वो पूरी पीढ़ी क्रांतिकारियों की पीढ़ी थी।

पं. सूर्यनारायण व्यास अठारह बरस के रहे होंगे, प्रभाकर क्षौत्रिय को यह जानकारी शायद अच्छी लगे, मुझे भी विस्मयजनक लगी थी, "माधव कॉलेज" की पत्रिका मे उनकी पहली रचना "शारदोत्सव" मराठी में छपी थी 1916 में। लेकिन उससे पूर्व मुझे उर्दू के एक शायर ने पं. सूर्यनारायण व्यास की "शम्स" उज्जयिनी" के नाम से लिखी हुई आरंभिक काल की रचना दी। यानि उनके लेखन का काल 1914 तक जायेगा। मैं नहीं जानता कि वे कब से लिख रहे होंगे। 1918 से तो प्रमाणिक रूप से उनके लेख तमाम पत्र–पत्रिकाओं में मिलते हैं।

"सिद्धनाथ माधव अगरकर" का साहचर्य जिन्हें मिला हो, 'तिलक' की जीवनी का अनुवाद करने का सौभाग्य उन्हें अगरकर जी के साथ मिला। सिद्धनाथ माधव अगरकर जी को बहुत लोग अब भूल गये होगे! 'स्वराज्य' संपादक, माखनलाल चतुर्वेदी के साथ "कर्मवीर" संपादक, पंडित जी का उन्हें सहचर्य मिला। पंडित जी पर उनका असर था या उनका पंडित जी पर असर, कहिए कि पंडित जी शायद पत्रकारिता की ओर मुड़े।

तिलक की जीवनी का अनुवाद करते–करते शायद वे क्रांतिकारी बने। वीर सावरकर का साहित्य पढ़ा। सावरकर का साहित्य पढ़ते, पंडित जी को मुझे लगता है कि "अण्डमान की गूंज" ने बहुत प्रभावित किया। प्रणवीर पुस्तक माला की पुस्तकें वे बांटा करते थे और 1920–1921 के काल से तो मुझे उनकी क्रांतिकारी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे ज़ाहिर होता है कि पं. सूर्यनारायण व्यास 1930 में 'अजमेर सत्याग्रह' में पिकेटिंग करने भी पहुँचे थे। उज्जैन के जत्थों का नायकत्व भी किया। अजमेर में 'लार्ड मेयो' का स्टेचू तोड़ा। सुभाष बाबू का आह्वान था कि विदेशी राजनेताओं के स्टेचू तोड़ दिये जायें। लार्ड मेयो का स्टेचू तोड़कर उसका एक हाथ बरसों तक भारती–भवन में रखा रहा। तो क्रांतिकारी सूर्यनारायण व्यास कैसे अपनी यात्राओं से यहाँ पहुँचा होगा। इसे संक्षेप में बताना शायद संभव न हो, लेकिन मैं बहुत सूक्ष्म रूप से बात कहूँ तो एक सशस्त्र क्रांति में हिस्सा लेने के लिए वे 1942 में गुप्त रेडियो स्टेशन भी चलाते थे।

सन् 1930–35 में उनकी पहली विदेश यात्रा के विषय में बहुत कम लोग जानते हैं। 'यात्रा–साहित्य' के आरंभिक लेखकों में अब लोग राहुल सांकृत्यायन और भगवत शरण उपाध्याय का नाम लेते हैं, लेकिन बहुत कम लोग जानते हैं कि पं. सूर्यनारायण व्यास की यात्रा–साहित्य पर पहली कृति "सागर–प्रवास" 1937 में बिहार के लहरिया सराय से आचार्य शिवपूजन सहाय के माध्यम से छपी थी। हिन्दी, मराठी, संस्कृत भाषा में "सागर–प्रवास" छपी। वे यूरोप की यात्रा पर भी गये। यूरोप जाने से पूर्व वे महाकाल मंदिर और भारती भवन में कालिदास जयन्ती 1928 से मना रहे थे। वे सारे संस्मरण मिलते हैं। यूरोप में जगह–जगह उनसे पूछा जाता रहा होगा कि क्या उज्जैन में कालिदास का कोई स्मारक है? आप वहाँ रहते हैं। मन में शर्मिन्दगी आती होगी और पंडित जी के स्वाभिमान को कोई पीड़ा या चोट लगी होगी। लेकिन मैं प्रायः जब कालिदास समारोह के बारे में अखबारों में पढ़ता हूँ, पत्रिकाओं में पढ़ता हूँ, राजनेताओं के भाषण सुनता हूँ, किताबें पढ़ते–पढ़ते पिछले 38 सालों से सुनता हुआ बड़ा हुआ हूँ, मुझे एक बात पर बराबर हैरत होती है कि किसी ने पं. सूर्यनारायण व्यास के उस विज़न को पकड़ने, द्रष्टा की उस दृष्टि को पकड़ने की अब तक कोशिश क्यों नहीं की? जिस पर मैं बराबर कोशिश कर रहा हूँ। मुझे लगता है महर्षि अरविंद, महर्षि रमण की तरह पं. सूर्यनारायण व्यास अपने युग के बहुत बड़े दार्शनिक द्रष्टा थे। विचारक तो थे ही, चूंकि वे ज्योतिष में भी महान् विद्वान थे उन्हें मालूम था कि देश तो आज़ाद होगा ही, आज़ादी के बाद भी मानसिक रूप से हम मुक्त नहीं होंगे, क्योंकि हमारे सारे राजनेता पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित और प्रेरित थे। सब के सब राजनेता विदेशों से पढ़कर आये थे।

सन् 1930 में पं. सूर्यनारायण व्यास ने "आज" में घोषणा की कि 1947 में 15 अगस्त को देश आज़ाद होगा। यह छपा हुआ लेख आज उपलब्ध है। अर्द्धरात्रि का मुहूर्त भी उनका निकाला हुआ है। यह मेरा नहीं सर स्टेफोर्ड क्रिप्स का लिखा हुआ है – "हू डज़न्ट कनसल्ट

दी स्टार्स" लेख में उन्होंने लिखा है कि देश की आज़ादी का मुहूर्त एक व्यक्ति से निकलवाया गया। अर्धरात्रि का मुहूर्त सूर्यनारायण व्यास ने निकाला। अब लेख "एण्ड हाऊ इण्डियन एस्ट्रोलॉज़र सेव द नेशन" से सिद्ध होता है। यह बहुत बड़ी महत्व की बात है। तब उन्हें लगा होगा कि शेक्सपीयर–शेक्सपीयर कहते–कहते राजनेताओं को बताना होगा कि भारत की अस्मिता में 'कालिदास' नाम का एक चरित्र मौजूद है। यह हमारे गौरव के लिए काफी है और उन्होंने कालिदास के माध्यम से सोये हुए राष्ट्र को देवउत्थान एकादशी के दिन जगाने का बड़ा कार्य किया। मुझे लगता है इस 'विज़न' को समझने की अब फिर ज़रूरत है। जब हम स्वदेशी के बीच विदेशीकरण की ओर जा रहे हैं।

हमें बरसों से पढ़ाया जा रहा है कि हम मुग़लों के, अंग्रेज़ों के ग़ुलाम रहे हैं। शोषित, पीड़ित, पराभूत। पाठ्यपुस्तकों में पढ़ाया जाता रहा है कि हम 1857 के गदर में हारे हुए, थके हुए, जुआरी हैं। पं. सूर्यनारायण व्यास ने इतिहास से एक चरित्र निकाला विक्रम सहस्राब्दी के अवसर पर, 57 वर्ष ईसा पूर्व "विक्रम" नामक चरित्र हमारे यहाँ मौजूद है जिसके पराक्रम ने ईरान, इराक, अरब, शकों और हूणों को परास्त किया। वह है चक्रवर्ती सम्राट 'विक्रम' जिसने अरब क्षेत्र तक अपने शासन और सत्ता को फैलाया। सोये हुए राष्ट्र को जगाने के लिए, उस विक्रम के 'पराक्रम' का आवाह्न देने के लिए सूर्यनारायण व्यास ने 1942 में "विक्रम" पत्र की स्थापना की। पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" जैसी क्रांतिकारी हस्ती उनके साथ थी। उस युग के पत्रकार, जो घर में ही बैठकर एक–दूसरे के खिलाफ लिखने का, जैसे मार्डन रिव्यू में रामानन्द चट्टोपाध्याय के घर में लिखने का, लोग साहस रखते थे। सूर्यनारायण व्यास के घर में रहकर "उग्र" उनके खिलाफ लिखते रहे। सूर्यनारायण जी संचालक–संपादक हैं। क्या मित्रता रही होगी? लेकिन 'बड़ों की मित्रता और बड़ों की शत्रुता' भी बड़ा ही जानता है। "उग" की मित्रता और "उग्र" की शत्रुता को शायद हिन्दी जगत में अब भी लोग नहीं जानते। पर विनोद शंकर व्यास का एक पत्र मुझे मिला है उसमें उन्होंने लिखा है–"उग्र को हिन्दी साहित्य में बस दो ही व्यास समझते हैं एक मैं और एक–आप। मैं कह देता हूँ, आप चुप रहते हैं।"

उस "विक्रम" पत्र से व्यास जी ने जीवन में "विक्रम विश्वविद्यालय" की स्थापना का संकल्प लिया। "विक्रम कीर्ति मंदिर", "कालिदास समारोह" और "विक्रम स्मृति ग्रंथ" जो हिन्दी, मराठी और अंग्रेज़ी में, मेरा ख्याल है जैसे महाभारत के बारे में कहा जाता है कि जो कुछ महाभारत में है वह भारत में है और जो महाभारत में नहीं वह भारत में भी नहीं हैं। मुझे लगता है, कालिदास उज्जयिनी और विक्रम के बारे में, ऐसा अद्‌भुत ग्रंथ मेरे जीवन में अभी तक देखने में नहीं आया। हिन्दी, मराठी, संस्कृत और अंग्रेज़ी में इतना अद्‌भुत काम, क्या आप इसे अतिशयोक्ति मान सकते हैं? लेकिन मैं बहुत विनम्रता के साथ कहना चाहता हूँ कि लिख देना बहुत आसान है लेकिन उसे अपने जीवन में चरितार्थ करना, उसे अपने जीवन में साकार कर देना, सपने संजो लेना बड़ी बात है। उसे अपने जीवन में उतार लेना ये किसी

विलक्षण साहित्यकार की तपस्या है। मैंने तो अपने जीवन में अभी तक नहीं देखा जिसने न केवल विक्रम, कालिदास पर लिखा हो, उसे जिया हो अपने जीवनकाल में उसे स्थापित किया हो। विक्रम कीर्ति मंदिर, विक्रम विश्वविद्यालय खड़ा कर दिया हो, इतनी विनम्रता से, इतनी सादगी से कि कहीं नाम तक नहीं, कहीं नाम का उल्लेख नहीं? असाधारण तपस्या, असाधारण साधना और असाधरण अंतःप्रेरणा से ही, मेरा ख्याल है पं. सूर्यनारायण व्यास जन्मता होगा। जैसे–जैसे उस व्यक्ति के जीवन में चंचूपात करने की कोशिश करता हूँ मैं अंदर से हिल जाता हूँ। मुझे लगता है मेरा जीवन, क्या सत्तर जीवन आ जाये तो उस व्यास के एक जीवन को छोड़िए, उनके बारह भाव छोडिए, उनकी कुण्डली का एक भाव जान लूँ, नवग्रह छोड़िये एक ग्रह पकड़ लूं, तो मेरा जीवन सार्थक हो जाये और इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं हैं। विक्रम पर एक फीचर फिल्म बनवा देना। पृथ्वीराज कपूर को वे ले आये उज्जयिनी में। पहली ऐतिहासिक फिल्म बनाने का प्रयास। 'विक्रमादित्य' जैसी फिल्म उज्जयिनी में बनी। फीचर फिल्म बनी नृत्यांगना रत्नमाला को लेकर, विजय भट्ट ने बनायी। जब फिल्म दिखलाई गई तो लोग चौंके। कवि कालीदास पर फिल्म बनवाई। भारतभूषण और निरुपाराय को लेकर, वह भी रंगीन फीचर फिल्म, "कवि कालिदास"। उस फिल्म के शुरुआत में विजय भट्ट लिख रहे हैं "पं. सूर्यनारायण व्यास की प्रामाणिक शोध पर आधारित।" उम्र ही क्या रही होगी तब पंडित जी की – पचास वर्ष। आज लोग बात करते हैं हिन्दी की लड़ाई, हमारी दिल्ली में भी लोग लड़ते हैं। दुकानें खुल गयी हैं। मुलायम सिंह जी से चंदा लेकर चल रही हैं। पौराणिक वैदिक दुकानें हैं।

पं. सूर्यनारायण व्यास को 'पद्मभूषण' मिला 1958 में उन्होंने उसे लौटा दिया, अंग्रेजी को जारी रखने के विरोध में। हिन्दी का समर्थन करने वाले कितने लोग आज इसको याद करते हैं। लोहिया जी ने "अंग्रेजी हटाओ" आंदोलन चलाया उससे पूर्व पंडित जी ने यह काम पहले ही कर दिखाया। कइयों को शायद जानकारी बिल्कुल नहीं है कि जयप्रकाश जी ने डाकुओं को आत्मसमर्पण करने का सुझाव दिया उससे पहले मेरे पास एक पत्र है डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का, उससे मुझे ज्ञात हुआ कि पंडित जी ने डाकुओं को आत्मसर्पण का सुझाव भारत सरकार को दिया था कि डाकू मानसिंह के पुत्र तहसीलदारसिंह को फांसी से मुक्ति दें और पुनर्वास का मौका दें। पत्रों पर ही चला जाऊं तो बीस हजार पत्र तो होंगे ही। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, गांधीजी, पटेल, ये तो राजनेता हो गये, साहित्यकारों में प्रेमचन्द, प्रसाद, पंत, सुमन से लेकर प्रभाकर क्षौत्रिय और बालकवि बैरागी तक की पूरी पीढ़ी के पत्र मौजूद हैं। क्या असाधारण आदमी नियमित पत्र–व्यवहार? कई बार अनेक और बातें दिमाग में आती हैं।

मैं डॉ. शंकरदयाल शर्मा जी के निकट सम्पर्क में रहा हूँ। उन्होंने एक बार एक बात बताई कि 'पंडित व्यास मालवा को, उज्जैन को राजधानी बनाना चाहते थे। राजशेखर! हमारी उनसे बड़ी लड़ाई हुई, बैर हुआ। हम जवाहरलाल के खेमे में थे और पंडित जी

राजेन्द्र प्रसाद के मित्र थे। जब व्यास जी को राजधानी नहीं मिली तो वे विश्वविद्यालय ले आये। इन्दौर और भोपाल में विश्वविद्यालय नहीं था। मुझे लगता है व्यास जी जानते थे कि इस नगर के नौजवान पढ़ लिख लेंगे तो अपने हक् की लड़ाई तो वे खुद ही लड़ लेंगे।'

एक बात मैं बार–बार कहना चाहता हूँ, कोशिश करूंगा कि मैं आलोचना न करूं। कई मायने में, मैं आलोचक भी हूँ। पर मुझे लगता है कि एक व्यक्ति को निष्पक्ष होकर देखना चाहिए। उसके बोए हुए बीजों को, उसके सामर्थ्य को, उसकी पूजा को, उसकी प्रतिज्ञा को, उसके त्याग को, उसके समर्पण को पूरे अर्थों में देखा जाना चाहिए। अब जब उनकी समग्रता को बाँधने की कोशिश कर रहा हूँ तो वे एक व्यंग्यकार भी हैं। अभी उनका सम्पूर्ण 'व्यंग्य–संग्रह' आयेगा तो बहुत हैरत होगी। उनके 300 व्यंग्य लेख मेरे पास हैं। वे अनेक नामों से लिखते थे। जैसे–चक्रधर, शरण, व्यासाचार्य। उनकी 'तू–तू, मैं–मैं' तो वर्ष 1935 में पुस्तक भवन, काशी, बनारस से छपी। लेकिन हैरत की बात है उन्होंने अपनी मौत पर व्यंग्य लिखा–"आखों देखी अपनी मौत", यह 22 जून, 1965 में छपा। उन्होंने "मूर्ति का मसला" लिखा। उन्हें मालूम था, मेरे मरने के बाद मेरी प्रतिभा को लेकर उज्जैन में निम्न स्तरीय बहस होगी। यहाँ जीवित लोग अपनी प्रतिमा लगवा लेंगे, मगर उनकी प्रतिमा न लगने दी जाएगी, न लगायी जायेगी। मैंने अभी उसे पुनः प्रकाशित करवाया है। उनकी भविष्य दृष्टि उनके व्यंग्य पर भी दिखाई देती है।

कई व्यंग्यों में उन्होंने भावी भारत की कल्पना की है। जैसा उन्होंने लिखा, "मंगल ग्रह की सस्ती बस्ती," "चीन की दीवार गिरेगी", "भारत–पाक का विभाजन खत्म हो जायेगा", "चीनी चूहों की घुसपैठ" में वे लिखते हैं–"चीन आक्रमण करेगा", यह 1942 में लिखा। अद्‌भुत दृष्टि और ज्योतिष की तो बात ही क्या?

दो पंक्ति में कहूँ–ज्योतिष जगत के वे सूर्य थे। देश की आज़ादी का मुर्हूत उन्होंने निकाला। मेरे पास एक लेख आया है–1924 ई. में बनारस में "आज" में एक लेख छपा। उसमें उन्होंने लिखा – "गांधी मरेंगे नहीं मारे जायेगे।" लेख के अंत में वे लिखते हैं–"गांधी वध एक ब्राह्मण द्वारा होगा।" यह लेख सुरक्षित है। 1930 में एक लेख 'टाइम्स आफ इण्डिया' में छपा। उसमें उन्होंने लिखा–"नेहरू भारत का भावी लेनिन होगा।" 1930 के बाद नेहरू कैसे रहेगे? उनकी पत्नी का देहवसान कब होगा? वे विश्व इतिहास पर कब लिखेंगे? "मेरी कहानी" कब लिखेंगे? यह पूरा लेख 'टाइम्स आफ इण्डिया' में छपा। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के संपादक श्री जी.एस. करंदीकर ने व्यास जी को "जीवित विश्वकोश" कहा था।

पंडित जी ने कश्मीर पर एक लेख 1941 में लिखा। वह लेख मैंने महाराजा कर्णसिंह को पुनः भेजा है। "कश्मीर के दुर्भाग्य की कथा" जो उन्होंने पहले ही लिख दी थी। एक छोटी–सी घटना ज्योतिष पक्ष पर! लालबहादुर शास्त्री ताशकंद जा रहे थे। व्यास जी ने 'हिन्दुस्तान' को एक लख भेजा कि शास्त्री जी का जाना रोका जाये, वे लौटकर नहीं आयेगे। रतनलाल जोशी उस समय संपादक थे। वे मालवा के थे। उन्हें 'हिन्दुस्तान' का संपादक

बनवाने में भी व्यास जी की भूमिका रही। रतनलाल जोशी जी ने मुझे बताया था—"मैं डरा, प्रधानमंत्री के बारे में ऐसी भविष्यवाणी कौन छाप सकता है! शास्त्री जी को सूचित किया वे हंसकर टाल गये।" जब वे नहीं लौटे तो जोशी जी ने लेख संपादकीय टिप्पणी के साथ छापा। शीर्षक था—"शास्त्री जी ताशकंद से नहीं लौट पायेंगे।"

ये सब कुछ सुरक्षित है। वे 114 स्टेट के ज्योतिष रहे। वे ज्योतिष सलाहाकार रहे — गांधी जी, राजेन्द्र प्रसाद जी, पटेल जी, नेहरू जी जैसे तमाम व्यक्तियों के।

अभी एक दिन लेखक प्रो. ओम नागपाल जी ने मुझे खाने पर बुलाया। मुझसे कहने लगे—'मैं तुम्हें बचपन से जानता हूँ। तुमने बहुत काम किया है। 53–54 किताबें लिख डाली हैं। 300–400 फिल्में बना डालीं। 2000–2500 लेख लिख डाले। तुम बड़े आदमी हो। तुम पंडित जी–पंडित जी करते हो, लोग गालियां बकते हैं। कहते हैं इसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। मैं नहीं चाहता तुम पंडित जी, पंडित जी करो।' मैंने कहा—उनकी अगले वर्ष जन्मशताब्दी आ रही है तो किसी ने सलाह दी कि मैं अपनी बात कहूँ। मैं तो इसी तैयारी में लगा हूँ। तो उन्होंने कहा—'"ये सब दो माह में हो जायेगा। बालकवि दादा सहित हम सभी मिलकर चलेंगे। अटल बिहारी वाजपेयी जी से मिल लेंगे। उनकी प्रतिमा, मार्ग, ग्रंथावली, डाक टिकट सब हो जायेगा। हम बैठे हैं।"

मैं शायद अहंकार पाल ही लेता कि मैं ही क्यों पंडित जी पंडित जी करूँ, तभी भोजनोपरांत ओम नागपाल जी ने मुझे एक किताब भेंट की। उसमें "विक्रम विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. सुमन कालिदास समारोह के संस्थापक डॉ. सुमन"। मैंने कहा यदि विद्वत् लोगों का ये हाल है तो डॉक्टर साहब मुझे मेरे जीवन के दो वर्ष उनके लिए समर्पित कर लेने दीजिए। मैं 38 का हूँ। शायद दो वर्ष और नहीं जीयूँ। लेकिन यदि दो वर्ष पंडित जी को समर्पित कर भी दूं तो कौनसा बड़ा नुकसान हो जाएगा!

मैंने "उग्र पर काम किया, भगत सिंह पर, हृदय पर, भगवत शरण उपाध्याय पर, प्रभाष जोशी पर, तब हिन्दी वालों ने कुछ नहीं कहा। सूर्यनारायण जी मेरे मित्र नहीं, शत्रु भी, आलोचक भी नहीं। बड़े बाप का 'पुत्र' होना—"शाप" भी है "वरदान" भी। शाप जानना है तो पूछिए गांधी जी के बड़े बेटे हरिलाल गांधी से। वरदान जानना है तो पूछिए राजकपूर को, जिसने जवाहरलाल की तरह, मोतीलाल से हटकर अभिनेता, निर्माता, निर्देशक बनकर रूस की सरहदों को छुआ। इसके लिए बहुत बड़ा कलेजा और बहुत समय चाहिए।

मैं तो केवल इतना ही कहना चाहूंगा कि वह दौर दूसरा था जब लोग अपना घर खाली करके समाज को भरते थे। सूर्यनारायण व्यास ने अपना घर खाली करके समाज को भरा। आज लोग समाज को खाली करके अपना घर भर रहे हैं। मुझे याद आती है मेरी माँ श्रीमती विजय लक्ष्मी व्यास। वे न होतीं तो पं. सूर्यनारायण व्यास शायद घर खाली न कर पाते। वे घर खाली करने में बराबर मदद करती रहीं। इसलिए श्रीमती विजय लक्ष्मी न होतीं तो पं. सूर्यनारायण व्यास न होते। मैं तो उनके सान्निध्य में केवल चार बरस रहा। जब वह युग

का "जीनियस" अपनी याददाश्त खो बैठा तो मैं उन्हें अखबार पढ़कर सुनाता था। मैं तो साइंस का विद्यार्थी था। मैं तो अब भी कहता हूँ चुम्बक में कोई एक स्पर्शीय शक्ति होती है, जिसे लोहे पर घिसने से वह भी चुम्बक बन जाता है।

तो कहना यही चाहता हूँ – चंदन की छाया में कुछ दिन रहने का सौभाग्य मिला था, दुनिया समझ रही मुझको मैं भी मलियानिल हूँ, चंदन हूँ। उर्दू के लहज़े में कहूँ तो–

"ये तुम्हारा नूर है जो पड़ रहा है मेरे चेहरे पर
वरना कौन देखता मुझे अंधेरे में?"

□□□

रेणु का मन

● भारत यायावर

रेणु के सम्पूर्ण लेखन के बीच 'प्रतिवाद' का स्वर मुखरित है। झंडों और डंडों के वे हिमायती नहीं हैं, किंतु एक तीखा और कड़वा भाव इनके प्रति है। कारण यह है कि इस देश को, इसकी आज़ादी को, यहाँ की राजनीति ने पुष्पित–पल्लवित तो नहीं ही किया, इसे ठूंठ बनाने का काम ज़्यादा किया। पतनशीलता की चरम पराकाष्ठा को देखकर वे कहते हैं–"मैंने आज़ादी की लड़ाई आज के भारत के लिए नहीं लड़ी थी। अन्याय और भ्रष्टाचार अब तक मेरे लेखन का विषय रहा है और मैं सपने देखता रहा हूँ कि यह कब खत्म हो।"

फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने आत्म–रेखाचित्र 'पाण्डुलेख' के प्रारम्भ में लिखा है–"अपने बारे में जब कभी कुछ लिखना चाहा–जी.बी.एस. (यानी जॉर्ज बर्नाड शॉ) की मूर्ति उभरकर सामने खड़ी हो जाती–आँखों में व्यंग्य और दाढ़ी में एक भेदभरी मुस्कुराहट लेकर और कलम रुक जाती। अपने बारे में सही–सही कुछ लिखना संभव नहीं।... कोई लिख ही नहीं सकता।" रेणु अपनी रचनाशीलता के प्रारंभिक दौर में जॉर्ज बर्नाड शॉ से काफी प्रभावित थे। उनका कुछ भी दुराव–छिपाव नहीं। ये गुण रेणु में शॉ से ही आये थे। 1950 ई. में लिखे रेणु के इस पत्रांश को देखें–"George Bernard Shaw declares – Yes, of course, I am a communist......" और न जाने क्यों मैं जब इस पंक्ति को पढ़ता हूँ–हँसते–हँसते मेरा दम फूलने लगता है। अपने को सब कुछ कह देने वाले दो ही महान् व्यक्ति जमाने में हुए, एक तो दुनिया की बदकिस्मती से मार डाले गये। रह गये हैं बस एक। जी.बी.एस. नहीं होगा? गाँधी के साथ ही 'सत्य' खत्म। उनकी चिता की ज्वाला में जलकर राख हुए 'सत्य' को पुड़िया में बंद कर या सोने के कलश में बैठाकर, फौज़ों की सलामियाँ देकर, झंडे झुकाकर या लहराकर हिंदुस्तान की सभी बड़ी नदियों में विसर्जित कर दिया

गया। ... जीने का सहारा है—मुस्कुराहट। हम उनकी बातों को पढ़ते हैं और हमें उन बातों में छिपी हुई, लापरवाह हँसी की झलक दिखायी पड़ती है। दिल गुदगुदा उठता है। हम मुस्कुरा पड़ते हैं। गाँधी और शॉ की बातें.....। वे नहीं रहेंगे तो क्या, उनकी बातें तो रहेंगी।" रेणु के आदर्श इन सत्यवक्ताओं की वाणी का प्रभाव उनकी रचनाशीलता और उनके जीवन पर भी बहुत कुछ है।

रेणु के सम्पूर्ण लेखन के बीच 'प्रतिवाद' का स्वर मुखरित है। झंडों और डंडों के वे हिमायती नहीं हैं, किंतु एक तीखा और कड़वा भाव इनके प्रति है। कारण यह है कि इस देश को, इसकी आज़ादी को, यहाँ की राजनीति ने पुष्पित—पल्लवित तो नहीं ही किया, इसे ठूंठ बनाने का काम ज़्यादा किया। पतनशीलता की चरम पराकाष्ठा को देखकर वे कहते हैं—"मैंने आज़ादी की लड़ाई आज के भारत के लिए नहीं लड़ी थी। अन्याय और भ्रष्टाचार अब तक मेरे लेखन का विषय रहा है और मैं सपने देखता रहा हूँ कि यह कब खत्म हो।" अन्याय और भ्रष्टाचार के विरुद्ध उनका जीवन प्रारम्भ से अन्त तक सक्रिय रहा। सक्रिय ही नहीं 'अपनी ज्वाला से आप ज्वलित जो जीवन' का उदाहरण रहा। ऐसे व्यक्तित्व और लेखक हिंदी साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य में भी दुर्लभ होते गये हैं।

रेणु को हज़ारों की संख्या में लोकगीत एवं लोककथाएँ याद थीं। इन्हें उन्होंने गाँव के लोगों से सीखा था। उन्होंने गाँव के लोगों से जीवित शब्द और भाषा भी ग्रहण की थी। यहाँ तक कि पशु—पक्षियों की बोली बानी को भी समझा था और हिन्दी साहित्य में इन सबके साथ अवतरित हुए थे। कुछ उदाहरण देखें—"मृदंग कहै—धिक् है, धिक् है, मंजीर कहै—किनको—किनको?....तब हाथ नचाकर गणिका कहती—इनको, इनको, इनको, इनको!" ['नेपथ्य का अभिनेता' शीर्षक कहानी से] 'पहलवान की ढोलक' तो 1944 ई. में लिखी कहानी है, उसमें ढोल के विभिन्न तालों से निकलने वाले अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है। जैसे—'चट्—धा—गिड़—धा, चट—धा—गिड़ धा'—यानी आजा भिड़जा!... धाक—धिन्ना, तिरकट तिन्ना—यानी दाँव काटो, बाहर हो जा! चटाक् चट्—धा—यानि उठा पटक दे, उठा पटक दे!. .. धिक—धित्रा, धिक—धिन्ना—यानि चित करो, चित करो! 'परती—परिकथा' में चिड़ियों की विभिन्न प्रकार की आवाजों के अर्थ—संदर्भ दिये हैं। 'जुलूस' उपन्यास के प्रारम्भ में ही 'हल्दी चिरैया' दिखायी पड़ती है—'का कस्य परिवेदना!' कहती हुई। रेणु की एक संस्मरणात्मक रचना है—'ईश्वर रे, मेरे बेचारे!' इसमें वे आम पक्षियों के अलावा कई नये पक्षियों का अनुसंधान करते हैं। अब 'कूँखनी' नामक चिड़िया भी होती है, हमें क्या पता? और 'दुदुमा'! रेणु लिखते हैं—"रात गहरी होने के बाद अक्सर नर और मादा का सवाल—जवाब सुनायी पड़ता। नर की आवाज इस तेवर के साथ कि वह नींद में सोयी हुई मादा को जगा रहा हो—'एँ—हें—एँ?' अर्थात् जगी हो? ज़वाब में एक कुनमुनायी—सी नींद में आती हुई आवाज़ – 'एह! ऐहें—ऐहें—ऐहें!' अर्थात् 'ओह! जगी ही तो हूँ! क्यों बेकार....' और तब, नर—दुदुमा एक बार फिर बोलता—'ऐंहें! ऐंहें—अर्थात् 'हाँ, जगी रहो।"

इस तरह के प्रसंग रेणु–साहित्य में यत्र–तत्र–सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। इसीलिए रेणु की भाषा इतनी प्राणवंत, इतनी रससिक्त, इतनी कोमल, इतनी ललित, इतनी ग्राह्य है! याद करें, रेणु के पूर्व के कथा–साहित्य को। प्रेमचंद के बाद कथा–साहित्य में एक खास तरह के आभिजात्य का आधिपत्य! भाषा अपनी तत्समधर्मिता और 'शब्दों के खेल' और 'उक्ति–वैचित्र्य' के जाल में छटपटा रही थी। उसका दम घुट रहा था। लोकभाषा और लोकजीवन से जब भी साहित्य कटता है, उसकी यही दशा होती है। यहाँ मैं डॉ. नामवर सिंह की एक स्थापना को उद्धृत करना चाहूँगा—"विचार जिस प्रकार प्राप्त होता है, उसी प्रकार अभिव्यक्त भी होता है; यदि वह पुस्तकों से प्राप्त होता है, तो पुस्तकी ढंग से अभिव्यक्त होता है; यदि वह जनारण्य से दूर एकान्त कमरे में आराम–कुर्सी के चिन्तन से प्राप्त होता है, तो रचना में एकान्त और वैयक्तिक चिन्तन का रूप लेता है; और यदि वह जीवन के संघर्षों में कुछ निछावर करने से प्राप्त होता है तो उसी गर्मी, उसी ताज़गी, उसी सजीवता, उसी सक्रियता तथा उसी मूर्तिमत्ता के साथ रूपायित होता है। साहित्य में इसी रूपायन का महत्त्व है।"

और रेणु इस प्रकार के 'रूपायन' के आज़ादी के बाद के हिन्दी के सबसे समर्थ कथाकार हैं। उनके लोक–जीवन एवं लोक–भाषा के सान्निध्य के कारण ही सिर्फ नहीं। उन्होंने आज़ादी की लड़ाई में अपना लहू बहाया था; पुलिस की बर्बरता झेली थी; जेल की यातना सही थी; कई किसान–मज़दूर आन्दोलन में शरीक होकर भूमिपतियों एवं पूंजीपतियों के उत्पीड़न सहे थे; पड़ोसी देश नेपाल की जनता की मुक्ति के लिए कलम से ही नहीं, बल्कि अपनी काया से भी '*क्रांति–कथा*' रची थी; राजनीतिक दलों के असली चरित्र को बहुत निकट से देखा था; अपने गाँव–इलाके में जनजागरण के लिए उपस्थित हुए थे; सत्ता की निरंकुशता के विरुद्ध सड़क पर जुलूस का नेतृत्व किया था। इसीलिए उनकी रोग–जर्जर काया के भीतर भी 'दिव्य प्रतिवाद से हरदम उनका जीवन जलता रहता है।"

रेणु का 'मैला आँचल' 1954 में जब प्रकाशित हुआ था तो इसे हिन्दी के पंडितों ने एक चमत्कार माना। कहा गया कि रेणु अपनी इस पहली ही कृति से प्रेमचंद के समानान्तर खड़े हो गये हैं। पर यह रेणु की पहली कृति नहीं थी। इनके पूर्व रेणु काफी कुछ लिख चुके थे। एक लम्बा संघर्षमय जीवन जी चुके थे। उन्होंने कहीं से 'इलहाम' पाकर वह कृति नहीं लिखी थी और कोई लिख भी नहीं सकता है। उसी समय डॉ० नामवर सिंह ने अपने एक लेख में इस पर चर्चा करते हुए कुछ महत्वपूर्ण बातें कही थीं, जो आज भी प्रासंगिक हैं—"अभी–अभी एकदम नये लेखक फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आँचल' निकला है। उपन्यास पढ़ते ही कौतुकी लोग चौंक उठे और विस्मयादिबोधक स्वर में 'प्रतिभा–प्रतिभा' चिल्लाने लगे। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी कर दी कि रेणु अब ऐसी अथवा इससे अच्छी रचना न कर सकेंगे। इनके कहने से भी ऐसा ही लगता है गोया यह कृति अचानक बन पड़ी है। परन्तु रेणु का यह उत्थान क्या सचमुच आकस्मिक है?"

नामवर जी ने यह जो प्रश्न उठाया है, वह मेरे भीतर भी कभी उठा था और जब मैंने अप्रकाशित रेणु की खोज शुरू की तो वे विपुल रचनाएँ मिलीं और जन–संघर्षी रेणु मिले

और उनकी वह अथक साधना मिली, जिसका अग्रिमचरण 'मैला ऑचल' था। 'मैला आँचल' के पूर्व की रेणु की रचनाएँ उनके अभूतपूर्व रचना कौशल, विराट जनजीवन को उसके अन्तर्विरोधों सहित अभिव्यक्त करने की क्षमता का पता देती है। नामवर सिंह आगे कहते हैं–"लेखक ने इसमें मिथिला के एक गाँव का सर्वांगीण जीवन इतने सजीव रूप में उपस्थित किया है कि हम दंग रह जाते हैं। यही है रेणु की विशेषता, क्योंकि रेणु से पहले किसी अन्य व्यक्ति ने यह कार्य इतनी सफलता से नहीं किया था।" रेणु का प्रारंभिक जीवन अनेक घटना–बहुल संघर्षों से भरा पड़ा है और उनका प्रारंभिक लेखन बेहद ओजस्वी, प्रखर और तल्ख़ है। उनकी परवर्ती रचनाओं से उसका महत्त्व किसी भी दृष्टि से कम नहीं। साथ ही उन्हीं की भित्ति पर उनके परवर्ती लेखन का निर्माण हुआ है, इसलिए इनका पठन–वाचन रेणु की अन्य रचनाओं की परतों को भी खोलता है।

रेणु की जीविका का मुख्य साधन कृषि था। वे किसानी करते थे और साहित्य की तरह ही उसे गंभीरता से लेते थे। यहाँ तक कि देश–दुनिया को भी वे एक किसान के नज़रिये से देखते थे। उनके कथा–साहित्य में भी उनका यही किसानी मन और दृष्टिकोण उजागर हुआ है। हिंदी में रेणु इस तरह के पहले लेखक हैं। रेणु में ग्राम–जीवन के प्रति तन्मयता का जो भाव है, खेती–किसानी के प्रति सिर्फ लगाव ही नहीं, लगन भी है, उन्हें विशिष्ट लेखक बनाता है और एक अलग तरह की छवि निर्मित करता है। इसके बावजूद रेणु को नकारने वाले साहित्यिक विशेषज्ञों की कमी नहीं थी। वे अपने विरोधियों को उत्तर देते हुए कहते हैं–"अविचल आस्थावादी मुझको नैराश्यवादी, जीवन–विरोधी, प्रतिक्रियाशील, पलायनवादी आदि साबित करने के लिए साहित्य–मंथन कर रहे हैं। मैं अविचल हूँ। जीवन–दर्शन शून्य तो कह ही रहे हैं।.... मुश्किल यह है कि कलम पकड़ते ही लेखक और लेखक होते ही दार्शनिक का परम पद हमें स्वयं प्राप्त हो जाता है। बिना किसी जिज्ञासा के जीवन–दर्शन जिन्हें लोकता है, वे महान् हैं। मैं लंडूरा ही भला.....।" यहाँ 'अविचल आस्थावादी' से रेणु का तात्पर्य कट्टरपंथी मार्क्सवादी आलोचकों से है। वे आगे उनको उत्तर देते हुए कहते हैं–"मैं उन्हें नहीं समझा सकूँगा कि शिल्पी और मिस्त्री में फर्क होता है, कि हर शिल्पी की तरह मेरी भी जिज्ञासाएँ है।"

निस्संदेह, रेणु जीवन में गहरे धंसे हुए लेखक थे, लोक–जीवन में उनकी जड़ें बेहद गहरी थीं, इसलिए वे उखड़ नहीं सके। वे जीवन–दर्शन से अधिक महत्त्व जीवन–जिज्ञासा को देते थे और कथा–साहित्य में बहुत सारे मिस्त्री टाइप कथाकारों से भिन्न 'शिल्पी' थे। रेणु तथाकथित मार्क्सवादी और प्रगतिशील लेखकों को संबोधित करते हुए अपनी एक रचना में कहते हैं–"आप जिंदगी, संघर्ष, मुहब्बत वग़ैरह पर बड़े–बड़े पोथे लिख सकते हैं–सिर्फ लिख ही सकते हैं। आप अपने को प्रगतिशील कहते हैं, यथार्थवादी होने का दावा करते हैं। पोथियों से आपने यथार्थवाद सीखा हैं जिंसे मैं उधार की चीज कहता हूँ। और मेरा जन्म किसी 'कॉफी हाउस' के इर्द–गिर्द नहीं, बल्कि खलिहान के पास की एक झोंपड़ी में

हुआ है, जहाँ जन्म से लेकर मौत तक—लड़ाइयाँ ही लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं। जहाँ की समस्याएँ तर्क करने का मौका नहीं देती हैं। जहाँ सीधी चोट करनी पड़ती है, सीधे वार को सहना पड़ता है। मेरा दावा है कि मैंने जिंदगी को आपके 'जेम्स जॉयस' से अधिक पहचाना है। हमारी जिंदगी हिंदुस्तान की जिंदगी है। हिंदुस्तान से मेरा मतलब है असंख्य गरीब मजदूर—किसानों के हिंदुस्तान से। हम अपनी मिट्टी को पहचानते हैं, हम अपने लोगों को जानते हैं। हमने तिल—तिल जलाकर जीवन को, जीवन की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की है।"

यह है रेणु का हिंदुस्तान, जिसका सपना लगातार टूटता—बिखरता रहा। साहित्य में राजनीति करने वालों से सावधान करते हुए रेणु कहते हैं—"साहित्य की पौध बड़ी नाजुक और हरी होती है। इसे राजनीति की भैंस द्वारा चर लिये जाने से बचाये रख सकें तभी फसल हमें मिल सकती है।" 'राजनीति की भैंस' आज साहित्य ही नहीं, संस्कृति कर्म के हर क्षेत्र में अपनी घुसपैठ कर उन्हें ठूँठ बनाने की कोशिश कर रही है। 1945 की रेणु की एक कहानी है—'पार्टी का भूत'। इसका प्रारम्भ वे इस शेर के साथ करते हैं—

यारों की शक्ल से अजी डरता हूँ इसलिए
किस पारटी के आप हैं? वह पूछ न बैठें।

जब हर आदमी अपने हाथ में किसी—न—किसी पार्टी का झंडा थामे है, रेणु इस बात से डरते हैं कि कहीं उनसे पूछ न लिया जाये कि वे किस पार्टी के हैं? इसका कारण है कि वे किसी पार्टी में नहीं हैं। ये पार्टियाँ और उनके नेता जनता के नाम पर तो सत्ता प्राप्त करते हैं, पर जनता से उनका कोई लेना देना नहीं। उनका ज्यादा समय एक—दूसरे को ध्वस्त करने में, नीचा दिखाने में लगा रहता है। बकौल विजय मोहन सिंह—रेणु के मुताबिक़ सभी राजनीतिक पार्टियाँ एक—दूसरे को काटने वाले रास्तों पर हैं या स्वयं रेणु भी एक चौराहे पर हैं, जिसके सभी रास्तों पर कुछ दूर चलने के बाद वापस लौट आये हैं—'राहबर' की न 'पहचान' के कारण नहीं, बल्कि हर राहबर यानी राजनीति यानी नेता यानी पार्टी को पहचान जाने के कारण। लेकिन यह 'मुक्ति' नहीं है इसलिए एक गहरी पीड़ा है। उनकी रचनाओं में यह कभी—कभी आत्म—परिहास में परिवर्तित होकर ज़्यादा व्यापक त्रासदी बन जाती है। यद्यपि रेणु राजनीति में ऐसे रचे—बसे कभी नहीं रहे, किंतु उनकी रचनाओं में राजनीति की अहम भूमिका है। उनके भाव—बोध में राजनीति के तंतुओं का गुंजलक है, उसके आड़े—तिरछे ताने—बाने से बुना हुआ। अतः राजनीति 'ऑब्सेशन' के रूप में भी है और कभी दुःस्वप्न के रूप में भी। उनकी रचनाओं में राजनीतिक मूल्यों के क्षरण का ही परिदृश्य है, जो उनकी रचनाओं को सम्पन्न बनाता है और राजनीति को विपन्न। 'पार्टी का भूत' कहानी ही नहीं, कई कहानियों में रेणु व्यक्तिगत अर्थोंको राजनीतिक अर्थों के साथ जिस सहजता के साथ संयुक्त कर देते हैं, उसी से एक संपूर्ण रचना की सृष्टि होती है। 'धर्म, मज़हब और आदमी' कहानी का नायक मनमोहन का एक प्रश्न, जो स्वयं रेणु का प्रश्न है, हमें सहज ही आकर्षित

करता है—"भूखे बीमार मुल्क में धर्म के नाम पर लड़ाइयाँ होती हैं अथवा रोटी के लिए। रोटी के लिए नोआखाली और बिहार के गाँवों ने कितनी बार सम्मिलित कोशिश की?" यानी धर्म और मज़हब से ज्यादा अहमियत आदमी को देनी चाहिए थी, पर राजनीति उसे एक दूसरी ही दिशा में ले जा रही थी। 'जलवा' कहानी की फाातिमा दी एक प्रश्न पूछती है—"याद है आज़ादी के पहले जिन तरक्कीपसंद अदीबों की नज़्मों और अफ़सानों में हिन्दू–मुस्लिम इत्तहाद की बातें, मानवता की दुहाई और न जाने क्या–क्या ठुँसी रहती थीं, आज़ादी के बाद अचानक उनकी बोलियाँ बन्द ही नहीं, बदल गयीं।... अव्वाम की क़समें खाने वाले टुकुर–टुकुर देखते रहे और फ़िरकापरस्त अज़हदों ने पूरी क़ौम को लील लिया।" रेणु को आज़ादी के बाद भी फातिमा जैसी वीरांगना मिलती है जो साम्प्रदायिक ताकतों से अकेली लड़ती है। वह अकेली है, इसलिए उसकी पराजय निश्चित है। दूसरी तरफ़ अकेले पथ पर ही चलने वाले किसन महाराज हैं, 'तॅबे एकला चलो रे' कहानी के नायक, जो बटैयादारों और भूमिपतियों के भूमि–संघर्ष में शहीद होते हैं। फातिमा दी की तरह ही अन्याय के दिव्य प्रतिवाद से किसन महाराज का जीवन जलता रहता है। वह आदमी नहीं, पाड़ा [भैंसा] हैं तो क्या? 'तॅबे एकला चलो रे' कहानी रेणु ही लिख सकते थे, दूसरा कोई नहीं। प्रेमचंद ने बैलों की कहानी लिखी और रेणु ने यह भैंसे की कहानी, जो जानवर होकर भी मनुष्य की काया में पलते जानवरों के खिलाफ़ शुरू से ही संघर्षरत रहता है।

रेणु की रचनाओं में अलगाव, टूटन और विस्थापन की गहरी पीड़ा है। वे लोक–परम्पराएँ जो भारतीय ग्राम–समाज को एक गहरे राग में बाँधे रहती थीं, लुप्त हो रही हैं। एक महान् सांस्कृतिक चेतना की वह भूमि जिस पर रेणु का रचनाकार मन पुष्पित–पल्लवित हुआ था, छिन्न–भिन्न हो गया था। 'रसप्रिया' कहानी का मिरदंगिया पूछता है—"क्या एक दिन चिड़िया भी गाना भूल जायेगी?" 'विघटन के क्षण' कहानी की चुरमुनियाँ की नन्हीं–सी जान न जाने किस संकट की छाया देखकर डर गयी है—क्या रह जायेगा? सभी, एक–एक कर गाँव छोड़कर जा रहे हैं।" रेणु का मन ठीक चुरमुनियाँ की तरह है जो गा–गाकर रोना चाहती है करुण स्वर में।

रेणु अपने गाँव–इलाके के 'संवदिया' की तरह हैं, जिसका दिल गाँवों की इस फटेहाल दशा, इस टूटन, इस भूख और गरीबी को कहते हुए स्वयं दरकता है। हाँ, जहाँ प्रेम है, सांस्कृतिक सम्पन्नता है, खेतों में झूमते हुए पौधे हैं, मेला–ठेला, नाच–ठेला, नाच–तमाशा है, वहाँ उनका दिल हुलसता है।

□□□

आत्म-विन्यास का गल्प : 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू'

● रमेश दवे

भारतीयता का एक सांस्कृतिक राग रचने वाले रचनाकार–चिंतक रमेशचंद्र शाह पर एक ऐसा आलेख जो न केवल उन पर बल्कि उनके समकालीनों के रचना संसार की भी पड़ताल करता चलता है।

गल्प, कथा, कहानी या अफसाना अपने वृहत्तर कलेवर में महा–आख्यान का आकार ग्रहण करते हैं तो अपने अल्प–आकार में आख्यान में उत्कर्ष रचते हैं। एक गल्प–कार गल्प में स्वयं को भी तरह–तरह से घटित करता है, कभी प्रगट रूप में, तो कभी छद्म रुप में। कथा का छद्म भी शिल्प है और कथा का प्रागट्य भी शिल्प। दोनों ही जीवन–उन्मुखी हैं और जीवन अपनी संपूर्णता में भी न सम्पूर्ण छद्म है ओर न सम्पूर्ण प्रागट्य।

रमेशचन्द्र शाह अपने उपन्यास 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' (वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर) में गल्प को जो शिल्प देते हैं, उसे आकार के विस्तार से बचाते हैं, अनावश्यक और भावुक फैलावों से ढीला नहीं होने देते बल्कि एक प्रकार की अल्पता का विन्यास अपनाते हैं, कथा के कथ्य का अल्प–सौष्ठव, कथा के चरित्र का अल्प–आख्यान और कथा के भौतिक भूगोल एवं भौतिक–समय का अल्प विराम। वे विभूति बाबू को न ठहराते हैं, न दौड़ाते हैं, न पकड़ते हैं, न जकड़ते हैं, बल्कि उन्हें मनुष्य की तरह उठाते हैं, जीवन की तरह गढ़ते हैं और विचार की तरह कथांग बनाते हैं।

'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' देह का देह से आत्म–संवाद है, प्राण से प्राण का आत्म–संवाद और आत्मा का आत्मा से संवाद। विभूति एक चिर–बौद्धिक प्रश्न भी है और

उत्तर खोजती प्रज्ञा भी। विभूति व्यक्ति हैं, तो व्यक्तित्व के अन्तर्लोक का अन्वेषण करते हैं, विभूति अभिव्यक्ति हैं तो भाषा और विचार के अन्तर–सम्बन्धों की रचना करते हैं और विभूति यदि एक जीवन हैं तो वे अपनी जीवन–संज्ञाओं को विशेषणों से मुक्त खालिस वस्तुओं की अन्तर–उपस्थितियों में तलाशते हैं। जब ई.एम.फार्स्टर – 'आस्पेक्टस आफ द नॉवेल' में कहते हैं कि कोई अंग्रेजी उपन्यासकार मनुष्य की घरेलू ज़िन्दगी और नायकीय छवि का इतना विराट और सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं कर पाता जितना टॉल्सटाय कर पाते हैं, कोई अंग्रेजी उपन्यासकार दोस्त्येवस्की की तरह मनुष्य की आत्मा का इतनी गहराई से अन्वेषण नहीं कर पाता और कोई अंग्रेजी उपन्यासकार मार्सेल प्रूस्त की तरह आधुनिक चेतना का विराटतम विश्लेषण नहीं कर पाता, तो ऐसा लगता है जैसे उपन्यास में मनुष्य का जीवन–सत्य, भावसत्य और वस्तु–सत्य ही वे तत्व हैं जो एक कथा को उसकी तेजस्वी आभा में भी और उसके अन्दर के अंधकार में भी एक साथ साकार और सार्थक करते हैं।

क्या ऐसे ही प्रश्न हम हिन्दी गल्पकारों का लेकर उठा सकते हैं? निर्मल वर्मा की तरह परंपरा में आधुनिकता का गहन–विन्यास, कृष्ण बल्देव वैद की तरह देह में भाषा का आत्मराग, कृष्णा सोबती की तरह जीवन में आकृत और निराकृत होते स्वप्न और यथार्थ और विनोद कुमार शुक्ल की तरह वस्तु का भाव में कायान्तरण क्या हिन्दी उपन्यास के वैसे ही प्रश्न नहीं हो सकते जैसे फार्स्टर अंग्रेजी उपन्यासकार को लेकर पैदा करते हैं? क्या रमेशचन्द्र शाह के 'गोबर गणेश' से लेकर 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' में परंपरा, जीवन, स्वप्न, यथार्थ, वस्तु, भाव और भाषा, ये सब मिलकर भारतीयता का एक अलग सांस्कृतिक राग नहीं रचते? गोबर गणेश और विभूति बाबू दो पृथक्–पृथक् अनुपस्थितियाँ हैं। गोबर–गणेश देशजता में यदि आधुनिकता की अनुपस्थिति है तो विभूति बाबू संवेदन में भावुकता की अनुपस्थिति। शाह ने अपना यात्रावृत्त 'एक लम्बी छाँह' जब लिखा, तो वह आयरलैण्ड और इंग्लैण्ड के सन्दर्भ में यात्रावृत्त है, टेमनोस अकादमी के व्याख्यानों के रूप में बौद्धिक विमर्श है लेकिन अपनी रागात्मकता में एक सम्पूर्ण उपन्यास भी है।

इसी प्रकार 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' भी अपने यथार्थ और उससे जुड़े जीवन–प्रसंगों में एक कथा है, अध्ययन और विचार–सन्दर्भ में एक सांस्कृतिक विमर्श और अपनी आत्म–अभिव्यक्ति में अनुभवों की विविधता से युक्त एक जीवन–रूप! विभूति–बाबू एक प्रकार से एक आत्म–संत्रस्त संज्ञा है। विभूति का सामान्य होना भी संत्रास है और विभूति का विभूति हो जाना भी कहीं ठौर न पाने का संत्रास! कैसी आत्म–विडम्बना से भरी है यह बौद्धिकता की कथित–सृष्टि, जो बिभूतियों को कभी ज़हर देती है, कभी सूली पर टाँगती है, कभी पत्थर मारती है, कभी उन पर गोली चलाती है तो कभी उन्हें कहीं रहने नहीं देती, ठीक विभूति बाबू की तरह। फार्स्टर ने एक और बात बड़े मार्के की कही है जो विभूति बाबू के चरित्र पर हूबहू लागू होती है "कृत्रिम विद्वत्ता की अपनी ही एक ऐसी बढ़िया जगह है कि वह अपने अज्ञान से ज्ञान को सतत श्रद्धांजलि देती रहती है।" शाह के विभूति बाबू इसी

अज्ञान की सतत श्रद्धांजलि से बचते फिरते हैं, इसीलिए वे कहीं नहीं रहते और न रह ही सकते हैं।

रमेशचन्द्र शाह का गल्प, अल्प का शिल्प क्यों हैं, कैसे है? इस प्रश्न का एक साधारण–सा उत्तर तो यह है कि वे योरप–अमरीका के पल्प–उपन्यासों की तरह हिन्दी के हरमन हैज़ या अरविन वालेसा बनना नहीं चाहते और न ही टॉल्सटाय के वॉर एंड पीस या दोस्त्येवस्की के क्राइम एंड पनिशमेण्ट या ब्रदर्स कोरोमेजोव को अपने गल्प के आकार में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। वे हिन्दी में आज जो 500-1000 पृष्ठीय उपन्यासों की होड़ मची हुई है, उसमें अपने उपन्यास के कथ्य की कोई कृत्रिम महाकाव्यात्मकता भी रचना नहीं चाहते हैं। वे तो ठीक किसी काफ्का की तरह सूक्ष्म कायांतरण करते हैं, अपनी ही देह में अपनी ही देह का कायांतरण, अपने कथाविष्ट–जीवन का जीवन में कायान्तरण और अपनी विचार–निष्ठ दृष्टि का दृष्टि में कायान्तरण। इसलिए ठीक बॉदलेयर के समान अल्प होना उनके संकल्प की प्रार्थना है जिसे वे बादलेयर के प्रार्थना–शब्दों में ही उद्धृत भी करते हैं–

"मैं शपथ लेता हूँ आज से निम्नलिखित नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करने की, जो अब से मेरे जीवन के अटल मार्गदर्शक नियम होंगे।

नित्य प्रातः काल प्रार्थना प्रभु से–जो समस्त ऊर्जा और न्याय का स्रोत है, प्रार्थना अपने पिता से और एडगर–एलन–पो से भी, जो प्रभु और मेरे बीच मध्यस्थ होंगे–उनसे प्रार्थना, कि वे मुझे अपने सारे कर्त्तव्यों का निर्वाह करने का सामर्थ्य प्रदान करें और साथ ही, मेरी माँ को इतनी उम्र भी बख्शें कि वह अपने बेटे की ज़िन्दगी में आए सुधार को जीते–जी देख सके। मैं संकल्प लेता हूँ पूरे दिन एकाग्र, एकनिष्ठ होकर अपनी रचनाओं पर परिश्रम करने का" ....(44)

शाह के इस उपन्यास में लगभग ऐसा ही संकल्प प्रतिफलित हुआ है। शॉपन हावर और शेक्सपीयर, राबर्ट ब्राउनिंग और टॉमस हार्डी, टॉल्सटाय और बोर्खेज और उनकी अपनी माँ शाह के लिए ठीक एडगर–एलन–पो की तरह ऊर्जा और न्याय के स्रोत हैं और डब्ल्यू.बी. येट्स व अज्ञेय बादलेयर के संकल्प की प्रार्थना की तरह। कहा जा सकता है कि यह शाह की आत्म–मुग्ध विद्वत्ता की संकल्पित परिणति हो, कहा यह भी जा सकता है कि यह उनके अध्ययन अनुराग से उत्पन्न आत्म–श्लाघा हो और कहा यह भी जा सकता है कि वे अनुभव और अस्तित्व के बीच स्वयं को खोज–खोज कर प्रस्तुत करने का माध्यम हो, लेकिन संदर्भों की विविधता और प्रचुरता उपन्यास के कथा–तत्व में एक प्रकार से प्रवाह–बाधा अवश्य उत्पन्न करने का आरोप लगा सकते हैं। तर्क के लिए कहा जा सकता है कि शाह ने संदर्भों का विस्तार नहीं किया है और यदि विदेशी ज्ञान की उपस्थिति कथा के बौद्धिक पक्ष को पुष्ट करती है तो महाभारत, उपनिषद् और गीता के प्रसंग हमारी सांस्कृतिक मेधा में प्रवेश का मार्ग भी खोलते हैं, लेकिन यह तर्क विभूति बाबू का उन जैसे अनेक विभूति बाबुओं के लिए हो सकता है, एक सामान्य से विभूति नारायण या सत्यनारायण उर्फ सत्तू जैसे पाठक के लिए

नहीं। इसे हिन्दी का अध्ययन–दारिद्र्य कहा जा सकता है लेकिन कथा में डूबने–उतरते पाठक अध्यात्मों के अध्ययन करने के बजाए कथा के आनंद को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए चाहे शाह का यात्रावृत्त 'एक लंबी छाँह हो' या उपन्यास 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' विशिष्ट पाठकों की जिज्ञासु कृतियाँ तो हैं किन्तु सन्दर्भ–हीन पाठकों के लिए कठिन या जटिल वस्तुएँ ही हैं।

यह बात भी अपने तर्क में सही हो सकती है कि साहित्य अजटिल कैसे हो सकता है, विचार अ–चुनौतीपूर्ण कैसे हो सकता है, प्रज्ञा या मनीषा अन्वेषणहीन और सपाट कैसे हो सकती हैं, तो तर्क का उत्तर कथा को देना होगा। यदि महाभारत और रामायण के जटिल आख्यान, ट्रॉय के युद्धों के महारूपक और आल्हाऊदल काव्य के रागतत्व अपने काव्याख्यानों में भी सामान्य पाठक–प्रज्ञा में उतर जाते हैं, तो हमारा अपना कथायन किसी जटिल पाठक की खोज में क्यों हो? शाह 'गोबर गणेश' की–सी सहजता को उठाकर भी विभूति बाबू की समस्त विषमताओं, विसंगतियों, विद्रूपों और विलगताओं को रच सकते थे क्योंकि शाह के पास ऐसी देशज और पहाड़ी–प्रज्ञा भी है जो उस सहजता को भूलने के विरुद्ध और जो देसी नस–तरंग में भी किसी शास्त्रीय–राग की द्रुत–विलंबित ध्वनियाँ सुन सकती हैं।

इस उपन्यास की एक विशेषता यह है कि यह यात्रावृत्त न होकर यायावरी भी है, जीवनवृत्त होकर भी जीवनवृत्त नहीं हैं, गल्प होकर इतनी अल्प–आकृति है कि वह गल्प के विस्तार के शिल्प को सूक्ष्म–विवरणों में पिरो देती है और इसका कथा–राग–रस ऐसा है, जो कथा की हानि नहीं होने देता सिवा कुछ सन्दर्भ ग्रस्त विराम स्थलों के।

एक सर्जक स्वयं को कैसे लिखे? वह सामान्य आत्म–केन्द्रित उपलब्धियों का ढेर नहीं रचता क्योंकि उसके पास तो उपलब्ध्यिों से अधिक उपेक्षाएं होती हैं, विविधता के साथ–साथ विषमताएं होती हैं और संगतियों से अधिक विसंगतियाँ होती हैं। ऐसे में सर्जक अपने ही किसी अंतिम अरण्य का यायावर होता है। कभी पहाड़ चढ़ता है तो कभी उसे उसकी प्रेमाकुल चिट्ठियों का ढेर रद्दी की तरह निरर्थक लगकर फाड़ फेंकने योग्य लगता है। उसके आजू–बाजू अध्ययन–द्रोही और ज्ञान–विमुख प्राध्यापकों, छात्रों और पाठकों का हुजूम है, जिनसे उसे सशरीर टकराना होता है। वह हर किसी की हिट–लिस्ट पर है–पाठक की भी, सर्जक की भी, आलोचक की भी और इन सबसे क्रूर उन सहकर्मियों की भी, जो अपेक्षा और उपेक्षा के अर्थभेद नहीं कर पाते।

एक व्यक्ति की जीवन–कथा हैं 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू'। एक विचार की व्यथा भी है 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू'। एक बौद्धिक का आक्रोश भी इसमें सात्विक रोष के साथ जाहिर होता हे और एक ऐसे सर्जक का संत्रास भी है, जो शब्द जीता है, शब्द पीता है, शब्द सोचता है और शब्द रचता है फिर भी देखता यह है कि शब्द कृत्रिम–विद्वानों की श्रद्धांजलि तो अवश्य हैं, लेकिन सम्मान नहीं हैं।

शाह की आत्मवंचना से आत्मकथा निकलती है और आत्मकथा ही कथा में कायान्तरण करती है। कितना विद्रूप है उनके मन में जब वे कहते हैं–

"अब यह खाम–खयाली नहीं तो क्या है? आखिर किसने जिया यह जीवन–अगर, मैंने ही नहीं, तो? और यह कह कौन रहा है? कौन है यह 'मैं' जिसे अपना सारा जिया करा भी अपना जिया करा जैसा नहीं लगता? मैं अगर इतना ही अलग और ऊपर हूँ तो फिर क्यों इतना कलप रहा हूँ? क्यों अपने साथ एक घड़ी चैन से नहीं बिता पाता मैं? क्यों मैं इधर कुछ दिनों से रात में सोने जाते हुए भी डरने लगा हूँ और सुबह जागते हुए भी? क्यों, आखिर क्यों आजकल रोज़ बिना नागा अपने ही एक और बदसूरत चेहरे से मुठभेड़ होती है?

जैसे आज तक कभी अपनी शक्ल ही न देखि हो आईने में। उफ.....

.... तो क्या यही हूँ मैं कुल मिलाकर? अपना ही व्यंग्य–विद्रूप?" (14)

शाह के उपन्यास का यही उद्‌गम है और यही संगम। यहीं से जीवन–प्रवाहित होता है, रुकता–अटकता है, अपनों के बीच जीता है, मरता है, हँसता है, रोता है और तरह–तरह के व्यंग्य–विद्रूप सहते–सहते मानने लगता है 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू'। शब्दों को श्वास की तरह जीता एक सर्जक कितना खो चुकने के बाद कुछ पाता है। पाता है भी तो क्या–एक अदद बीवी, कुछ बच्चे, कुछ रिश्ते, कुछ मित्र, कुछ सहयोगी और खाते–पीते, सोते–मर जाते लोग! यह भी क्या पाना हुआ उसके लिए जो पहाड़ चढ़े तो उसके अन्दर पहाड़ चलने लगे, जो चिट्ठियाँ उठाए तो चिट्ठियाँ स्वयं अपने को पढ़कर सुनाने लगे, जो नस–तरंग सुने तो उसमें प्रकृति अपने सम्पूर्ण तुमुल–राग से झंकृत हो उठे जो अपने चेहरे न देखकर कोई अन्य चेहरे भी देखे तो वे सब इतने अनन्य हो उठें–जैसे शेक्सपीयर, गोइठे, ब्राउनिंग या येट्स।

एक अल्प–शिल्प का यह उपन्यास गल्प की विविधता के सौन्दर्य को पढ़ने के लिए उकसाता है। वह चाहता है कि विभूति बाबू में एक चरित्र को भी पढ़ें और एक कथा को भी, एक चित्र को भी पढ़ें और शब्द को भी, अन्तरस्थित विचार को भी पढ़े और जीवन को भी। यह उपन्यास हर उस व्यक्ति का अपना गल्प है जो जीवन को थोड़ा दूर हटकर, अलग होकर देख सकता है और हर उस व्यक्ति का जीवनवृत्त भी, जो जीवन–सम्पृक्त है और जीवन में ही जीवन की सतत तलाश करता रहता है। इसमें व्यर्थ ही रवीन्द्रनाथ, शरद्‌चन्द्र या प्रेमचंद न खोजे जाएं, बल्कि खोजा जाए तो रमेशचन्द्र शाह में विभूति बाबू को और विभूति बाबू में रमेशचन्द्र शाह को।

□□□

संस्मरण

आकाशवाणी और मैं

● रमानाथ अवस्थी

आकाशवाणी से मैं लगभग तीस वर्षों तक जुड़ा रहा, इन वर्षों में मैंने वहाँ के जीवन और कार्यकलाप में बड़े–बड़े उतार–चढ़ाव देखे। मन करता है उन अनुभवों को पाठकों के लिए भी सहज करूं। इलाहाबाद में मैं एक दैनिक पत्र 'भारत' में काम करता था। श्री वाचस्पति पाठक के कहने पर श्री भगवतीचरण वर्मा ने मुझे दिल्ली के आकाशवाणी केन्द्र के साथ एक आलेख–लेखक (स्क्रिप्ट राइटर) के रूप में जोड़ा था। उस समय आकाशवाणी में दो वर्ग थे। एक था जो स्टाफ़ आर्टिस्ट के रूप में जाना जाता था और दूसरा था जो स्थायी काडर के रूप में था, जैसे प्रोग्राम असिस्टेंट जो आगे चलकर प्रोग्राम एक्ज़ीक्यूटिव बने। स्टाफ़ आर्टिस्टों को एक साल से तीन साल तक अस्थायी कान्ट्रैक्ट पर रखा जाता था। केन्द्र निदेशक जब चाहे किसी को अनुबंधित करे या न करे। यह प्रक्रिया स्टाफ़ आर्टिस्टों के किए डरावनी भी थी।

जब श्रीमती इंदिरा गांधी सूचना एवं प्रसारण मंत्री बनीं, तब स्टाफ़ आर्टिस्टों की एक एसोसिएशन बनी, उसके मुख्य कर्त्ताधर्त्ता समाचारवाचक श्री अशोक वाजपेयी थे। इंदिराजी के सामने उन्होंने स्टाफ़ आर्टिस्टों की पूरी तस्वीर पेश की। श्रीमती गांधी ने अतिशय उदारतापूर्वक स्टाफ़ आर्टिस्ट काडर को बुनियादी सुविधा प्रदान कर दी। कोई भी स्टाफ़ आर्टिस्ट अब संभवत: निकाला नहीं जा सकता था। आगे चलकर जब इंदिराजी देश की प्रधानमंत्री बनीं, तब प्रसारण मंत्रालय के मंत्री डॉ० केसकर बने। डॉ० केसकर ने अपने कार्यकाल में बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये। उनका सोच था कि प्रोग्राम एक्ज़ीक्यूटिव तो एक प्रकार से टेबुल पर ही काम करता है। उसका संगीत, साहित्य और कला की अन्य विधाओं से एक प्रकार का सामान्य जुड़ाव है। परिणामस्वरूप डॉ० केसकर ने प्रोड्यूसर काडर का निर्माण करके अपने–अपने विषय के दक्ष नामधारी व्यक्तियों को आकाशवाणी पर बड़े

सम्मानित पदों पर लाये। साहित्य, नाटक और संगीत के काम को करने के लिए उन्होंने श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री नरेन्द्र शर्मा, श्री विष्णु प्रभाकर और सुपरिचित शायर सागर निज़ामी को प्रोड्यूसर के पदों पर आसीन किया, कार्यक्रम संबंधी शेड्यूल यही लोग तैयार करते थे, स्थायी काडर के कार्यकर्त्ता अनुबंध–पत्र आदि की प्रक्रिया पूरी करने का काम भर करते थे। आगे चलकर डॉ० केसकर असिस्टेंट प्रोड्यूसर की एक दूसरी पीढ़ी लाये।

आकाशवाणी का यह बदलाव बहुत ऐतिहासिक था। सुप्रसिद्ध नाटककार श्री जगदीश चन्द्र माथुर उस समय महानिदेशक थे। पंडित सुमित्रानंदन पंत को चीफ प्रोड्यूसर के साथ सलाहकार के रूप में लिया गया। ठाकुर जयदेवसिंह संगीत के चीफ़ प्रोड्यूसर थे। इस प्रकार आकाशवाणी से अपने–अपने क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण विद्वानों से जोड़ा गया। मैं पंडित नरेन्द्र शर्मा के साथ रखा गया। शर्मा जी ने मुझे एक महत्त्वपूर्ण काम सौंपा। ब्रजभाषा काल से लेकर आधुनिक गीतों तक का एक साइकोस्टाइल्ड संग्रह बनाने का काम दिया। इसी संग्रह से आकाशवाणी के कलाकारों को गीत–भजन आदि शेड्यूल किये जाते थे। मैंने इस काम को बड़े परिश्रम के साथ पूरा किया, इस संग्रह की प्रतियां बनवाकर देश के अन्य हिन्दी–भाषी क्षेत्रों को भेजी गईं।

उस समय आकाशवाणी का कार्यक्रम प्रस्तुतीकरण का करीब–करीब काम कलाकार वर्ग ही करता था। कोई कार्यक्रम बहुत अच्छा होता था, तो ड्यूटी अफ़सर अपनी 'लॉगबुक' में 'ए' कैटेगरी देता था। प्रतिदिन होने वाली कार्यक्रम संबंधी मीटिंग निदेशक के कमरे में होती थी, इससे उन्हें स्टेशन पर होने वाले कार्यक्रमों के बारे में पूरी जानकारी होती थी। इस मीटिंग का एक सबसे बड़ा लाभ यह था कि निष्ठावान कार्यकर्ताओं के हौंसले बुलन्द होते थे। आज भी यह क्रिया चलती है। आकाशवाणी के कार्यक्रमों को सुनकर विभिन्न क्षेत्रों से श्रोताओं की प्रतिक्रियाएं बराबर मिलती थीं। इन प्रतिक्रियाओं को आज की तरह पत्रोत्तर कार्यक्रम में उस समय भी शामिल किया जाता था। कलाकारों की तीन श्रेणियां थीं, जिन्हें ए बी सी के रूप में विभक्त किया जाता था। ए क्लास आर्टिस्ट की फ़ीस अच्छी ख़ासी होती थी। गीत और ग़ज़ल गायक कलाकार सुबह, मध्याह्न और रात के कार्यक्रमों में समयानुसार अपने गायन की प्रस्तुति करते थे आज की तरह उस समय भी संगीत निर्देशक कलाकारों के गीत, भजन और ग़ज़ल की धुनें बनाकर अपना काम पूरा करते थे। ए क्लास के कलाकार लगभग बड़े कवियों और शायरों की लिखी रचनाएं ही गाते थे, इनके साथ ही प्रायः एकाध भजन भी होता था।

आकाशवाणी कार्यक्रमों में सुगम संगीत के कलाकारों की तरह और कलाकार भी थे। उदाहरण के लिए – आज की तरह उस समय भी नाटक, बच्चों का कार्यक्रम, महिला–जगत कार्यक्रम होते थे। इनकी भी श्रोताओं में बड़ी चाहत थी। पहले और अब की कार्यक्रम की शैली में थोड़ा–बहुत अंतर तो आया ही है, जो बहुत स्वाभाविक भी है। किसी ने इस बारे में

सच ही कहा है, 'सबै दिन जात न एक समान'। पहले और आज भी ग्रामीणों के लिए ग्रामीय कार्यक्रम प्रसारित होता है। इस कार्यक्रम में ग्रामवासियों की हर समस्या का समुचित समाधान किया जाता था। इसी के साथ गाँवों के ही गायक कलाकार ग्रामीण गीतों को मिलजुलकर गाते थे। इस कार्यक्रम की छटा अलग ही थी।

नाटकों के श्रोता भी बहुत थे। कभी–कभी ऐतिहासिक नाटकों की कड़ी प्रसारित होती थी। इसके अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं को आधार बनाकर भी नाट्य–रचना होती थी। नाटकों में महिला और पुरुष कलाकार मिलकर काम करते थे। नाटकों के अलावा एक कार्यक्रम था जिसमें रूपकों (फीचर्स) का प्रसारण होता था। यह संयोग ही है कि मैं एक अति साधारण कार्यकर्त्ता के रूप में आकाशवाणी से जुड़ा था और फिर विभिन्न पदों पर कार्यरत होकर मैं रूपक विभाग में चीफ़ प्रोड्यूसर के पद से रिटायर हुआ था। रूपक की विधा रेडियो की अपनी एक विशेष और निजी कार्यक्रम प्रणाली है।

आज दूरदर्शन की हविस लोगों में अधिक भले ही हो, लेकिन 'ट्रांजिस्टर' की मदद से दूर–दूर तक श्रोता आज भी रेडियो कार्यक्रमों को सुनते हैं। रेडियो पर जिस प्रकार की सरल भाषा का चलन है, उसे बड़े से लेकर छोटे वर्ग का श्रोता भी सराहता है। रेडियो कार्यक्रमों के ज़रिये श्रोताओं की भाषा का भी परिष्कार हुआ है। आप प्रायः बाल कार्यक्रम सुनकर एक अन्दाज़ा तो लगा ही सकते हैं कि किस प्रकार छोटे–छोटे बाल कलाकार आगे चलकर बड़े कलाकारों के रूप में उभरकर हमारे सामने आते हैं। रेडियो कार्यक्रमों से ऐसे कलाकार बड़े होकर उद्घोषक बने, नाटक–कलाकर बने और देश में अच्छा यश प्राप्त किया। देश के बहुतेरे सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले लोग आज भी नाटकों में प्रायः भाग लेते हैं। ऐसा वही लोग करने के अधिकारी हैं, जिन्हें रेडियो ने कलाकार की मान्यता दे रखी है। इस प्रकार इन लोगों को अतिरिक्त आमदनी भी होती है और आफ़िस की जिन्दगी में भी एक स्वस्थ बदलाव होता है।

आज भी जब वे दिन याद करता हूं, तो विचारों के सागर में तैरने लगता हूं।

□□□

संस्मरण

आँख

● अशोक प्रियदर्शी

शहर में आँख के डाक्टरों की कमी नहीं थी। उनमें से कई खासे मशहूर भी थे। लेकिन अनेक मित्रों–शुभचिन्तकों ने केन्द्र सरकार के उपक्रम वाले इस अस्पताल के आँखों के डाक्टर का ही नाम सुझाया था। छोटे–मोटे डाक्टरों से जाँच कराके इतना तो मैंने जान ही लिया था कि आँखों में मोतियाबिन्द उतर रहा है। यह रोग आज आम है और इसकी शल्यन–चिकित्सा भी सर्वसुलभ। फिर भी डर तो लगता ही है न, खास करके चीर–फाड़ के नाम से!

आज दूसरी बार मैंने इन डाक्टर साहब से अप्वायंटमेंट ली थी, बल्कि उन्होंने ही पहले दिन जाँच करने के बाद आज बुलाया था ताकि अंतिम रूप से वे निर्णय ले सकें कि आपरेशन कब तक कर देना ठीक रहेगा और वे किस दिन समय निकाल पायेंगे! अब, मैं इस हाल से परिचित था कि इस अस्पताल में चारों ओर सन्नाटा पसरा होता है, सिर्फ इन आँख के डाक्टर के कमरे के बाहर दीवार से लगी कुर्सियों पर बीस–तीस मरीज़ लगातार बैठे होते हैं, अपना नाम पुकारे जाने की प्रतीक्षा में। मर्द–औरत, बूढ़े–बच्चे, शहरी–ग्रामीण, सभी तरह के लोग। जब तक आपकी बारी न आये और आपका नाम पुकार कर आपको डाक्टर साहब के चैम्बर के भीतर न बुलाया जाये तब तक आते–जाते मरीज़ो, झकाझक सफ़ेद लिबास में सजी नर्स, साफ–सफाई करते कर्मियों को देखते रहने के अलावा कुछ करने को नहीं होता था। देखते रहिए और सुनते रहिए प्रतीक्षारत मरीज़ों की 'टाइम–पास' वाली सार्थक–निरर्थक बातें:

– 'आठ बजे सुबह में बुलाया था, दस का टाइम हो रहा है!'

– 'क्या कीजिएगा! एक मरीज़ को देखने में कितना समय लगेगा इसका पक्का अंदाजा कैसे लगाया जा सकता है?'

– 'सो तो है, फिर भी! एकबाएगी एतना लेट!'

– 'बीच–बीच में और लोग भी तो बिना अप्वायंटमेंट के घुस जाते हैं!'

– 'भाई, नामी डाक्टर के पास आइएगा तो इतनी कोफ्त तो झेलनी ही पड़ेगी! नामी बनिया, बदनामी चोर!'

तरह–तरह की बातें! मैं, जगह के अभाव में, डाक्टर के चैम्बर के दरवाजे से दूर ही कुर्सी पर बैठा था। तभी सामने से गलियारे में एक निपट बूढ़ा व्यक्ति आता दिखा। उसके साथ दस–बारह साल की एक लड़की थी। दोनों कुछ क़रीब आये तो बात साफ हुई। बूढ़े को डाक्टर के चैम्बर के दरवाज़े तक लाकर लड़की खड़ी हो गयी। हड्डियों के ढाँचे–से उस बूढ़े के तन पर फटी बनियान थी और लंगोट तरह लिपटा, थोड़े बड़े कपड़े का टुकड़ा था। मुखाकृति से ही वह बूढ़ा किसी जनजातीय समुदाय का व्यक्ति प्रतीत हो रहा था। लंगोट–जैसा जो अधोवस्त्र उसने लपेट रखा था उसे इधर 'केरया' कहते हैं।

दरवाज़े पर खड़े कंपाउंडर ने बूढ़े को डाँटा "कहाँ घुसे चले आ रहे हो? कोई तमाशा हो रहा है यहाँ?" तमाशा हो भी रहा होता तो बूढ़े को क्या दिखना था?

लड़की ने कंपाउंडर से कुछ कहा, क्या कहा यह साफ़ सुनाई नहीं पड़ा, इतना भर दिखा कि दरवाज़ा खोलकर कंपाउंडर ने बूढ़े को भीतर ले लिया और लड़की से बोला, 'जाओ, उधर कुर्सी खाली है। जाकर बैठो चुपचाप। टाइम लगता है।'

खाली कुर्सी खोजती हुई लड़की आकर मेरी बग़लवाली कुर्सी पर बैठ गयी। लोगों की फुसफुसाहट, तेज़–धीमी बातचीत बदस्तूर जारी थी।

– 'कोई नियम–कायदा नहीं है यहाँ। उस बूढ़े को, बिना नाम पुकारे, भीतर ले गया कि नहीं?'

– 'हर जगह देखिएगा, कंपाउंडर की मन–मर्ज़ी चलती है। मन–मर्ज़ी क्या, डिक्टेटरशिप कहिए!'

– 'पूरे देश में एनार्की है। यह अस्पताल कोई चाँद पर तो है नहीं। भारत देश में ही न है!'

– 'लेकिन इस हॉस्पीटल का बड़ा नाम सुनते थे!'

– 'नहीं, डाक्टर साहब का नाम तो है ही! भीड़ ऐसे ही नहीं लगी रहती है!'...

मैंने लड़की को ग़ौर से देखा। नाक–नक्श प्रायः ठीक। काले चेहरे से झाँकता भय–आशंका–आश्वस्ति का मिला–जुला भाव। छोटे, घुंघराले, उलझे–पुलझे केश, कलाइयों में प्लास्टिक की चूड़ियाँ, बदरंग, पुरानी। नंगें पाँव। मुझको देखते देखा तो अपने अस्त–व्यस्त कपड़े को तरतीब देने की कोशिश की, व्यर्थ। फिर, डाक्टर के चैम्बर के दरवाज़े की ओर देखने लगी।

लड़की के भोलेपन ने मुझको आकृष्ट किया। मैंने पूछा, 'किसके साथ आयी हो।'

क्षण–एक को मेरी ओर देखकर फिर उसने उसी दरवाज़े की ओर देखना जारी रखा। बोली, 'दादू को साथ लेते लाये हैं... मोर आबा कर आबा।'

'क्या तकलीफ़ है उनको?' मुझको इस बात का अहसास था कि 'प्लीज़ कीप साइलैंस' वाली पट्टिका का अनुपालन पढ़े–लिखे लोगों को तो करना ही चाहिए, और यहाँ जो आयेगा वह आँखों की तकलीफ़ के कारण ही, फिर भी पूछा।

उसने कहा, 'डाक्टर साहब जुन जानेंगे। सुझाई नहीं पड़ता है, एकदम।' और दौड़कर चैम्बर के दरवाज़े तक गयी, फिर आहिस्ता क़दमों से लौटकर पूर्ववत् बैठ गयी। असल में किसी मरीज़ को भीतर बुलाया था कंपाउंडर ने और इसीलिए दरवाज़ा खोला था। लड़की को लगा कि उसके दादा बाहर आ रहे हैं।

'क्या नाम है तुम्हारा?' मैंने पूछा।

दरवाज़े की ओर टकटकी लगाये हुए ही वह बोली, 'सिसिलिया। ऐसे, सब लोग सिसला बोलता है।'

'पढ़ती हो' उससे बात करना मुझको प्रीतिकर लग रहा था।

'तीन क्लास तक पढ़े थे।' वह बोली, 'इसके आगे का स्कूल गाँव में नहीं है।' वह फिर डाक्टर के कमरे के दरवाज़े की ओर जाने को हुई।

मैंने उसे रोका, 'बैठी रहो। तुम्हारे दादू बाहर आयेंगे तो मैं तुमको बता दूँगा।'

लड़की ने अपनी फटी फ्राक को फिर तरतीब देने की कोशिश की और चुप बैठ गई, हालांकि उसकी नज़र उधर ही लगी हुई थी, 'सुझाई नहीं देता है दादू को, इसीलिए... गिर–पड़ जायेंगे तब?'

– 'तुम्हीं लेकर आयी अपने दादा को? घर से और कोई नहीं आया?'

– 'नहीं?'

– 'क्यों? तुम्हारे पिताजी को आना चाहिए था न?'

– 'आबा? घर में नहीं हैं।'

– 'कहाँ गये हैं?'

'दादू बताते हैं कि काश्मीर में दुश्मन सबसे लड़ रहे हैं।' सिसला की आँखें झलक आयीं। मेरी ओर देखे बिना उसने अपनी आँखें पोंछ लीं।

मेरा कुतूहल बढ़ गया,' कब से गये हुए हैं?'

'क्या पता! हम आबा का फोटो भर को देखे हैं, फौज़ी वर्दी में। हम जुन गोदी में थे तभी चले गये। दादू बताते हैं' उसने कहा।

– 'और माँ?'

'आयो? हम नानी–घर गये थे। एक झन के साथ दादू भेजवा दिये थे। तब भी हम छोटे थे। लौटे के आये तो आयो घर में नहीं थी। दादू बताये कि आबा को खोजने गयी है।

हमको बहुत थोड़ा याद है।' लड़की कुछ समझती थी, कुछ नहीं। अपनी छलक आँखों को उसने फिर पोंछा।

– 'और तुम्हारे भाई–बहन?'

– 'दादा लोग बड़ी के साथ रहता है, बड़ी माँ!'

स्थिति कुछ–कुछ साफ हो रही थी। फिर भी ठीक–ठीक तस्वीर सामने नहीं आ रही थी। लड़की की निश्चलता मुझको अशांत कर रही थी। मैंने पूछा, 'इतने दिनों से काश्मीर में हैं तुम्हारे पिताजी, फौज़वालों ने कोई खबर नहीं भेजी?'

'का झन! नहीं पता। दादू कहते हैं कि बड़ी माँ को सहर लेग के उसको बैंक में ढेर पैसा जुन दिया फौज़ वाला लोग! क्या को बताया कि आबा बर्फ के पहाड़ पर जुन रह गये। लौटने नहीं खोजे।' लड़की ने बताया।

– 'तो तुम और तुम्हारे दादू बड़ी माँ के साथ क्यों नहीं रहते?'

– 'रखेगी तब जुन? इसको देखने भी नहीं खोजती है। दादू बोलते है कि उनको दरकार है, पैसा–कौड़ी से नहीं। हम दोनों झन साथ रहते हैं।'

'ऐसे में तो दिक्कत होती होगी। तुम्हारे दादू को दीखता नहीं है! अकेली हो तुम! खाना–वाना कौन पकाता है?' मैंने पूछा।

सिसला ने पहली बार पूरे आत्मविश्वास के साथ मेरी ओर देखा ओर मेरी आँखों से आँखें मिलाकर बोली, 'क्यों? हम हैं न जुन! गाँव के गंझू के घर में हम घंगरिन खटते हैं। गोमकाइन अनाज–पानी दे देती हैं। घर में उनके दादू का खाना बना देते हैं। भात रींधने में कौन मेहनत है! चकोड़–गूड़ा समझते हैं? साग होता है, हम लोग के तरफ, जंगल–पहाड़ में। उसको सुखा के रख देते हैं। उसी का गूड़ा, माने की चूरा के साथ दादू खा लेते हैं!' झारखंडी गाँव–देहात की बोली–बानी से मेरा थोड़ा परिचय था। याने यह लड़की गाँव के जमींदार के घर का बाग़ चलाती है। इधर माड़ में सूखे चकबढ़ के चूरे को पकाकर खा लेते हैं गरीब–गुरबा। दाल को ये दहल–तीमन कहते हैं। दाल ही इनकी सब्ज़ी है। दाल न हो तो वही वनस्पतियाँ साग–सब्ज़ी का विकल्प होती है! तिसपर इस छोटी–सी लड़की का जीवन–संघर्ष चकित करने वाला था।

मैंने पूछा, कब से आँखें खराब हैं तुम्हारे दादू की?'

'का झन!' याने क्या पता, वह बोली, 'कहाँ जुन देखाते? हमारे गाँव तरफ कोई डाक्टर नहीं है। ओझा–गुनी से आँख में रोशनी आवेगा? दादू हमको बोलते हैं–तोयँ हिस मोर आँइख! हमवे आउर आँइख कर का दरकार हैं? – तुम हो मेरी आँख! मुझको और आँख की क्या ज़रूरत?'

– 'फिर? अभी कैसे ले आयी दादू को,'

'जुनास काका के साथ। इसी होस्पीटल में जानी कौन काम करते हैं, साफ–सफाई कि का! बहुत दिन के बाद गाँव गये थे काका, तो साथ लेते लाये हम लोग दूनों झन को। रास्ता

में नदी पड़ता है न! काका दूसरा रास्ता से लाये। उधर पानी कम था। बोले कि डाक्टर साहब को कह के दादू का आँख देखला देंगे।' उसने बताया।

'बस से आयी?' मैंने पूछा।

'रोड नहीं है। जंगल–जंगल रास्ता है। बहुत दूर जाके रोड है। वहाँ से बस पकड़े। जुनास काका को पहचानता था कंडक्टर–खलासी। पैसा नहीं लिया। काका बोल दिये हैं। उसी गाड़ी से जुन लौट जायेंगे।'

तभी डाक्टर के कमरे का दरवाज़ा खुला। कंपाउंडर ने सिसला के दादू को बाहर तक पहुँचाया, 'किसके साथ जाइएगा, बाबा?'

सिसला की आँखें उधर ही लगी थीं, बातों के बीच भी। मैं उसे बताऊँ, इसके पहले ही वह दौड़ गयी, 'आवत हौं, दादू।' अपने दादू का हाथ पकड़कर वह उन्हें धीरे–धीरे लिवा जाने लगी, 'का कहलैं डाक्टर साहेब?' उसने अपने दादू से पूछा। मेरे कान भी उत्तर सुनने को टँग गये।

बूढ़ा हँसा। उसके पोपले मुँह की हँसी गाँधी बाबा–जैसी थी, जैसी तस्वीरों में दीखती है। बोला, 'का कहबैं? तोयँ हिस मोर आँइख! कहलैं पोती आपकी आँख है! उसी से देखिए! – मोर आँइख में नस मन सुइख जारे, बेटी! चल!' – सूख गयी हैं मेरी आँख की नसें!

लकड़ी ने कुर्सी पर एक पोटली रख छोड़ी थी। पास पहुँची तो उसे उठा लिया और चलते हुए, अपने दादू से बोली, 'तोके भूख लागल होई। चल दादू, चइल के कोनो ठइन भात के खा ले। साथे लेते लाइन हौं। उकर बाद गाँव घुरब हमरे। हो–ओ।'

उसी समय कंपाउंडर ने मेरा नाम पुकारा और मैं तेज़ी से उधर चला गया।

काफी देर बाद जब मैं बाहर आया तो, ज़ाहिर है, वह लड़की सिसला, अपने अंधे दादू के साथ जा चुकी थी।

□□□

कहानी

कुमाता न भवति

● डॉ० ऋचा शर्मा

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। होरीलाल कुपुत्र न हो यही प्रार्थना माँ दिन–रात किया करती, परंतु 'होइहै सोई जो राम रचि राखा' पर भी उनका पूरा विश्वास था। यही विश्वास उन्हें करते रहने, फल की चिंता न करने को जीवनपर्यंत प्रेरित करता रहा। यही विश्वास सुंदरी बुआ के भावी जीवन को शांत भाव से देख रहा था।

'सुंदरी बुआ' संबोधन किसी गोरी, खूबसूरत स्त्री की कल्पना साकार करता है, परन्तु जिस सुंदरी बुआ को इस कहानी में पात्र के रूप में उतारा है उसका रूप–सौन्दर्य उसके नाम के विपरीत ही था। वह उल्टे तवे–सी काली, सूखी मिर्च–सी देहवाली दिखती। नारियल की जटाओं जैसे सूखे–भूरे बाल कभी बेतरतीब बिखरे होते, कभी उन्हें लपेटकर घरेलू जूड़ा बनाया गया होता। पतली–दुबली सुंदरी हड्डियों का ढांचा ही नजर आती। गहरे रंग की सूती धोती उसके काले रंग में मिल जाती। माथे पर बिंदी कभी होती, कभी नहीं। हाथों में दो–चार चूड़ियाँ ही बचतीं। गाय–भैंस चराते, सानी–भूसा करते चूड़ियां अक्सर मौल जातीं। यही था सुंदरी बुआ का सौंदर्य।

सुंदरी बुआ दूध लेकर आती और हम भाई–बहन में से कोई–न–कोई उसके सौंदर्य की प्रशंसा में यह फिल्मी गीत गा बैठता–सुंदरी! हाय–हाय सुंदरी! एक नज़र हमको भी देखो ना....

सुंदरी बुआ गुस्सा हो जाती। माँ से कहती–'भाभी! देखा तो इ लड़कन कैसे चिढ़ावत है हमका! तुम्हूँ मना नाहीं करत हो।' कभी वह अच्छे मूड में होती तो कहती–'ऐ भैया! तनी ओ गाना सुनावा न।' और हम सब एक सुर में शुरू हो जाते–सुंदरी! हाय–हाय.....।

कभी–कभी ऐसा लगता कि सुंदरी बुआ को चिढ़ने में भी आनंद आता।

वैसे तो सुंदरी बुआ का हमारे घर से सम्बन्ध सिर्फ दूध देने का था, परन्तु उसकी अप्रत्यक्ष उपस्थिति हमारे घर–परिवार में हमेशा बनी रहती। जितना लगाव हमें उससे था, उससे कहीं ज्यादा स्नेह वह हम सब भाई–बहनों से करती थी। बड़े प्रेम से वह हमें पानी जैसा दूध पिलाती और हम सब भी दूध की गुणवत्ता पर प्रश्न उठाए बिना पनियल दूध पीते रहते। माँ कभी दूध के बारे में शिकायत नहीं करती और सुंदरी बुआ कभी पैसे नहीं मागंती। उधार बढ़ता देख माँ कभी चिंतित होकर कहती–'सुंदरी! तुम्हारा उधार कब चुकता होगा? पैसा बढ़ता जा रहा है।'

माँ की चिंता को सुंदरी बुआ हंसी में धूल–सा उड़ा देती–'भाभी! काहे चिंता करत हो। हम कबहू पइसा मांगे हैं का तुमसे? जब तलक हमरे पास गैया–भैंस है, लड़कन का दूध की कमी न पड़ी। ओकरे बाद जो होई देखा जाई।'

माँ की गहरी चिंता सुंदरी बुआ के स्नेह भरे शब्दों से शीशे–सी धुल जाती। दूध लेने–देने का वही क्रम शुरू हो जाता। दूध देने आना तो बहाना मात्र था। सुंदरी बुआ की बातें होरीलाल के इर्द–गिर्द ही घूमती रहतीं। जी–तोड़ मेहनत करते होरीलाल को पढ़ाने–लिखाने और बड़ा अफसर बनाने का स्वप्न वह अक्सर देखा करती। उसे अपने खाने–पीने की सुध न रहती। घर–द्वार और गाय–भैंस की देखभाल करते–करते उसका शरीर ढाँचा मात्र ही रह गया था। कभी माँ उसे समझाती 'सुंदरी! इतनी मेहनत न किया करो। बीमार पड़ जाओगी तो होरीलाल की देखभाल कौन करेगा?'

'का करी भाभी। हमार होरीलाल पढ़–लिख जाए फिन कुछ नाहीं चाही, मेहनत करे से हमका डर नाहीं लागत भाभी। होरीलाल के बाबू सबेरवॉ चले जात हैं भेड़न का लै के। ओकरे बाद हमार सारा दिन सानी–भूसा करत, गैया–भैंसा चरावत बीत जात है। खाना–पीना की फिकिर नाहीं है हमका। देखो न छाती कइसन झुराय गई है', यह कहकर वह अपना ब्लाउज उठाकर दिखा देती।

सुंदरी बुआ की बातें माँ को द्रवित कर देतीं। माँ ने जो कुछ खाने को बनाया होता उसी को परोसकर कहतीं–'सुंदरी, खाना खा लो।' खाने की बात आते ही सुंदरी चलने को तत्पर हो जाती। 'ना भाभी, खाना न खाबै। होरीलाल हमार इंतजार करत होई। ओकरे बिना मुँहा में कौर न जाई।'

सुंदरी बुआ वर्षों दूध देती रही लेकिन अन्न का एक दाना भी उसने कभी हमारे घर स्वीकार नहीं किया। माँ ज्यादा जिद्द करतीं तो टाल जाती–'तुम बामन हो, हम पिछरी जात के। तुम्हरे हियां कइसे खा सकत हैं।' माँ को यह सुंदरी की बात अखर जाती। मन ही मन सोचती–'इतनी देर भूखी–प्यासी बैठी रहती है। कहने पर भी कुछ नहीं खाती। पता नहीं क्यों होरीलाल के लिए जान देने पर उतारू है। संतान तो सबको प्रिय होती है, पर उसके लिए कोई जान तो नहीं देता। अपने बेटे के लिए कमरतोड़ मेहनत करनेवाली इस तपस्विनी का होगा क्या? अगर होरीलाल इसकी कल्पना के अनुरूप आकार ग्रहण न कर सका तो?'

अपने इस प्रश्न के उत्तर में माँ की आंखें भर आतीं। 'गीता सप्तशती' की ये पंक्तियां उसे याद आ जातीं–'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। होरीलाल कुपुत्र न हो यही प्रार्थना माँ दिन–रात किया करती परंतु 'होइहै सोई जो राम रचि राखा' पर भी उनका पूरा विश्वास था। यही विश्वास उन्हें कर्म करते रहने, फल की चिंता न करने को जीवनपर्यंत प्रेरित करता रहा। यही विश्वास सुंदरी बुआ के भावी जीवन को शांत भाव से देख रहा था।

सुंदरी बुआ गाय–भैंस पालकर दूध बेचकर पैसा कमाती रही। होरीलाल पढ़ता रहा। सुंदरी बुआ और उसका पति दोनों ही पढ़े–लिखे नहीं थे। होरीलाल किताब लेकर बैठता है यह तो वे देखते थे, पर वह क्या पढ़ता है, इसकी समझ दोनों को नहीं थी, किसी तरह धक्का खा–खाकर होरीलाल नवीं कक्षा तक पढ़ा। उसके आगे गाड़ी नहीं खिंच सकी।

सुंदरी बुआ की सूखी काया से मानों प्राण ही चले गए। उसकी आँखों के काले घेरे बढ़ने लगे। पेट–पीठ का अंतर खत्म हो गया। माँ के पास जब बैठती, उसके पास एक ही बात होती 'भाभी का होई हमार होरीलाल का? पढ़त नाहीं है। लागत है ओकरे भागमां गैया–भैंसा चराना लिखा है।'

माँ समझाती–'घबराओ मत सुंदरी, सब ठीक होगा। मैं होरीलाल को समझा दूंगी।' सुंदरी होरीलाल को लेकर आती। माँ उसे समझाती भी लेकिन सब व्यर्थ। होरीलाल ने मोहल्ले के आवारा लड़कों का साथ पकड़ लिया था। पढ़ना–लिखना तो दूर, उसने घर में रहना ही छोड़ दिया। सुंदरी बुआ परेशान थी, करे तो क्या करे। गाय–भैंस को तो दूर–दूर तक चराकर लाठी के बल पर गौशाला वापस ले आती है, पर अपने जाये इस लड़के को घर कैसे लाए? उसने माँ के पास बैठना भी कम कर दिया। दूध देने आती तब भी उसे यही चिंता सताती कि पता नहीं कब होरीलाल घर आ जाए और वह दूध देकर वापस चल देती। कभी गुस्से में होती तो बड़बड़ाती आती 'होरीलाल पैदा न भवा होत तो भल होवत। ऐसे लड़के से भला तो हम ठूंठ मर जाती। भाभी! ई हमार जिउ लेकर मानी।'

थोड़ी देर में उसका गुस्सा शांत होता तो होरीलाल के खाने–पीने की फिक्र करती वह चल देती। क्रोध और मोह का अद्‌भुत संगम सुंदरी बुआ थी। एक दिन बड़े ही प्रसन्न मन वह आई और बोली–'होरीलाल के बाबू कहत रहे कि एकरा बियाह कर देओ तो सुधर जाई। मेहरारू कै संगे रही तो खुदइ बाहर न जाई। हमहूं का ए की नीक लागत है, रविवार का बियाह है। भैया–बच्चन सबका लेकर आयो भाभी।'

होरीलाल को सुधारने की यह युक्ति सुंदरी बुआ को पसंद आई होगी पर माँ के गले नहीं उतरी। बरसों बाद सुंदरी के चेहरे पर जो उत्साह और अपार खुशी दिखाई पड़ी उसे भंग करने का साहस माँ नहीं कर सकी। पर सुंदरी के भविष्य पर लगा प्रश्नचिह्न माँ को स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

होरीलाल की शादी हो गई। सुंदरी बुआ अपनी बहू को देखकर निहाल थी। माँ को देखकर बोली–'भाभी! देखा तनी, कइसन चाँद का टुकड़ा है हमार पतोहू। होरीलाल के पैर में बेड़ी डाल दिहिन है, अब कहां जाई,' यह कहकर सुंदरी बुआ खिलखिला उठी।

वास्तव में होरीलाल ने घर से निकलना ही छोड़ दिया। शादी के दूसरे महीने से उसकी बहू के जो पांव भारी हुए तो हर साल वही क्रम चलता रहता। होरीलाल अपनी पत्नी के साथ खुश था। दोनों माता–पिता जी–तोड़ मेहनत करते। गाय–भैंस चराते, दूध बेचते, पैसा कमाते। होरीलाल न तो किसी बात की चिंता करता, न परवाह। दोनों पति–पत्नी आराम से घर में बैठते। सुंदरी परेशान थी अब क्या करे? ये तो घर में ही जम गया। पढ़ा–लिखा न सही घर का काम ही संभाले। बूढ़े माँ–बाप कब तलक लगे रहेंगे। कुछ काम करके चार पैसा कमाने की बात भी उसके मन में नहीं आती। बहू भी ऐसी कि दो मीठे बोल न बोले। दिन भर के बाद थककर आए सास–ससुर को पानी भी न पूछती। अभी तक तो सुंदरी को लगा था कि लड़का हाथ से निकल रहा है पर अब तो ऐसा लगता जैसे पूरा घर ही रेत की तरह हाथ से फिसलता जा रहा हो।

सुंदरी के दुबले–पतले शरीर में गज़ब की सहनशक्ति थी। होरीलाल के साथ ही उसके बाल–बच्चों की चिंता भी उसने अपने सिर ले ली। कभी–कभी उसे देखकर आश्चर्य होता कि यह चल–फिर कैसे रही है? काली देह में चमकती सफेद बटन–सी उसकी आँखें ही उसके जीवित होने का आभास करातीं। 'दो नैना मत खाईयो' जायसी की पंक्ति मेरी आँखों के सामने आ जाती। होरीलाल और अपने पोते–पोतियों के प्रति सुंदरी के मन में मोह तो था पर कहीं कुछ ऐसा भी था, जो सुंदरी का मन उचाट कर रहा था।

सुंदरी ने माँ के पास बैठना फिर शुरू कर दिया था। अब ऐसा लगता जैसे वह घर जाना ही नहीं चाहती। माँ को सुंदरी की मनःस्थिति का कुछ आभास तो था, पर स्वयं पूछकर वह उसके घावों पर नमक छिड़कना नहीं चाहती थी।

एक दिन सुंदरी बुआ जब दूध देने आई तब बहुत थकी और पेरशान थी। दूध देकर अनमने भाव से उठी, चलने को हुई फिर लौट पड़ी। कंपकंपाती आवाज में बोली–'भाभी! एक–दुई बार खाना–चाय का हम मना कर दिए तो तुम जिनगी भर ना पूछबो हमसे। तुमहू ...' बुआ आगे न बोल सकी। फूट–फूटकर रो पड़ी। माँ अवाक्, स्वयं भी रोती हुई उसके लिए थाली परोस लाई। सुंदरी खाने पर ऐसे टूट पड़ी जैसे कई दिन से भूखी हो। सुंदरी के हाथ खाने को जल्दी समेटकर मुंह तक ले जाना चाहते थे। ऐसा लगा रोटी के टुकड़े वह निगलती चली जा रही हो। अन्न जैसे–जैसे उसके शरीर में पहुंचता जाता उसकी कटोरे में रखी हुई आँखें मानों ऊपर आने लगतीं। खाना खाने के बाद उसके चेहरे पर जो तृप्ति दिखाई दी, उससे लगा कि शायद बहुत दिन बाद उसने भोजन का मुख देखा है।

खाना खत्म करते–करते सुंदरी फिर फफक पड़ी। माँ घबराकर बोली–'क्या हुआ? कुछ और चाहिए?'

माँ के यह पूछते ही सुंदरी उनके पैरों से लिपट गई–'अइसा न कहो भाभी। कितने दिनन के बाद आज भरपेट खाना खावा हैं। तुमहूँ का सोचत होई हो सुंदरी कइसन कुकुर की नाईं खावत है। खाना न मिलै तो मानुस कुकुर हो जावत है। कबहू तुमरे हियां अन्न नाहीं

खाए। पर का करी? पेट में आग जरत है तो आगा–पीछा नाहीं सूझत। जौने होरीललवा की खातिर जिनगी खराब कर दिहिन, ओही की पतोहू हमका भूखा मार दिहिस। अब हमरे हाथ में कुछ नाहीं रहा। सब कुछ मिट्टी के ढेले–सा फूटकर बिखर गवा। जौना बेटवा के खातिर होरीललवा के बाबू का भी खियाल नाहीं किए जीवन भर, ओही की पतोहू ससुरी खाना–पीना को नाहीं पूछत है। भिनसारे हम दोनन को गैया–भैंसा के संगे हँकाल देत है। पेट देखा हमार पीठ से सट गवा है।'

माँ ने देखा पेट की जगह गड्ढ़ा दिखाई दिया। सुंदरी अपनी व्यथा कहे जा रही थी। माँ के कानों में कुछ वर्ष पूर्व के खिलखिलाहट भरे स्वर गूंज रहे थे–'देखा, कइसन चांद का टुकड़ा है भाभी। होरीलाल के पैर बेड़ी में डाल दिहिन हम।' सच में होरीलाल बेड़ियों में जकड़ गया था। ऐसी बेड़ियाँ जो माता–पिता की रक्षा का विचार भी मन में नहीं आने देती थीं। सुंदरी के इस भविष्य की कल्पना तो माँ ने होरीलाल के विवाह के दिन ही कर ली थी। पर सुंदरी को कौन समझाता?

माँ विचारों में डूबी ही थी कि सुंदरी चलने को तत्पर हुई। दुःख और क्रोध के मिले–जुले स्वर में माँ ने कहा–'सुंदरी! तुम आज से यहीं रहो। यहीं खाओ–पीओ, क्या करोगी वहाँ जाकर? दोनों को गाय–भैंस चराना पड़ेगा दिन भर, तब पता चलेगा। मरने दो दोनों.....

सुंदरी बुआ का चेहरा अचानक कोमल पड़ गया। थोड़ी देर पहले व्याप्त दुःख तथा निराशा का भाव कपूर–सा उड़ गया। झटके से माँ के मुंह पर हाथ रखकर बोली–'भाभी! अइसा न कहो। बामन हो, सच होय जाई तो? हमार होरीललवा अपने लड़कन–बच्चन के साथ लंबी उमर जिए। हमार जिनगी तो बिताय गई। आज नाहीं तो कल मिट्टी में मिल जाई। सरीर का खिलाए–पिलाए का कौन फायदा? चली भाभी! देखी उ होरीललवा को खाय–पिए का कुछ दिहिस की नाहीं।' सुंदरी चल दी। माँ किंकर्त्तव्यविमूढ़–सी बैठी रह गई। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' का स्वर सर्वत्र ध्वनित हो रहा था।

□□□

रिश्ता

● उषा राजे सक्सेना

तभी युवक ने मेरे हाथ में पकड़ी हुई पुस्तक को देखते हुए कहा, "ओह! अच्छा तो आप 'ब्रिजेट जोन्स की डायरी' पढ़ रही हैं। हेलेन फीव्डिंग वाक़ई बहुत अच्छा लिखती है। इसके व्यंग्य और तानेबाज़ी का कोई जवाब नहीं है। सहज, सरल भाषा में दरिया–सा बहाव है। इन्होंने कई वर्ष बी.बी.सी. में भी काम किया है। इनका एक उपन्यास है 'कॉज् सेलब' जो कि बेहद मजेदार है। आजकल इनके लेख आदि बर्तानिया के अखबारों में धूम मचा रहे हैं।"

मेरा सामान चेक हो चुका था। मैंने टिकिट और बोर्डिंग–कार्ड दोनों ही अपने कंधे से लटके बैग के बाईं तरफ़ वाले ज़िप पाकेट में रखा और झुककर अपने साथ लेजाने वाले हाथ के सामान को उठाने ही वाली थी कि काऊंटर पर खड़ी लड़की की गिद्ध–सी तेज़ आखों ने मेरे ओवरनाइट बैग को देख लिया। इससे पहले कि मैं उससे कुछ कहती, वह अत्यंत रसहीन एवं तीक्ष्ण स्वर में बोली, "देखिए एक टिकट पर केवल 20 किलो सामान जा सकता है, आपने पहले ही 25 किलो सामान अंदर भेज दिया है और अब आपके पास इतना बड़ा ओवरनाइट बैग भी है। आपको इसे डिक्लेयर करना चाहिये था। आप इसे अंदर नहीं ले जा सकती हैं और यदि आप इसे ले ही जाना चाहती हैं, तो मैं इसे तौल देती हूँ। अधिक भार का भुगतान आप वीज़ा कार्ड से कर सकती हैं।" मुझे पसीना–सा आ गया। मैंने उत्साह में सामान रखते हुए इतने सब झमेले की आशा नहीं की थी। अपने बचाव में मैं कुछ कहने ही जा रही थी कि पीछे से आवाज़ आई, "व्हाय आर यू हेसलिंग द लेडी, शी इज़ विद अस, आई हैव नो हैंड लगेज, एक्सेप्ट दीज़ टू रकसैक्स टु चेक इन।" कहते हुए उसने दो पासपोर्ट और दो टिकट काऊंटर पर रख दिए। फिर दाहिने हाथ से दो रकसैक्स को कनवेयर बेल्ट की तुला पर रखते हुए बाएं हाथ से मेरे कन्धे को हल्का–सा दबाव देते हुए मुस्कराया। मैं

कुछ आश्वस्त, कुछ चकित, नम आंखों में आए आंसुओं को रोकती हुई उसकी मुस्कराहट के जवाब में मुस्कराई।

मैं कृतज्ञ, वहीं खड़ी उस सुदर्शन युवक को निहारती उसके चेक–इन की समाप्ति का इंतज़ार करती रही। नीले जीन्स पर, पीले रंग की क़मीज़ पहने, उस श्याम–वर्ण मोहक युवक के व्यक्तित्व में ना जाने कैसा आर्कषण था कि वह युवती जो काऊंटर पर खड़ी मुझसे अभद्र हो रही थी; अब युवक तथा मुझसे बार–बार क्षमा मांग रही थी। युवक ने उस युवती को सहज करते हुए कहा, "आप केवल अपना कर्तव्य कर रही थीं। आपने कुछ भी अनुचित नहीं किया। मैं ही कुछ अधिक उत्तेजित हो गया था। चलिए हम दोनों ही अपने–अपने व्यवहार के लिए एक–दूसरे से क्षमा मांग लते हैं।" कहते हुए युवक ने मेरा ओवरनाइट बैग अपने दाहिने हाथ में उठा लिया, मैं उसे मना ही करती रही और यहां तक कहा कि "मैं अपना काम अपने आप ही करना चाहती हूँ। मुझे किसी पर आश्रित होना ना तो अच्छा लगता है और ना ही होना चाहती हूँ। यह मेरे आत्मसम्मान के विरुद्ध है।" युवक एक पल रुका, फिर आदर से मेरी ओर देखते हुए बोला, "यदि आपके साथ आपका बेटा होता और वह आपका सामान उठा लेता तो क्या आप यही सब उसको भी कहतीं।" "हाँ, यही सब कहती।" "पर 'ओह! मां' कहता हुआ, वह भी सामान उठा ही लेता।" मैंने सरस हास के साथ कहा।

"फिर वही तो मैंने भी किया है।" और उसने उन्मुक्त ठहाका लगाते हुए पास खड़ी उस छह–सात वर्ष की गहरे भूरे बालों और उसी रंग की मृग–शावक–सी बड़ी–बड़ी आंखों वाली लड़की का हाथ पकड़ा जो सुरक्षा एक्सरे मशीन के पास खड़ी विस्मित–सी वहां होने वाली कार्यवाही का निरीक्षण कर रही थी। "ऋचा तुम्हारा बैक–पैक कहाँ है, लाओ उस पर केबिन पास लगा दूँ।" बच्ची थिरकती हुई पलटी और अपनी नन्हीं–सी पीठ पर टंगे बनी–बैग को उसके आगे कर दिया। कितना पावन और पुनीत नाम है ऋचा। कैसी प्यारी बच्ची है गोरी–चिट्टी, बिल्कुल मेम–सी।

"यह मरी बेटी ऋचा है। हम दोनों छुट्टी मनाने दो सप्ताह के लिए रोमानिया जा रहे हैं।" उसने प्यार से बेटी का कंधा थपथपाया।

"रोमानिया नहीं डैडी, हम तो बुख़ारेस्ट जाएंगे।" उसने युवक का हाथ पकड़कर उससे झूलते हुए अंग्रेज़ी में कहा।

"ओ.के., बेटे हम बुख़ारेस्ट ही तो जा रहे है, बुख़ारेस्ट रोमानिया की राजधानी है न, जैसे लंदन, इग्लैण्ड की राजधानी है।" कहते हुए उसने उसके कमर को बाएं हाथ में लपेट लिया।

"ओहो! अच्छा तो आप बाप–बेटी छुट्टियां मनाने जा रहे हैं रोमानिया। पत्नी को कहाँ छोड़ आए? वह छुट्टी नहीं मनाएंगी?" मैने हँसते हुए कहा। देखकर ही लग रहा था कि युवक उच्च समृद्ध वर्ग से संबंधित है। जहां पति–पत्नी दोनों ही हाई–फाई जॉब में होते हैं और कई बार उन्हें एक साथ छुट्टी नहीं मिल पाती है, तो वह अकेले ही छुट्टियां मनाने किसी गर्म मुल्क चले जाते हैं।

"क्या पिता बनने के लिए पत्नी का होना आवश्यक है? कहकर वह हल्का–सा हँसा। इस बार वह ठहाका उतना उन्मुक्त नहीं था। मुझे लगा, मैंने शायद कहीं गहरे में उसके दुखती रग पर हाथ रख दिया था और मैं अनायास ही स्वयं से क्रोधित हो उठी।

युवक को सहज करने के ख़्याल से मैंने विषय–वस्तु अतिरेक सावधानी से बदलते हुए कहा, "एक लंबी अवधि के बाद भारत जाना हो रहा है, अतः बहुत भावुक हो उठी हूँ। उत्साह के इस अतिरेक में मैं सीमा का अतिक्रमण कर गई और सामान ज़रूरत से अधिक पैक कर गई। मुझे क्षमा करना युवक!" और मेरी आंखें फिर आर्द्र हो उठीं।

"अरे नहीं, आप ऐसा क्यों सोचती हैं, आपका सामान कोई अधिक नहीं था। वह तो, वह युवती ही कुछ सिर–फिरी थी।" मैंने मन में सोचा, कितना संवेदनशील युवक है, वैसे आज का युवकवर्ग तो व्यावहारिकता के नाम पर संवेदना को तलाक़ दे बैठा है, किन्तु इस युवक में शिष्टता एवं सौजन्यता कूट–कूटकर भरी हुई है।

बातचीत करते, सीढ़ियां चढ़ते, हम लोग हीथ्रो एयरपोर्ट के अंतिम चेक आउट पर पहुँच चुके थे। पासपोर्ट निरीक्षण के पश्चात् सुरक्षा–कक्ष से निकलकर हम अभी लाऊंज में ठीक से बैठ भी नहीं पाए थे कि सूचना–पट पर बोर्डिंग की सूचना आ गई कि हमारी उड़ान की बोर्डिंग शुरू हो गई है। अतः हम लोग प्रवेश–द्वार को पार करते हुए अपनी–अपनी सीट पर आ बैठे।

हवाई जहाज ने उड़ान भर ली थी। बच्ची को नींद आ रही थी, किन्तु वह सही ढंग से स्वयं को व्यवस्थित नहीं कर पा रही थी। अतः कुनमुनाती हुई इधर से उधर पासे पलट रही थी। मैंने सोती हुई बच्ची का सिर सायास अपनी गोद में रख लिया। थोड़ी ही देर में वह गहरी नींद सो गई। मैं कुछ देर बच्ची का सिर वात्सल्य से सहलाती रही। फिर पास रखे कंबल को उसके नन्हें–से बदन पर डाल दिया। वह फिर कुनमुनाई। मैं धीरे–धीरे उसे थपकने लगी। लगा युवक मेरी इस सहज प्रक्रिया से अत्यधिक असहज हो उठा, तभी तो उसने कहा, "आप में वात्सल्य एवं ममता का बाहुल्य है। पल भर में कितना स्नेह हो गया है आपको मेरी बेटी से।"

"सो तो है। आपकी बेटी बहुत ही चित्ताकर्षक एवं गुड़िया–सी प्यारी है। उससे अनायास ही स्नेह हो जाना प्राकृतिक है। आप दोनो मेरे सहयात्री हैं। हम थोड़ी देर के लिए एक–दूसरे का सुख–दुःख तो बाँट ही सकते हैं। मैं धार्मिक नहीं हूं किन्तु सद्भावना को मैं मानव अथवा किसी भी धर्म का पहला पाठ मानती हूं। यदि आज संसार में एक–दूसरे के लिए सहज सद्भावना एवं संवेदनाएं होतीं तो यह संसार इतना असहिष्णु और संवेदनहीन नहीं होता।"

"नहीं होता.... आप ठीक कहती हैं। आज का जो परिवेश है उसमें सहज, सरल एवं संवेदनशील लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। मैं अपनी माता का एकमात्र पुत्र हूं....संतान हूं। मेरी माता स्वावलंबी, बुद्धिमती, जागरूक एवं अत्यंत भव्य व्यक्तित्व की स्वामिनी है।

भारतीय एवं बरतानिया दोनों ही समाज में उनका बहुत सम्मान है। वह एक अच्छी प्रवक्ता होने के साथ–साथ मृदुभाषिणी एवं समाजसेवी महिला हैं। उनके आदर्श, उनके विचार हमारे समाज में अनुकरणीय हैं, किन्तु जब बात उनके अपने बेटे पर आई तब जैसे सारे आदर्श कर्पूर की तरह उड़ गए.....उड़ गए....." कहते–कहते युवक चुप होकर मानों अपने आप में लीन हो गया।

मैं उसकी आवाज़ तथा होठों पर आए कंपन को अंदर तक महसूस करते हुए मां और बेटे के संबंध में सोचने लगी। आज के इस परिवेश में जब संसार के सभी देशों में उपभोक्ता संस्कृति का विस्तार हो रहा है, हम सुविधाभोगी दुश्चक्र में फंसकर स्वयं को निर्वासित और विस्थापित कर बैठे हैं। कितना कुछ खोया है हमने अपनी महत्वाकांक्षाओं के लिए। यहां पश्चिम में आकर भी आधुनिकता, मानवता और उदारता के मार्क्सवाद को मात्र बौद्धिक स्तर पर ही ग्रहण किया। वह न तो हमारे आचरण में उतरा और ना ही कर्म का संस्कार बना। पारिवारिक व्यवस्था यहां भी हमने वही पुरानी वर्ण–भेद, लिंग–भेद, शोषण और सामंतवादी रखी। हमारा युवकवर्ग इस दोगली बहुरंगी व्यवस्था में घुट रहा है। उसे लगता है वह किसी अंधी गली में आ गया है जहां सब कुछ अविश्वसनीय, अनिर्भर्णीय एवं वायावी है। जो सहज, सरल एवं निष्ठावान है वह अपनी ही आत्मा का मांस नोच–नोचकर खाने को मज़बूर हुआ जा रहा है। झूठे स्वप्नों और आस्थाओं को उतारकर जो मुक्त होना चाहता है उसे हमारा परिवार तथा समाज बहिष्कार करने को उद्यत रहता है। इसी मिट्टी ने उसे बनाया है। यहां की मिट्टी–पानी उसमें रची–बसी है। वह यहां के युवक समुदाय से खुद को जोड़ना चाहता है और हम उन्हें जुड़ने नहीं देना चाहते हैं। हम उन्हें अलग और अकेला महसूस कराना चाहते हैं..... तभी बच्ची ने करवट बदली, मेरी और युवक की तंद्रा एक साथ टूटी, उसने बच्ची के पैरों को कंबल से ढकते हुए प्यार की एक थपकी दी।

तभी विमान परिचारिका पेय रस से भरी ट्रॉली लेकर आ पहुंची। पूछने पर युवक ने केवल शीतल जल लिया और मैने डायट कोक।

हम दोनों ने ग्लास उठाकर चीयर्स कहते हुए एक–दूसरे को सुखद यात्रा की शुभ–कामनाएं दीं।

तभी युवक ने मेरे हाथ में पकड़ी हुई पुस्तक को देखते हुए कहा, "ओह! अच्छा तो आप 'ब्रिजेट जोन्स की डायरी' पढ़ रही हैं। हेलेन फील्डिंग वाक़ई बहुत अच्छा लिखती है। इसके व्यंग्य और तानेबाज़ी का कोई ज़वाब नहीं है। सहज, सरल भाषा में दरिया–सा बहाव है। इन्होंने कई वर्ष बी.बी.सी. में भी काम किया है। इनका एक उपन्यास है 'कॉज़ सेलब' जो कि बेहद मजेदार है। आजकल इनके लेख आदि बर्तानिया के अखबारों में धूम मचा रहे हैं।" उसने पानी का एक घूंट यूं भरा मानों शर्बत पी रहा हो।

मुझे युवक की बातें अच्छी लग रही थीं, अतः मैंने किताब बंद करके हैंड बैग में रखी ही थी कि वह बोला, "अरे आपने तो किताब ही बंद कर दी। पढ़िए न! मैंने संभवतः व्यवधान डाल दिया।"

"अरे नहीं" मैंने कहा, "किताब तो समय काटने के लिए यात्रा में साथ रखी जाती है, यदि सहयात्री रुचिपूर्ण मिल जाए तो पुस्तक तो कभी भी पढ़ी जा सकती है। तुम जैसे अभिरुचि वाला सहयात्री तो बिरले ही मिलता है, अतः यह यात्रा तो मैं तुमसे वार्तालाप का आनन्द उठाते हुए ही समाप्त करना चाहूंगी, यदि तुम्हें अरुचिपूर्ण न लगे तो।"

"वाह! आपने तो मेरे मन की बात कह दी, मुझे भी आपसे बातचीत करने में सहजता का अनुभव हो रहा है।" वह एक क्षण रुका, किंचित् हिचकिचाया, फिर सहज होते हुए बोला—

"मैं बहुत दिनों से घुट रहा हूं। मुझे लगता है आप मेरी बात सुन सकेंगी और फिर हमारे घुटते हुए युवक समाज को समझ भी सकेंगी। फिर हो सकता है जिस तनाव से मैं गुज़र रहा हूं वह शायद ढीला पड़े।"

"संकोच मत करो युवक, मैं एक अच्छी श्रोता और सहयात्री हूं।" कहते हुए मैंने उसकी ओर देखा तो वह मुस्कराया फिर बोला—

"बात उन दिनों की है जब मैं मात्र अट्ठारह वर्ष का था। मेरी 'ए' लेवेल की परीक्षा दो–तीन दिन पहले ही समाप्त हुई थी। परीक्षा के पश्चात् का खालीपन एवं पढ़ाई के एकांतवास के बंधन से मुक्त होने का अहसास मुझपर हावी हो रहा था। मां ने हमारी मॉरिशस की छुट्टियां बुक कर दी थीं। हमें अगले सप्ताह जाना था। मुझमें उत्तेजना एवं अधीरता व्याप्त थी। जून का अंतिम सप्ताह था। उस दिन मेरी नींद सुबह साढ़े चार बजे ही खुल गई । बिस्तर पर करवटें बदलने से कोई फ़ायदा नहीं था क्योंकि नींद दुबारा नहीं आ सकती थी । सुबह हो चुकी थी। सूरज नहीं निकला था। आकाश पर हल्के–हल्के बादल छाए हुए थे । थोड़ी देर पहले वर्षा हो चुकी थी। प्रकृति सद्यस्नाता लग रही थी। रिचमंड पार्क की वह सड़क जहाँ हम रहते हैं, पश्चिमी लंदन की एक सुन्दर सड़क है। मेरे शयन–कक्ष की खिड़की से रिचमंड पार्क और उसकी दूर–दूर तक फैली हरियाली, प्रहरी से खड़े ओक, रोहन, सिकामोर के मज़बूत, कद्दावर वृक्षों के साथ वीपिंगविलो तथा अज़ेलिया की फूलों से लदी झाड़ियां बहुत लुभावनी लगती हैं। प्रकृति का साहचर्य मुझे सदा से ही प्रिय रहा है। हमारी गली के दोनों ओर चेरी और एपल ब्लासम की कतारें प्रातः भ्रमण के लिए निकले लोगों का स्वागत करती हुईं–सी प्रतीत होती हैं। मैं कमरे में रुक न सका। भ्रमण के लिए निकल पड़ा।

हवा में नमी और ताज़गी थी। मैंने एक गहरी सांस ली। लगा, प्रकृति की सारी ताज़गी मेरे अंदर उतर आई। मैं जॉगिंग करता हुआ रिचमंड पार्क के उस हिस्से में निकल पड़ा जहां पर हिरनों का झुंड उन्मुक्त विचरण करता है। आज रिचमंड पार्क की दूसरी ही छटा थी। कल जहां हरा–भरा मैदान था, आज वहां चारों–ओर कैरावान और डोर मोबाईल खड़े थे। बीच में सफ़ेद गोलाकार तंबू तना हुआ था। इधर–उधर जानवरों के पिजड़े एक अन्य कनात के अंदर रखे हुए थे। सर्वत्र शांति थी। सभी प्रातःकालीन निंद्रा का आनन्द ले रहे थे।

सब–कुछ अति विचित्र एवं रमणीय लग रहा था। मैं मानों किसी निमंत्रण पर सम्मोहित–सा चलता चला जा रहा था। तभी किसी ने पीछे से आवाज़ दी, "हाय! अज़नबी, तुम किसकी इजाज़त से यहां चलते चले आ रहे हो?" मेरी तंद्रा टूटी किन्तु कहीं कोई नज़र नहीं आया।

मैं चकित–सा इधर–उधर देख ही रहा था कि तभी वीपिंगविलो की झरने–सी गिरती गोलाकार लड़ियों के पीछे आंख बंद किए मात्र कटि–वस्त्र एवं कंचुकी पहने नटराज की ध्यान–मुद्रा में खड़ी एक रूपसी दिखी "हाय!" कहते हुए मैंने वीपिंगविलो की लड़ियों के बीच रास्ता बनाते हुए अंदर प्रवेश किया। वह आँख बंद किए नटराज की ध्यान–मुद्रा में मूर्तिवत खड़ी रही। अद्‌भुत दृश्य था। विशाल विलोवृक्ष की गोलाकार लड़ियों–सी लटकती लचीली डालियों ने मानों इस सुंदरी को बंदी बना रखा हो। वह ध्यान–मग्न और मैं चित्र–लिखित–सा खड़ा उसे निहारता रहा। कुछ पलों बाद उसने अपनी झील–सी गहरी नीली आँखें खोलीं। मुझे वहाँ खड़ा देख मुस्कराई। मैं अभी कुछ कहने के लिए खुद को व्यवस्थित कर रहा था कि उसने मुद्रा बदल ली। अब वह शीर्षासन की मुद्रा में थी। तनिक देर उसने स्वयं को स्थिर किया, फिर वह हाथों पर चलती हुई मेरे पास आई। मैं खड़ा नहीं रह सका और वहीं धरती पर पालथी मारकर बैठ गया। शीर्षासन मुद्रा में ही वह मुझसे बोली, "क्या तुमने कभी योगा किया है?" मैंने सकारात्मक सिर हिलाया। वह हल्के–से हंसी, उसकी बिजली–सी उज्ज्वल दंतपंक्ति रक्ताभ अधरों के बीच झलक उठी। थोड़ी देर वह शीर्षासन में खड़ी रही फिर चक्रासन में आकर पद्‌मासन की मुद्रा में बैठते हुए उसने मुझे भी वैसा ही करने का आदेश दिया। मैं यंत्रवत उसके आदेश का पालन करता रहा। भूमि पर बैठकर उस सुंदरी के साथ प्राणायाम का आनंन्दसुख विचित्र था। प्राणायाम की मुद्रा से मैं अनभिज्ञ नहीं था। मेरी माँ योगाभ्यास करती हैं और मैंने उन्हीं से योगाभ्यास एवं प्राणायाम सीखा था। योगाभ्यास के पश्चात् उसने सहज चपलता के साथ मुझसे कहा–

"ग्यारह वर्ष की साधना के बाद आज मेरा प्रथम प्रदर्शन ट्रैपीज़ पर है। क्या आज शाम तुम शो देखने आ सकोगे? यदि आओ तो प्रवेश–द्वार के पास पहली सीट पर बैठना। वहीं से मेरा प्रवेश है। आओगे ना.... मित्र?" उसने 'मित्र' शब्द कुछ इस तरह से उच्चारित किया कि मेरे देह में फैले सारे स्नायु–तंत्र रसपूर्ण युवा उत्तेजना से झनझना उठे।

मैं भला कैसे इतने आत्मीय एवं अद्‌भुत निमंत्रण को अस्वीकार कर सकता था! मैंने उससे हाथ मिलाते हुए सकारात्मक सिर हिलाया।

दिन भर मैं अत्यंत अधीर रहा। माँ मेरी उत्तेजना एवं अधीरता को कौतुहल से देख रही थीं। एक–दो बार उन्होंने मुझसे वार्तालाप करने का सायास प्रयास भी किया, किन्तु मैं उन्हें टाल–सा गया, केवल इतना ही कहा शाम को मैं सर्कस देखने जाना चाहता हूं। उन्होंने स्वीकृति स्वरूप मेरा जेब–खर्च मेरे हाथ में पकड़ा दिया।

मैं यथासमय सर्कस शुरू होने से पहले प्रवेश–द्वार के पास बैठा अधीरता से उसकी प्रतीक्षा करता रहा, वह प्रवेश–द्वार से कब गुज़री मुझे पता ही नहीं चला। मैंने तो उसे तब

देखा जब वह एकाग्र चित्त उस तनी हुई रस्सी पर चल रही थी, उसके हाथ में संतुलन के लिए कोई उपकरण नहीं था। वह मायावी कभी रस्सी पर गोल घूम जाती, कभी लम्बी छलांग लगाकर वापस रस्सी पर खड़ी हो जाती। मेरे मुख से चीख तो तब निकल पड़ी जब वह ट्रैपीज़ पर तेज़ी से झूलती हुई हवा में कलाबाज़ियां लगाती नीचे तनी हुई रस्सी पर खड़ी हो चक्राकार घूमने लगी। मैं भयाक्रांत आंखें मींचे बैठा रहा। लोग ज़ोर–ज़ोर से तालियां बजा रहे थे और वह नटनी सबके प्रणाम झुक–झुककर बटोर रही थी। लोग प्रसन्न हो उसके ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे थे। अचानक कारनेशन का एक पुष्प मेरी गोद में गिरा, मुझे अनुभूति हुई कि वह मेरी उपस्थिति से आश्वस्त है।

उस रात मैं उत्तेजनावश सो न सका। अर्ध–निद्रा में कभी उस रूपसी नटनी को हवा में छलांग लगाकर पंछी की तरह खुले आकाश में उड़ते हुए देखता, तो कभी अपनी बाहों में। रात भर बारिश होती रही। सुबह खिड़की के शीशे पर पारदर्शी बूंदें छहरा रही थीं। आकाश में सफेद और श्यामवर्ण बादलों के झुंड अलसाए–से मद्धम गति से डोल रहे थे। अभी रात्रि एवं उषा संधिकाल में थे। मैं और अधिक न रुक सका। जल्द ही प्रातः भ्रमण के लिए पार्क की ओर निकल पड़ा। सर्वत्र असीम शांति थी। वह वहीं पिंजराकार विलो के नीचे नटराज की ध्यान–मुद्रा में योगाभ्यास कर रही थी। मैंने विलो की लचीली टहनियां हटाईं और उस विश्वमोहिनी नटनी के सम्मुख पद्मासन लगाकर बैठ गया। सम्भवतः मेरे आने की प्रतीति उसे हो चुकी थी। शीर्षासन के पश्चात् वह भी मेरे सम्मुख पद्मासन लगाकर बैठ गई। प्रकृति के साहचर्य में उसका संग दैविक एवं प्रेरणादायक था। आसमान में बादल छाए हुए थे। कभी वर्षा हो जाती, कभी बादल छा जाते, कभी बादलों के बीच सूरज झांक जाता। उस दिन लंदन का वह विशिष्ट मौसम था जिसमें प्रकृति ऋतुओं से आँख–मिचौली खेलती है। हम प्रकृति की गोद में संसार के समस्त बंधनों से मुक्त एक–दूसरे के आंतरिक संसार में प्रवेश कर चुके थे। दोनों के अंतःस्तल में पूर्णता, परितृप्ति एवं चरम आनंद की अनुभूति हो रही थी। वह पुलकित कोमल लता–सी मेरे देह–वृक्ष से लिपटी अतिरेक सुख का अनुभव कर रही थी। मेरे अंदर आदिम पुरुष के अहंकार का स्वामित्व भाव उमड़ रहा था। मैंने उसकी काली घनी पलकों के अंदर गहरी नीली झील–सी आंखों में झांकते हुए कहा, "एक दिन मैं तुम्हें वर ले जाऊंगा और फिर तुम्हें कहीं नहीं जाने दूंगा।"

"वरण तो मैं तुम्हारा कर ही चुकी हूँ और तुम मुझे वर भी दे ही चुके हो, सूर्यदेव! किन्तु मैं उन्मुक्त पंक्षी हूँ। आकाश में ऊँचे–ऊँचे बहुत ऊँचे उड़ना चाहती हूँ। कहते हुए, उसने अपनी सुंदर–सुडौल बाहों को पंखों की तरह फैलाया और कुछ देर वह इधर–उधर उन्मादिनी चिड़िया–सी गोरे–गोरे लाल फल के फांक–सी खूबसूरत एड़ियों और पंजों पर फुदती रही। फिर हवा में एक ऊँची छलांग लगा, कलाबाज़ियाँ और मुरकी लगाती हुई, मेरे सम्मुख मुस्कराती हुई किसी देवयानी–सी खड़ी हो गई।

मैं चकित विह्वल–सा उसे देखता रहा। वर्षा बंद हो चुकी थी, बादल छंट चुके थे। सूरज की चमकीली किरणें विलो की सघन लड़ियों–सरीखी डालियों के बीच से छनती हुई

अंदर आ चुकी थीं। हमें आभास हुआ दिन चढ़ आया है। वह पल भर को मेरी बाहों में लता–सी लिपटी। उसकी देहयष्टि की ऊष्णता एवं कसाव की मादकता का संगीत मेरी नसों में बज उठा, तभी उसने मेरे माथे पर होठों का चंदन–स्पर्श देते हुए शाम के प्रदर्शन का निमंत्रण दिया–

"संध्याकाल नट–प्रदर्शन देखने अवश्य आना, मैं प्रतीक्षा करूंगी–आओगे न!" उसकी झील–सी गहरी आंखों में परिपूर्ति की शिथिलता और असीम सुख की अनुभूति की आर्द्रता थी।

मेरे अंग–अंग में उत्तेजना व्याप्त थी। अतीव तृप्ति के क्षण का निर्माण कर चुकने के पश्चात् भी, मेरे अंतःस्तल में अनवरत अतृप्ति एवं उत्कट दाह का बोध था। मेरे स्नायुतंत्र एवं रक्तवाहिनी शिराएं बिजली की तरह थरथरा रही थीं। मेरी आश्वस्ति के लिए वह हल्के–से हंसी जैसे कोई स्वर घुलता चला जाए। बोली "मैं चिड़िया हूँ – उन्मुक्त आकाश में उड़ना चाहती हूँ ....."

मेरे पुरुष होने का थोथा अंहकार पल भर में सम पर आ गया।

उस रात मैं सर्कस देखने नहीं जा सका। माँ अस्वस्थ हो गई थीं। उन्हें लेकर मुझे अस्पताल जाना पड़ा। लौटकर आया तो बस पौ फटने ही वाली थी। अलसुबह वर्षा हो रही थी। मैने घड़ी देखी सुबह के चार बजे थे। वह जाने ही वाली होगी, सोचता हुआ मैं तेज़ वर्षा में भीगता हुआ कॉमन की ओर भागा। जाने की सारी तैयारी हो चुकी थी। वह अपने कैरावान में बैठ चुकी थी। मुझे आता देख, वह तेज़ी से नीचे उतर पड़ी। उसकी रतनारी आंखें रक्ताभ थीं। धनुषाकार काली भौंहों को छूती हुई लंबी घनी पलकें गीली थीं। तेज़ वर्षा हो रही थी। बादल गरज रहे थे। बिजली कड़क रही थी। वह नटनी संयम न रख सकी और मेरे प्रगाढ़ आलिंगन में बद्ध दीर्घ चुम्बन के पश्चात् रुंधे स्वर में बोली–"संभवतः यहीं, इसी समय अगले वर्ष भेंट होगी।"

दो महीने बाद मैं एम.बी.बी.एस. की पढ़ाई करने कैम्ब्रिज चला गया। वह मेरे मन–मानस पर छाई रही। परिवेश एवं समय के अनुसार बहुत से मित्र बने, किन्तु किसी से वह भावनात्मक संबंध नहीं बन पाया जो उस रूपसी नटनी के साथ प्राणायाम करते हुए बना था। मेरे सभी मित्रों की अपनी विशेष महिला मित्र थीं। सप्ताहांत अथवा अर्धरात्रि के आनन्दोत्सव के पश्चात् सभी अपनी–अपनी महिला मित्रों के साथ शयन करते। मुझे भी निमंत्रण मिलता किन्तु मुझे कोई आकर्षित नहीं कर पाता। जिस परिवेश में मैं पल और बढ़ रहा था, वहाँ 'प्रेम' एक अनुभव है, उत्सव है, आनन्द है; किन्तु मेरी मान्यताएं और मेरे संस्कार दोहरे थे। मेरे अवचेतन मन में मेरी माता के दिए संस्कार द्वंद्व करते। अतः अभी तक मेरी किसी भी महिला से प्रगाढ़ मैत्री नहीं हुई थी।

छुट्टियों में घर आया। इस वर्ष भी कॉमन में सर्कस लगा था किन्तु वह वहाँ नहीं थी। पता चला उसने सर्कस में काम करना छोड़ दिया है। कोई भी उसका पता नहीं बता सका

.... मैं विचलित था। दु:खी था किन्तु मेरा मन कहता, वह मुझे भूल नहीं सकती। फिर भी मन को समझाया, वह नटनी थी.... मुक्त पक्षी थी.... बंधना तो मैं चाहता था। मैं मनुष्य था वह परिंदा ...... उदास मन से कैम्ब्रिज लौट आया।

दो वर्ष बाद अचानक वह मुझसे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के यूनियन आफिस में मिली। उसके चेहरे पर वही भुवनमोहिनी मुस्कराहट थी। वैसी ही सहज, वैसी ही सरल। बोली, "कई दिनों से यही डोल रही हूं। तुम्हारा पता नहीं लग रहा था। तुम्हारे घर गई थी। माँ से पता चला, तुम कैम्ब्रिज मेडिकल कॉलेज में हो....." कहते हुए वह थोड़ा रुकी, फिर बोली–

"शाम को नौका तट पर मिलोगे। मुझे तुमसे कुछ आवश्यक बातें करनी हैं।" हर्ष के अतिरेक से मैं कुछ सुन नहीं पा रहा था। मेरे स्नायुतंत्रों में खिंचाव हो रहा था। अतीत में मिला वह असीम सुख मन के अंदर–बाहर झांक उठा।

"नौका–विहार करोगी मेरे साथ?" मैंने उत्फुल होकर कहा।

"आवश्यक बातों के पश्चात्।" उसने कहा।

"आवश्यक बातें हम अभी कर लेते है, मैं अपनी कक्षाएं छोड़ देता हूं।" मैंने सरस हास के साथ कहा।

"नहीं, शिक्षा एक तपस्या है, पूजा है, आराधना है, उसको कभी भी खंडित नहीं करना, मुझे वचन दो।"

"इतनी–सी बात! अरे! तुम तो भारतीय मूल्यों के मानदंड से बोल रही हो।"

"हां, नृत्य एवं योगाभ्यास की शिक्षा मैंने शंभू महाराज से ली थी तथा ट्रैपीज़ियम नन्दलाल नटवर जी के संरक्षण में। मैं नहीं चाहती कि तुम्हारी शिक्षा में कोई व्यवधान पड़े। चार बजे नौका तट पर मिलेंगे।" कहती हुई वह सायास हँसती उठ खड़ी हो गई।

भाषण कक्ष में मन को संतुलित करना आसान नहीं था।

वह नौका तट की मुंडेर पर बैठी मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे देखते ही 'हाय' कहती हुई उठ खड़ी हुई और मेरे कदम के साथ कदम मिलाती हुई चल पड़ी। "यहीं घास पर बैठते है।" उसने कहा, तो हम वही बैठ गए।

"कुछ खाओगी।" मैंने पूछा तो उसने कहा–

"नहीं, अभी नहीं, आवश्यक बातों के बाद।" वह पल भर चुप बैठी स्वयं को व्यवस्थित करती रही। अनायास ही उसने घास का एक तिनका तोड़कर दाँतों से दबाया, फिर उसे उँगलियों से सीधा करती हुई मेरी आँखों में देखते हुए बोली, "उस दिन मैंने तुम्हारा वरण अपनी इच्छा से किया था। मैंने तुम्हारी कामना की थी। संभवत: वह स्वाति नक्षत्र था। तुम्हारा वीर्य मेरे गर्भ में पल्लवित हुआ। तुम्हारी पुत्री एक वर्ष की हो चुकी है।"

"ओह! कैसे! मैं पिता बन गया! मुझे मालूम भी नहीं! मैं....मैं तुमसे विधिवत विवाह करूंगा, अपनी पुत्री को अपना नाम दूंगा।" अपने पुरुषत्व का प्रमाण पा, मै उत्फुल आवेग

में था। किन्तु क्षण भर बाद मुझे वस्तुस्थिति की गम्भीरता का अहसास हुआ। मैं अभी स्वयं को संतुलित भी नहीं कर पाया था कि वह गुरुगंभीर शब्दों में बोली—

"नहीं, मैं विवाह नहीं कर सकती। मैं मुक्त रहना चाहती हूँ। मेरी अपनी महत्वाकांक्षाएं हैं। मैं नट हूँ। पंक्षी की तरह खुले आकाश में उड़ना चाहती हूँ।"

"ओह! तब क्या होगा? मेरी पुत्री कहाँ है? मैं उसे कब देख सकूंगा? उसका भरण—पोषण कैसे होगा!" हर्ष एवं उत्तेजना मुझमें परिव्याप्त थी। मैं केवल वर्तमान सुख देख रहा था। उसे किन विसंगतियों, असुविधाओं एवं संकटों से गुज़रना पड़ा होगा, इसकी मुझे कोई संवेदना नहीं थी। मुझमें केवल पुरुष होने का दंभ था, परिपक्वता नहीं।

वह चुप, केवल मुझे देखती रही। जैसे कोई आहत पक्षी किसी आखेटक को देखता है।

मैंने उसे कंधों से पकड़कर झकझोरते हुए कहा, "मेरी पुत्री कहाँ है? मै उसे देखना चाहता हूँ।"

मानों हवा रुक गई हो, उसने आर्द्र नेत्रों से मुझे देखा फिर बोली—

"देखोगे, किन्तु अभी नहीं, और बहुत—सी बातें करनी है। तुम अभी छात्र हो । पिता होकर भी पुत्री का भार नहीं वहन कर सकते हो।" मेरा पुरुषत्व आहत हो रहा था। वह कहती रही, "तुम्हारे स्वयं की शिक्षा—दीक्षा का भार तुम्हारी माता वहन करती हैं। अभी तुम्हें अपनी शिक्षा पूर्ण करनी है, किन्तु मैं अपनी संतान को पितृ—स्नेह से वंचित नहीं रखना चाहती हूँ। मैं तुम्हारी पुत्री का भरण—पोषण पूर्ण मनोयोग एवं स्नेह से तब तक करूंगी, जब तक तुम्हारी पढ़ाई समाप्त नहीं हो जाती। फिर अपनी पुत्री की शिक्षा—दीक्षा, संस्कार का भार तुम्हें ही ग्रहण करना होगा। मैं नट हूँ, नटनी भावनाओं में नहीं बह सकती। स्वतंत्र रहकर ही मैं नट साधना कर सकती हूँ। पाँच वर्ष पश्चात् जब तुम्हारी शिक्षा समापन पर होगी और तुम्हारी पुत्री की शिक्षा का प्रारम्भ होगा, तब तुम्हें उसे अपने सरंक्षण में लेना होगा। उसकी शिक्षा—दीक्षा, संस्कार एवं संस्कृति के संवाहक तुम होगे। इस बीच तुम दोनों में अटूट प्रेम संबंध—संचार होता रहेगा। यह मेरा वादा है। समय—समय पर पुत्री से स्नेह सम्बन्ध बनाए रखने के लिए तुम्हें उससे मिलते रहना होगा।" कहकर वह उठ खड़ी हुई और भर आए गले से बोली—

"यदि अपनी संतान के प्रति तुम्हारे मन में तनिक भी अनिश्चय अथवा संदेह हो, तो तुम निःसंकोच मुझसे कहो। हमारी पुत्री एक दैविक संयोग है। इस संयोग को मैं परिभाषित नहीं कर सकती हूँ। अपनी संतान को अनचाही भी नहीं कह सकती हूँ। वह किशोरावस्था में प्रथम दृष्टि के प्रेम तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति में मेरी आस्था की प्रतीक है। सम्भवतः प्रकृति ने मेरे जीवन के अत्यंत पुनीत एवं सुन्दरतम क्षण को सजीव करने के लिए तुम्हें ही निमित्त बनाया। मुझे जीवन से कोई शिकायत नहीं है। मेरी महत्वाकांक्षाएं मेरी मज़बूरी है। फिर मैं वचन—बद्ध भी हूँ। मैं एक माह पश्चात् तुमसे यही पर इसी समय मिलूंगी।" और मेरे माथे पर अपना स्नेहसिक्त चुंबन देकर वह चली गई। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़, सिर से पाँव तक

संवेदनाओं से तरल उसे रोक भी न सका था। वस्तुस्थिति का ज्ञान तो मुझे तब हुआ जब वह जा चुकी थी। प्रकृति ने हम–दोनों को सृजन के माध्यम से एक सूत्र में पिरो दिया था। मैं पुत्री का पिता और वह माता। जन्मदायिनी की सारी पीड़ा उसने अकेले ही झेली। वह भली–भांति जानती थी कि देह सुख के अतिरिक्त मेरे पास कोई और सामर्थ्य नहीं है। मैं तो स्वयं अपनी माँ पर आश्रित था, भला उसे कैसे कोई संबल दे सकता था। संभवतः वह मेरे भारतीय परिवेश तथा परिवार के पारंपरिक मूल्यों से अनजान नहीं थी।

अब मैं क्या करूं? विचित्र परिस्थिति थी। मैं वयस्क था। सारे बंधनों को तोड़, माँ की अनुमति के बिना मैं उससे विवाह कर सकता था, किन्तु वह विवाह के लिए तैयार नहीं थी। उसकी अपनी विवशताएं थीं, महत्वाकांक्षाएं थीं, परन्तु इन सब के बीच त्रिशंकु–सी लटकी हुई थी हमारी निर्दोष संतान। मै विचित्र मनःस्थिति में था। माँ को यह सब बताना आसान न था। माँ शिक्षित हैं, बुद्धिमती हैं, समाजसेविका हैं, किन्तु उनका परिवेश एवं संस्कार अनुदार है। वह इस प्रकार के शारीरिक संबंध को अनैतिक एवं वर्ज्य मानती हैं। स्थिति विषम थी। मेरा अंतर पीड़ा से झनझना रहा था। सामंजस्य की कोई राह समझ में नहीं आ रही थी। माँ भी भला कैसे अपने एकमात्र अविवाहित पुत्र की अवैध पुत्री को स्वीकार कर सकती थीं। उनके समाज में उनका आदर–सम्मान था। उनके लिए यह आत्महत्या–सा था।

मेरा मन वाचाल हो उठा था। मेरी त्रासदी का कारण था, मेरा दोहरा समाज जिससे मैं जुडा हुआ था। मेरे ट्यूटर मेरी ओर से चिंतित हो उठे थे। मेरी पढ़ाई पर मेरे व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव परिलक्षित हो रहा था। मैं उस दायित्व को ओढ़ना चाह रहा था जो मेरा था, किन्तु जिसके योग्य मैं अभी नहीं था। अनजाने ही सही किन्तु था ता मेरा ही और मैं उसे लेने को आतुर भी था, किन्तु परिस्थितयां मेरी क्षमता पर प्रश्नचिन्ह अंकित कर रही थीं। मेरा पुरुषत्व ही नहीं, मेरा व्यक्ति भी घुट रहा था। मैं दोहरे समाज का सदस्य था, दोहरे मूल्यों में जी रहा था।

अब तक मेरे ट्यूटर्स तथा मित्रों ने मेरी पुत्री को स्वीकार कर लिया था। धीरे–धीरे वह सबसे परिचित होती जा रही थी। मैं भी कुछ अंशों तक सहज हो चुका था, किन्तु माँ को कुछ भी बताने का साहस नहीं जुटा पा रहा था।

प्रतिमाह, एक नियत दिन वह मुझसे दूरभाष पर संपर्क कर, पुत्री से मेरा स्नेह–संबंध विकसित करने के लिए, उसे मेरे संरक्षण में छोड़, स्वयं अभ्यास के लिए चली जाती। पुत्री के साथ मेरे संबंध दिनों–दिन स्नेहसिक्त एवं दृढ़ होते जा रहे थे। समय का अश्व रुकता नहीं है। वह तीव्र गति से दौड़ता है। मेरी एम.बी.बी.एस. की पढ़ाई समाप्त हो चली थी। मैं 'हाउस जॉब' कर रहा था। मेरी पुत्री चार वर्ष की हो चुकी थी। धीरे–धीरे वह समय भी निकट आता जा रहा था जब मेरी पुत्री पूर्णरूप से मेरे संरक्षण में आने वाली थी। मैं इस स्थिति के लिए मानसिक रूप से तो तैयार था किन्तु स्थूलरूप से नहीं। माँ की अभिलाषा

थी कि मैं सर्जरी वूस्टर पार्क में ही खोलूँ ताकि हम दोनों साथ रह सकें, किन्तु मेरी संतान जो अब मेरे संरक्षण में आनेवाली थी, उसका क्या होगा? क्या माँ और उसका समाज उसे स्वीकार कर सकेगा? इस विकट स्थिति से माँ को कैसे अवगत कराऊँ? एक जलता हुआ बृहत् प्रश्नचिन्ह मेरे सामने खड़ा था और मैं उसमें झुलस रहा था।

क्रिसमस की छुट्टियाँ हुईं, मैं घर नहीं गया, मेरे 'क्लीनिकल्स' चल रहे थे। अक्सर रात को अस्पताल में ड्यूटी होती। माँ को मेरी व्यस्तता एवं कठिन जीवन का आभास था। अत: मेरे मना करने पर भी वह अपने सारे आवश्यक कार्य को छोड़, मुझे सुविधा देने के लिए कैम्ब्रिज आ गईं, ताकि मैं अपना कार्य व्यवस्थित रूप से कर सकूं।

इधर मेरी पुत्री के संरक्षण के हस्तांतरण का समय पास आता जा रहा था। योजना यह थी कि इस वर्ष के प्रथम चरण में वह मेरे साथ दो–तीन सप्ताहांत व्यतीत करेगी। फिर शरद ऋतु की छुट्टियों में एक सप्ताह। तत्पश्चात् ईस्टर की छुट्टियों में पूरा मास और फिर वह सदा मेरे साथ रहने के लिए आजाएगी। यह सब योजना उसके बालसुलभ मन को नई परिस्थितियों से परिचित कराने के लिए किया गया था। अचानक माँ को मैं उसके बारे में कैसे बता सकूँगा? वह भला अपने अविवाहित पुत्र की संतान को कैसे अंगीकार कर सकेंगी? माँ की प्रतिक्रिया सोच–सोचकर मैं मन–ही–मन भयभीत–सा हो रहा था। माँ से पुत्री को मिलाना और उसके साथ उनका भावनात्मक स्नेह संबंध बनाना अति आवश्यक था। अब माँ को यह सब कैसे बताऊँ?

उस दिन प्रात: मैं बिस्तर पर लेटा यही चिंता कर रहा था कि माँ मेरे शयन–कक्ष में चाय लेकर आ गईं। मैंने माँ को 'सुप्रभातम्' कहते हुए उठना चाहा किन्तु उन्होंने स्नेह से अपना हाथ मेरे मस्तक पर रखते हुए कहा, "लेटे रहो। रात भर अस्पताल में रोगियों की देखभाल करते–करते थक जाते हो। आज छुट्टी का दिन है, थोड़ा विश्राम कर लो।" माँ के स्नेहसिक्त स्पर्श से प्रेरित होकर मैने कहा – "माँ मैं बहुत दिनों से आपसे कुछ कहना चाहता था किन्तु विचलित हो जाता हूँ।"

"मेरा पुत्र! और विचलित, ऐसा नहीं हो सकता। मैंने तुम्हारा पोषण सत्य एवं निष्ठा तथा मानवता के अमूल्य सिद्धान्तों के साथ किया है। विचलित तो वे भीरू होते हैं जो जीवन की सच्चाइयों से डरते हैं।"

"वही तो माँ–––" मैंने स्वयं को संयत करते हुए कहा, "तुम्हारे इस अविवाहित पुत्र के चार वर्षीय पुत्री है।" कहते हुए मैं तकिये का सहारा लेकर उठ बैठा और होने वाले विस्फोट के लिए स्वयं का तैयार करने लगा।

माँ ने अपने कानों को दोनो हाथों से दबाते हुए सिर को तेज़ी से झटकते हुए तीव्र स्वर में कहा–

"नहीं–नहीं! ऐसा नहीं हो सकता! बिना विवाह के संतान? –– कब? कैसे? इतना अन्याय, इतना बड़ा धोखा! क्या प्रमाण है कि वह तुम्हारी ही पुत्री है? ऐसी हास्यप्रद बातें नहीं

करतें।" माँ उत्तेजना से अस्वस्थ हो उठीं, उनके रक्ताभ नेत्र और होठों के कोर पर आए कम्पन से लगा कि उनका रक्तचाप बढ़ गया है और अब वह अचेत हो जाएंगी।

"माँ—वह मेरी पुत्री है। मैं ही कर्ता हूँ, मैं ही कारण हूँ और मैं ही प्रमाण हूँ, मैं उसे स्वीकार कर चुका हूँ। अभी वह अपनी माँ के साथ रहती है किन्तु सप्ताहांत वह मेरे सान्निध्य में व्यतीत करती है। हमारा संबंध स्नेहमय और सुदृढ़ है। अब वह समय आ गया है जब वह मेरे साथ रहने सदा के लिए आ जाएगी।"

"ओह! क्यों? मेरे मूर्ख पुत्र, क्यों? ऐसी बातें कहीं ऐसे ही स्वीकार की जाती हैं! क्या तुमने डी.एन.ए. कराया? अभी तुम्हारी अवस्था ही क्या है? अवश्य ही किसी ने तुम्हें छला है। तुम अभी छात्र हो? तुम्हारा धर्म केवल शिक्षा ग्रहण करना है। तुम समर्थ भी नहीं हो। पत्नी और पुत्री का भार कैसे वहन करोगे? वह कौन है, अवश्य ही कोई धूर्त और चालाक बाज़ारू औरत होगी? जो मेरी विशाल सम्पत्ति के उत्तराधिकारी, एकमात्र पुत्र को अपने जाल में फंसाना चाहती है।"

"नहीं, माँ नहीं! वह संस्कारयुक्त, उच्चकोटि की महत्वाकांक्षी कलाकार है जो भारतीय संस्कृति एवं परिवेश का आदर करती है। उसकी जीवन–शैली में विवाह का स्थान केवल इसलिए नहीं है कि उसका कार्य जोख़िम से भरा हुआ है। उसे सदा देश–विदेश की यात्राएं करनी होती हैं। हम अभी कैशोर्य की दहलीज पर ही थे जब अनजाने ही, पल भर में, हम किसी दैविक संयोगवश स्नेहातुर हो वंशवृद्धि कर बैठे। कोई योजना नहीं थी। हम एक–दूसरे को जानते भी नहीं थे। पल भर का आकर्षण और उसका निमंत्रण—माँ, हम दोनों ही समान रूप से उत्तरदायी हैं। उसने जन्मदायिनी की समस्त शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा अकेले ही सही है और जन्म से अब तक पूर्ण मनोयोग से हमारी संतान का भरण–पोषण अपने ही दम पर करती रही है। मैंने उसे किसी तरह का कोई आर्थिक सहयोग भी नहीं दिया है। न्यायोचित यही है माँ, कि समर्थ होने के पश्चात् मैं अपनी संतान की शिक्षा–दीक्षा, संस्कार एवं भरण–पोषण का सम्पूर्ण दायित्व स्वीकार करूँ और माँ, मैं वचनबद्ध हूँ।"

"नहीं, नहीं, न तो तुम्हारा कोई दायित्व है, न ही तुम वचनबद्ध हो और भला उसके पास इसका कोई प्रमाण है कि वह तुम्हारी संतान है। संतान का पालन–पोषण, शिक्षा–दीक्षा सब कुछ माता का दायित्व होता है पिता का नहीं। वह अवश्य ही कोई अत्यंत तुच्छ श्रेणी की संस्कारविहीन महिला होगी जिसे अपनी संतान से प्रेम नहीं। उस व्यक्ति से प्रेम नहीं जिसकी संतान को उसने नौ मास तक गर्भ में रखा। विवाह भी नहीं कर सकती। केवल उसकी महत्वाकांक्षा के कारण तुम अपना जीवन होम करोगे? नहीं! नहीं! यह सब नहीं हो सकता। बच्चे को किसी अनाथालय में दे दो या उससे कहो उसे "फोस्टर पैरेन्ट्स" के पास रख दे। जो भी पैसा उसे चाहिए मैं देने को तैयार हूँ। इस तरह तो तुम्हारा जीवन नष्ट हो जाएगा। अवैध संतान के साथ भला तुमसे कौनसी लड़की विवाह करेगी? यह सब करने से पहले क्या तुमने कुछ सोचा नहीं था?"

"नहीं सोचा था माँ। वह बस एक क्षणिक, अतिसुखद दैविक संयोग था। कहीं कोई योजना नहीं थी। हम एक–दूसरे से परिचित भी नहीं थे, मैं आपसे पहले भी कह चुका हूँ। फिर विवाह में मेरी कोई रुचि नहीं है। मुझे अपनी संतान जो आपके ही रक्तबीज से पल्लवित हुई है, आपकी पौत्री के भविष्य एवं सुरक्षा की चिन्ता है। माँ मुझे आपका सहयोग एवं आशीर्वाद चाहिए।"

माँ के मन में उठ रहे झंझावात एवं असह्य पीड़ा को मैं समझ रहा था, किन्तु मैं उन्हें कोई आश्वासन नहीं दे सकता था। मेरी सहृदय, सुशिक्षित, विशालहृदया, विदुषी, समाज–सुधारक माँ अचानक कितनी बौनी हो गई थी। उनके सारे आदर्श कितने थोथे हो गए! वह अपने समाज के खोखलेपन से त्रसित थीं। मैंने अनजाने ही उन्हें उनके समाज में उपहास का पात्र बना दिया था। मैं विवश था। मेरी पुत्री जिसकी संरचना की सुखद घड़ी आज भी मेरे मन–मानस में असीम सुख का संचार करती है, मेरे जीवन में प्रथम स्थान रखती है।

आज मुझे महसूस हुआ, विवाह एवं अन्य सामाजिक मान्यताओं तथा परम्परा आदि पर मेरी और माँ की सोच में धरती और आकाश का–सा अंतर था। मेरा समाज माँ के समाज तक ही सीमित नहीं था वह बहुत विस्तृत था। उसमें इस प्रकार की स्वीकृति–अस्वीकृति व्यक्तिगत समस्या थी। मैं जिस समाज का अंग था उसमें किसी के व्यक्तिगत जीवन में समाज हस्तक्षेप नहीं करता है। मैं समाज से भयभीत नहीं था, किन्तु माँ समाज से भयभीत थी। माँ की भावनाओं का अनादर करना अथवा उन्हें पीड़ा देना मुझे मान्य नहीं था। मुझे माँ से असीम प्रेम था। किन्तु मेरी भी मज़बूरी थी, मैं मात्र वचनबद्ध ही नहीं था, मैं पिता था। जन्मदाता था। मेरी तरह, माँ की तरह, वह भी मानव थी, उसकी भी संवेदनाएं थीं, उसकी भी महत्वाकांक्षाएं थीं। मेरे जीवन को संवारने के लिए उसने अपने जीवन के अमूल्य पांच वर्ष की आहुति दी थी, जो माँ की समझ से परे था।

"माँ, आप समाज सुधारक हैं। बच्चों से आपको विशेष स्नेह है। आपने न जाने कितने अनाथ बच्चों के जीवन को दिशा दी है। आपसे एक विनती है। मात्र मानवता के नाते ही सही, आप अपनी पौत्री को स्वीकार कर, उसे अपना संरक्षण एवं ममता दीजिए। मैं आपकी पौत्री को अनाथ–आश्रम अथवा 'फोस्टर पैरेन्ट्स' को नहीं दे सकता। मैं उसका जन्मदाता हूँ। वह मेरी संतान है। मेरा रक्त है। आपका रक्त है।" माँ मूक, असहाय–सी केवल मुझे देखती रहीं। आँखों से आए आँसुओं को पीती हुई संयत स्वर में बोली "नहीं, यह नहीं हो सकता।"

"माँ, मेरी संतान मेरे साथ रहेगी। वह बच्ची है निर्दोष है, असमर्थ है। उसको संसार में मैं लाया हूँ। मैं ही वह वृक्ष हूँ जिसके बीज से वह पल्लवित हुई है। उसका कोई अपराध नहीं है। यदि कोई अपराध है तो मेरा है। आप मुझे दण्ड दीजिए। अपने स्नेह, ममता एवं संरक्षण से अपनी पौत्री को मत वंचित करिये।" मेरी विनती का माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल पथराई आँखों से मुझे देखती रहीं। फिर वह अपने शयन–कक्ष में चली गईं।

उस दिन के बाद माँ से मेरा कोई वार्तालाप नहीं हुआ। वातावरण बोझिल हो उठा। घर में मृत्यु का-सा भयावाह सन्नाटा छा गया। मैं किसी प्रकार कोई और समझौता करने की स्थिति में नहीं था। मैं वचन-बद्ध था। माँ किसी प्रकार सामान्य नहीं हो पा रही थीं। वह असहिष्णु एवं संवेदनहीन हो चली थीं। उनके सारे आदर्श जाने कहाँ खो गए? मैं उस सत्य को नहीं नकार सका, जिसका प्रमाण मैं स्वयं था। माँ ने मुझे न्याय करना सिखाया, मै कैसे अन्यायी बन जाऊँ? उन्होंने मुझे स्त्री-जाति के साथ सदियों से हुए अत्याचार से अवगत कराया। माँ के साथ मैं भी सती-प्रथा, तंदूर-कांड और दहेज के लिए जलाई गईं औरतों के दुर्भाग्य पर बचपन में उनके साथ रोया हूँ।

माँ के साथ वार्तालाप करने के मेरे सारे प्रयास विफल होते रहे।

अतः मैने दूरभाष पर उसे संपूर्ण स्थिति से अवगत कराया, सारी स्थिति को समझते हुए उसने कहा, "जीवन पुष्पपथ नहीं, अग्निपथ है। मौन धारण कर लेना ऐसी स्थिति में एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। कभी-कभी मौन से आत्मिक बल मिलता है। भारतीय क्या किसी भी परिवार में ऐसी स्थिति में शीत-युद्ध की ही स्थिति होगी। कुछ परिवारों में तो संबंध विच्छेद से लेकर आत्महत्या और रक्तपात तक हो जाता है। ऐसे में तुम्हें अपना आत्मबल बनाए रखना होगा।"

इस पखवारे मेरी पुत्री एक मास के लिए घर आ रही थी। मैंने माँ को जब अवगत किया तो उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। मैं मन-ही-मन चिंतित था, विकल था। सम्भवतः जीवन में पहली बार अपराधबोध की भावना से ग्रसित हुआ। मेरी संतान पहली बार पितामही से मिलने आ रही है। अनजाने ही कहीं उसके बालसुलभ मन में कोई गाँठ न बन जाए। मैं बहुत सावधान था। मेरी विशालहृदया, समाजसेविका माँ, स्नेह की प्रतिमूर्ति होते हुए भी एक ऐसे समाज की इकाई थीं जो केवल मानवता के गीत गाता है, आडम्बर करता है, किन्तु उसे जीवन में नहीं उतारता है। मैं जानता था, मैंने नहीं, माँ के समाज ने उन्हें दंशित किया था। हृदय की गहराइयों में वह मुझसे नहीं अपने समाज से रुष्ट थीं। फिर भी माँ की आँखों में उभरे लाल डोरे, माथे की फूली नसें मुझे अपराधबोध से डस रही थीं।

नियत समय पर वह पुत्री को लेकर घर आई। मैंने द्वार खोला माँ पास खड़ी थी उनकी गम्भीर मुखाकृति देख, वह संकुचित-सी पुत्री को मेरी गोद में देकर द्वार पर से ही लौट गई। माँ ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। उनकी तटस्थता पर मैं पुत्री को लेकर ऊपर अपने कमरे में चला आया। वह मेरे साथ खेलती रही। एक मास के लिए आई पुत्री को मैं रात होने से पूर्व ही उसे उसकी माँ के पास बुझे मन से छोड़ आया। कितना लाचार और विवश था मैं उस दिन। मेरी पुत्री वस्तुस्थिति की असमान्यता को समझ तो नहीं पा रही थी किन्तु महसूस कर रही थी। उसके पूछने पर मैंने उसे बताया पितामही की मानसिक स्थिति ठीक नहीं है, अतः उसे कुछ दिन और अपनी माता के साथ रहना होगा।

तीन–चार सप्ताह पश्चात् माँ एक दिन मेरे शयन–कक्ष में आईं और पास रखी कुर्सी पर बैठ गईं। 'सुप्रभातम्' कहकर मैं उनके पास पड़ी हुई दूसरी कुर्सी पर बैठ गया। चाय का प्याला मेरे हाथों में देते हुए वह भरे गले से बोलीं–

"पुत्र, तुम वयस्क हो चुके हो, अपने निर्णय स्वयं ले सकते हो। मेरी आवश्यकता तुम्हें नहीं है। मैं कल सुबह लौट जाऊंगी।"

"ओह! नहीं! नहीं, माँ आप यह कैसे कह सकती हैं, मेरे जीवन में केवल आप और मेरी पुत्री हैं, और कोई नहीं। मेरे रक्त–बीज से पल्लवित मेरी पुत्री आपकी पौत्री है वह आपके पुत्र की संतान है। ना तो मैं आपको छोड़ सकता हूँ और ना ही आपकी पौत्री को। आप मेरी जीवनदायिनी हैं और मैं आपकी पौत्री का जन्मदाता।"

"पुत्र, प्रयास करो, तुम अपनी संतान की जन्मदायिनी से विवाह कर लो और सुख से रहो।"

"नहीं, माँ यह नहीं हो सकता। आप जानती हैं, हमारा विवाह नहीं हो सकता है। मुझे और मेरी संतान को आपकी आवश्यकता है। आपकी पौत्री का जन्म एक दैविक संयोग है। उसकी माँ से अब मेरा कोई शारीरिक संबंध नहीं है। हम दोनों केवल कर्तव्यबोध से बंधे हैं। मेरे जीवन में विवाह का कोई औचित्य नहीं है। मेरी मात्र अभिलाषा आपकी छत्रछाया में रहकर अपनी संतान को सुरक्षित भविष्य देना है।"

माँ कुछ नहीं बोलीं, वह उत्तेजित भी नहीं हुईं। उन्होंने केवल मौन धारण कर लिया। मेरी पुत्री को उनका संरक्षण और वात्सल्य अभी तक नहीं मिला........" और वह युवक अपना वाक्य पूरा न कर सका।

विमान बुख़ारेस्ट पहुँच चुका था, मुझे अभी आगे भारत जाना था। उसने सोती हुई पुत्री को अत्यंत सावधानी से गोद में उठाते हुए कहा, "आपने जो वात्सल्य और ममता मेरी पुत्री को इस छोटी–सी मुलाकात में दी है वह मैं आजीवन नहीं भूलूंगा.........काश! हमारे समाज की मनोवृत्ति इतनी संकीर्ण न होती तो हम इतने असहिष्णु न होते और यह विश्व इतना भयाक्रांत न होता........आपके वात्सल्य, ममता तथा स्नेह ने मुझे आश्वस्ति दी है.....। अच्छा विदा! मेरी सहयात्री........" कहते हुए मुझे विचारमग्न छोड़ वह विमान–द्वार से बाहर प्रस्थान कर गया।

□□□

कहानी

बाँध

● प्रमोद सिन्हा

रसोई उनकी तिर्यक रेखा थी। चौंके के कर्मकाण्ड का उल्लघंन नहीं हो सकता था। जाड़े के दिनों में भी नल के नीचे सुबह–सुबह नहाकर ही सनेही अम्मा रसोई में जाती थीं। खाना बनाने में सनेही अम्मा को फींची हुई साड़ी पहननी पड़ती थी। पूरा खाना बनाते समय वे चौंके की तिर्यक रेखा से बाहर नहीं निकल पातीं। किसी को थाली देनी होती तो परोसकर धीरे से खिसका देतीं और वह चौंके की रेखा के बाहर आते ही अपनी ओर खींच लेता था, पर वह चौंके में बैठकर खा नहीं सकता था। केवल बाबा और दादी चौंके में बैठकर खाते, तब उनके साथ लड्डू गोपाल भी सिंहासन सहित विराजमान होते। उनको भोग लगाया जाता। वे दोनों जीमते उसके बाद पाबंदी अपने आप हट जाती और चौंके में सब कुछ सामान्य हो जाता।

प्रयाग विश्वविद्यालय से एडेल्फी और एडेल्फी से दारागंज होते हुए अकबर के किले से पूरे यमुना किनारे तक बाँध पसरा है, जिसे शहर को बाढ़ से बचाने के लिए बनाया गया था। इसके एक तरफ फूल–पौधे से रहित मकानों के जंगल हैं और दूसरी तरफ उतान लेटा गंगाजी का मीलों फैला हुआ कछार। बाढ़ आने पर कछार में लबालब पानी भर जाता है और पानी उतरने पर गेहूँ, सरसों और साग–सब्ज़ी की फसल हाथ–हाथ भर ऊपर लहराने लगती है। भरी जेठ की कड़कती धूप में बाँध से देखें तो सरसों के फूलों का समुद्र जैसे हवा में इठलाता रहता है। कोई भी इसे देख बस एक नज़र से तृप्त नहीं हो सकता।

बाँध पर ठीक बीचों–बीच एक ओर धूप–पानी से बचने के लिए एक रास्ते पर राहत छतरी है और दूसरी ओर आबादी की ओर उतरती हुई ढाल, प्रयाग स्टेशन से दारागंज जाने वाली बड़ी लाइन की रेल की पटरी भी बाँध के नीचे से ज़मीन से ऐसी चिपक के लेटी हुई है कि बिना उस पर चढ़े सामने अल्लापुर की ओर जाया ही नहीं जा सकता। इस पटरी पर

माघ मेले के दिनों में रेलों का आवागमन बढ़ जाता है। नहीं तो दिन भर में सुबह एक–दो रेलगाड़ियाँ ही इस पटरी से गुजरती हैं। फिर सारा दिन पटरियों पर कोई हलचल नहीं होती। सिगनल भी इसी तरह गर्दन उठाये बगटुट देखते रहते हैं। चरवाहे लाइन की बग़ल में गमछा बिछाकर लेटे रहते हैं, ऊंघते रहते हैं। खईनी खाते हैं या बीड़ी पीते रहते हैं और गाय–भैंसें गले में बंधी घंटी टुनटुनाते–टुनटुनाते लाइन के किनारे–किनारे चरती रहती हैं। कभी–कभी उनकी पीठ पर खुदबुद्दी चिरैया या कौए भी बैठ जाते हैं। सुबह से शाम तक बाँध के आसपास यही मस्ती का आलम रहता है।

इस बेजान बाँध का भी अपना एक नाम है 'बक्शी–बाँध'। इसे अकबर महान् के मीरबक्शी ने इलाहाबाद को गंगा की बाढ़ से बचाने के लिए बनवाया था। तब किसी ने सपने में भी न सोचा होगा कि चार सौ साल बाद इस बाँध पर उग आया खूब छतनार–सा यह पीपल का पेड़ जिन्दगी में कांटे से नत्थी कर दिया जाएगा और सनेही अम्मा के मरने के बाद उनका घंट भी यहीं टाँगा जाएगा।

सनेही अम्मा और राघोदास के हम चार बेटे और तीन बेटियाँ थे। सब के सब प्रयागराज में ही रचे बसे थे। मेरा नम्बर दूसरा था और एक मैं ही शर्मिन्दा था कि बहुत कोशिशों के बावजूद मुझे न ए.जी. आफिस में नौकरी मिली, न सम्मेलन या हिन्दुस्तानी अकादमी में। विश्वविद्यालय में एवज़ी व्यवस्था में नौकरी साल भर के लिए मिली भी तो आठ महीने में ही वह आदमी लौट आया और नौकरी ख़त्म हो गयी।

मैं फिर ठीये पर बैठने लगा था। जहाँ दोस्तों से दिन भर लम्बी बहसें होतीं। मेरी तरह के और लोग भी आ जाते और धमा–चौकड़ी, बहसें और अखबार में छपी खबरों पर ऐसी की तैसी की जाती। केन्द्र और राज्य के संबंध में चर्चा होती। महंगाई से लेकर लेस्बियन या समलैंगिक संबंधों पर भी समान भाव से बातचीत होती। फिल्म, सामाजिक विधान, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश कुछ छूटने नहीं पाता। बहस में सब पर समान भाव से तटस्थता बरकरार रहती।

आखिर ऊबकर मैं दिसावर के लिए भी आवेदन देने लगा था। कई इन्टरव्यू देने के बाद बाहर एक जगह से बुलावा आया तो मैं बहुत शर्मिन्दा था कि रोटी कमाने के लिए बाहर जाना पड़ेगा। सनेही अम्मा ने सुना तो कहा कि–"इ शहर का छोट पड़ता कि कमाये–खाये के बाहर जइब।"

सनेही अम्मा आरे की थीं और घर में भोजपुरी बोलती थीं। तब सनेही अम्मा के इस तरह कहने पर हम सब लोट–पोट हो गये थे, पर उनके न रहने पर इसके लिए मुझे कई–कई बार शर्मिन्दा होना पड़ता था। लड़की की शादी के बाद घर से विदा होना और आदमी का दिसावर जाना एक ही तरह का होता है। लौटने पर घर अपना नहीं लगता। दूसरे ही चस्के लग जाते हैं। थोड़े दिनों महानगर में रहने की भी यही बात है। यहाँ से लौटने पर हर बार वही बातें याद आती रहती हैं कि गांव घर में कमोड का पखाना नहीं होता।

हवादार खिड़कियाँ और तेज़ चलने वाली गाड़ियां नहीं होतीं, जीवन स्थिर होता है, वह तेज़ नही चलता। तब तक साइकिल, स्कूटर और बसों की यात्रा, पुराना कटरा बाजार और कनाट–प्लेस का फर्क समझ में आ जाता है। लिखने–पढ़ने वाला आदमी हुआ तो राष्ट्रीय अखबारों में छपने का चस्का भी लग जाता है। उन्हें इस दर्द का क्या पता कि महानगर में चाट खाने तक के लिए भी लम्बी लाइन लगानी पड़ती है, और आदमी का वजूद कपूर की तरह होता है। कोई पहचान ही नहीं बनती। दोस्त या रिश्तेदारों से भेंट मुलाकात तो दूर, ज़रूरी होने पर भी फोन ही बातचीत और सम्पर्क का माध्यम बनता है। आदमी विश्वास और आस्था के हाँ–ना के बीच पेंडुलम की तरह हिलता रहता है और ज़िन्दगी साफ हवा के अभाव में तेज़ी से छीजती रहती है। पर्यावरण की सड़ांध में आदमी तिल–तिल कर मरता रहता है।

हमने इस छीजन को खूब गहरे से महसूस किया है। दिसावर के संबंध में मैंने सनेही अम्मा का कहना तो नहीं माना। तब लीक से अलग चलने की बात घर कर गयी थी। पर अब पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि एकाध बात को छोड़कर हमने पाया कम और खोया ज्यादा है। लोग कहते कि छोटे शहर में होते तो ऐसे ही रह जाते। अब तो अच्छा खाते हो, अच्छा पहिरते हो। पर वे क्या जानें कि मैंने महानगर में रहकर क्या खोया और क्या पाया है। दो–दो बार के दिल के दौरों से मृत्यु से आमने–सामने से परिचित हुआ हूँ। लगातार तनाव भरे दिन और नींद रहित न जाने कितनी रातें इस बात की गवाह हैं कि–"इस शहर में हर शख़्स परेशान–सा क्यों हैं?"

कम वेतन में अपने शहर में एक जगह रहने पर भी भईया ने अवकाश लेने से पहले अल्लापुर में तीन तल्ले का मकान बनवा लिया। भाभी म्युनिसिपेल्टी के स्कूल में नौकरी पा गयीं। छोटा भाई इन्टर करके ओव्हरसीयर हो गया। छोटू भी बी.पी.एल. में नौकरी पा गया। अब वह औने–पौने बात करता है कि भईया अपने शहर में रिहाईश के लिए ज़मीन ले लो, नहीं तो अवकाश लेने पर बड़ा पछताना पड़ेगा। ज़मीन के भाव तेज़ी से बढ़ रहे हैं। खुद देख लो। शहर में ज़मीन तो है नहीं, गंगा पार जाना पड़ेगा। झूंसी हो या नैनी, वहाँ भी लूट मची हुई है। उनकी बातों में व्यंग और दिखावा होता है और ठसक भी।

दरअसल वे लोग ऐसी बातें तभी करते जबकि उन्हें रुतबा दिखाना होता और मिल्कियत की बात होती। शायद वे नहीं चाहते कि एक बार दिसावर जाने के बाद कमा खा के बचत के बाद भी कोई फिर आकर अपने शहर में बस जाए। कोई अपने बीवी–बच्चों से बात–बात पर ठोनहच खाता रहे तो अच्छी बात है?

मेरे वापस अपने शहर में अभी न लौट सकने की अपनी मज़बूरी थी। अभी तक मैं बसने के लिए शहर के बारे में निर्णय न ले सका था। अवकाश ग्रहण करने में भी अभी तीन साल थे। तो लगता है कि आखिर निर्णय के लिए जल्दी क्या है। अवकाश के बाद जी.पी.एफ., ग्रेचुएटी आदि का जब एकमुश्त पैसा मिलेगा तब इसके विषय में भी सोचा जाएगा, पर इसी दम सब कुछ तो तय नहीं किया जा सकता। आखिर दूसरे भी दबाव हैं।

एक काम पूरा करो दूसरा अधूरा रह जाता है। दूसरा चुस्त–दुरुस्त करो तो कुछ और माठा हो जाता है। पता नहीं वे कौनसे लोग होते हैं जो आगे–पीछे सब दुरुस्त रखते हैं और एक–एक क़दम बढ़ते जाते हैं।

अम्मा के न रहने पर यह एक और सच हो गया था कि उस पुराने शहर प्रयाग में अब किसके लिए लौटूँ। कौन है जो सबका दु:ख–सुख सुनेगा और किसी के साथ नाइन्साफी नहीं होने देगा। पत्नी–बच्चों को प्रयाग के प्रति कोई मोह नहीं था। बेटे–बेटी उस उदास और बुझे–बुझे–से शहर में कोई आकर्षण नहीं महसूस करते थे। न उन्हें वहाँ अपना कोई भविष्य नज़र आता था, न सेंसेशन और न सुगबुगाहट। वे कहते, बस चौड़ी सड़कें ऊँघते लोग। वे लोग तो प्रयाग में बसने की योजना से ही नरियाने लगते थे तो मुझे बुरा लगता और यह रिरियाना गैरमज़रुआ मुहावरा नहीं कहा जा सकता था।

सनेही अम्मा यही चाहती थीं कि सब भाई–बहिन एक ही शहर में रहें। एक–दूसरे के सु:ख–दुख में शरीक हों, एक–दूसरे के काम आयें। गाँव–जवार, घर–दुआर और ज़मीन ज़ायदाद को भी संभालें। तिनका–तिनका सुख बटोरें। पर यह उनका अपना नज़रिया था। छोटू कहता कि भईया इस पर फन काढ़े हैं तो दूसरा घर में कौन हिम्मत कर उस पर नज़र रखे। न फसल का हिसाब रखना न चुरुआ भर चना, चावल मिलना कि चिरिआं–चुरूंग को भी खिलाया जा सके। क्या मज़ाल कि इस पर कोई बोल जाए। जो करे सो भरे। लेकिन किसी को न करतब करने की विद्या आती थी और न भरने की ही। हम भाई–बहनों पर जब कभी कोई बात आती सनेही अम्मा चट्टान की तरह खड़ी हो जाती थी, तो सबसे कमज़ोर आदमी को भी बड़ी ताकत मिलती थी। पर इतने सब के बावजूद अम्मा छीजती गयी थीं और एक दिन डाक्टर ने बायप्सी के बाद उनके पेट दर्द के कारण को कैंसर घोषित कर दिया था, तो सबको ज़बर्दस्त झटका लगा था। पर यह सब उन्हें नहीं बताया गया था। उनसे कहा गया था कि पेट में पथरी है उसी का ऑपरेशन है। पर वह हँसती रहती जैसे जानकर भी अनजान बनी रहती थीं कि, 'ठीक हो जाइब नूँ।'......

ऑपरेशन तो हुआ वह पहले की तरह आश्वस्त नहीं थीं। उनका विश्वास दिनोंदिन भींगता गया था और एक दिन भींगते–भींगते माटी की दीवाल की तरह भरभराकर बैठ गया था। फिर बाबू राघोदास दस दिन तक बाँध के पीपल पर बँधे घट में रोज़ पानी देने के लिए जाते रहे और आखिरी दिन गोतिया–भाई ने उसी पीपल के नीचे सिर घुटवाया था। लखना नाई एक–एक कर उस्तरे से बाल उतारता जाता और फिर लोग मुंड़े खल्वाट पर कडुआ तेल में मिलाकर सिल्बट्टे पर पिसे हुए सरसों का पेस्ट मल रहे थे जिससे सिर को काफी सुकून मिला था। उसी ने बताया था कि यह ऐन्टीसेप्टिक है। इसका लगाना बड़ा ज़रूरी है जिससे इसका रिवाज़ ही बन गया था।

बाबू राघोदास आर्यसमाजी थे। कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं करते थे। पर उदास राघोदास ने कभी पंडित जी के बताये किसी कर्मकाण्ड का विरोध नहीं किया था। पंडित जी

ने जो–जो कहा राघोदास ने सो–सो किया था। ना–नुकूर नहीं की थी। बस पंडित जी के पीछे–पीछे चलते गये। जैसे उनके किसी भी बात पर सवालिया जुमला लगने पर सदा के लिए सो जाने पर भी सनेही अम्मा नाराज़ हो जायेंगी। उन्हें बुरा लगेगा, या उनकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलेगी या उन्हें दुःख होगा। बाबू राघोदास सबके सामने तो चुप रहते, पर अकेले में कलपते। बुढ़ापे में पत्नी ने साथ छोड़ा था। हंसों का जोड़ा बिछुड़ गया था। उनका रोआं–रोआं कलपता रहता था। वे चुप रहने लगे थे। प्रायः कमरे में रहते। मैंने उन्हें इन्हीं दिनों कई बार खिड़की से आसमान ताकते, शून्य में निहारते डबडबायी आँखों से ब्लैक–होल यानी सितारों के कब्रिस्तान में डूबते–उतरते देखा था। पर उनसे कुछ कहने की मेरी हिम्मत नहीं हो सकी थी। इससे उनका एकान्त टूटता। मैं इस क्षण को पकड़ना नहीं चाहता था। जैसे मेरे छूते ही उनका एकान्त या वह सब टूट–फूट कर बिखर जाएगा और इसे तोड़ने का पाप मुझे ही लगेगा। यह पाप की व्याख्या सनेही अम्मा ने ही सिखायी थी कि ऐसा कुछ भी जो किसी का नुकसान हो, जो किसी का दिल दुखे, जो तुम्हारा हक़ न हो या जो सबके सामने न कर सको, उसका करना या कहना पाप कहलाता है। कच्ची उम्र में उनकी कई सुनायी गयीं बातें मन में कहीं बहुत गहरे से धंस गयी थीं कि उसकी फाँक अब तक न निकली थी। कच्चे घड़े पर कुछ भी थापो एकदम उभरकर आयेगा और पकने पर तो वह कभी न छूट पायेगा। यही स्थिति रह गयी थी।

घर से निकलकर बाँध पर सनेही अम्मा के पीपल के पेड़ से जुड़ने की बात पर्यावरण कथा से कैसे जुड़ गयी थी, यह मैं अब तक नहीं समझ सका। मैंने उसे बस कर्मकाण्ड ही माना पर यह सब कभी कर्मफल और कभी चार्वाक की ओर मुझे बार–बार भ्रमित करता रहा। फिर भी बाँध अब मेरे लिए केवल बाँध नही रह गया था। न वह पीपल का छितनार पेड़, केवल पेड़। वह अम्मा से इस तरह जुड़ गया था कि मुझे अपना वजूद बार–बार याद दिलाता था। मैं जब भी दिल्ली से प्रयाग जाता तो घर के तीसरे मंजिल की मॉन्टी से ही बाँध के उस पीपल के पेड़ को अत्यन्त श्रद्धा से प्रणाम करता। मैं नहीं जानता कि यह प्रणाम पीपल के माध्यम से सनेही अम्मा तक पहुँचता भी या नहीं। पहले उस पीपल के पेड़ पर गिद्ध बैठते थे। उन गिद्धों ने बीट कर–करके पेड़ को लगभग ठूँस–सा कर दिया था। डालियाँ नंगी हो गयी थीं। पेड़ को काफी नुकसान पहुँचाया था। पर इस बात तो आश्यर्चचकित रह गया कि गिद्धों ने उस पेड़ पर बैठना ही बंद कर दिया था। और अब वह ठूंठ भी जो अब तक उदासी में कुछ अजीब–सा मुँह लटकाये रहता था हरेभरे छतनार पत्तों से भर गया था। वह फिर से लहराने लगा था। पतली–पतली डालें खड़ी हो गयी थीं और उनमें लालछैंही पत्तियां भी झाँकने लगी थीं। उसके फर को चिड़ियाँ–चुरंग टूँग–टूँग कर नीचे गिरा देते। नीचे ज़मीन पर उसकी चादर की एक परत–सी बिछी रहती जो कि बाँध पर से गुजरने वाले लोगों के पैरों से कचरकर कोलतार पर लाल छींट की तरह लगती थीं।

सनेही अम्मा को पान खाने का बड़ा शौक था। यह उन्होंने अपनी माई से सीखा था। बचपन में ही अम्मा जब पान लगाने बैठती थीं तो चटपट एक खिल्ली अपने लिए भी लगा लेती थीं। धीरे–धीरे उन्हें सादा पान नाबालिग़ लगने लगा। एक–एक पत्ती ज़र्दे का सिलसिला शुरू हो गया, जो कि बाद में बढ़ता ही गया था। उनका पानदान का घेरा भी दिनोंदिन बढ़ता गया। अब तो सनेही अम्मा की सख़्त ज़रूरत की चीजों में उनका पानदान भी शरीक हो गया था। इससे उनकी पहचान बनती थी। पानदान में सुगंधित घर का पकाया हुआ कत्था, चूना, सुपारी, पिपरमेंट और खुशबूदार ज़र्दे का ज़ख़ीरा होता। सनेही अम्मा जब पान लगाने के लिए पानदान खोलतीं तो ज़र्दे की खुशबू से बस मज़ा आ जाता। कभी–कभी एक सादे पान के लिए अम्मा की खुशामद करनी पड़ती। बहुत ना–नुकुर करने के बाद पान की एक छोटी–सी गिलौरी मिल जाती तो हम लोग खाकर घर में तराउपरी उम्र के दोस्तों के बीच ऐंठते रहते। सनेही अम्मा के जीवन में यों तो गिने–चुने शौक थे। पर उनके जीवन के कई संघर्ष थे जिससे उनको लगातार टकराना पड़ा था। दरअसल वे अपनी इन्हीं छोटी–छोटी समस्याओं से शुरू से ही जूझती रहीं। बाबा–दादी के अपने तौर–तरीके थे, जिससे दूसरा कोई कितना भी आहत हो पर उनके रोज़मर्रा में तिल भर भी फर्क़ नहीं पड़ने पाता। वे बातें पत्थर पर लकीर होती थीं।

रसोई उनकी तिर्यक रेखा थी। चौंके के कर्मकाण्ड का उल्लघंन नहीं हो सकता था। जाड़े के दिनों में भी नल के नीचे सुबह–सुबह नहाकर ही सनेही अम्मा रसोई में जाती थीं। खाना बनाने में सनेही अम्मा को फींची हुई साड़ी पहननी पड़ती थी। पूरा खाना बनाते समय वे चौंके की तिर्यक रेखा से बाहर नहीं निकल पातीं। किसी को थाली देनी होती तो परोस कर धीरे से खिसका देतीं और वह चौंके की रेखा के बाहर आते ही अपनी ओर खींच लेता था, पर वह चौंके में बैठकर खा नहीं सकता था। केवल बाबा और दादी चौंके में बैठकर खाते तब उनके साथ लड्डू गोपाल भी सिंहासन सहित विराजमान होते। उनको भोग लगाया जाता। वे दोनों जीमते उसके बाद पाबंदी अपने आप हट जाती और चौंके में सब कुछ सामान्य हो जाता।

सनेही अम्मा गोहरी और लकड़ी जलाती थीं। उसकी राख से ही बर्तन मांजा जाता कि बर्तन भी एकदम लकदक चकमते रहते। यह सारा काम सनेही अम्मा की दिनचर्या में शामिल था।

दादी बड़ी कठकरेजी थीं। जरा भी मन माफिक काम न होने पर सनेही अम्मा ही नहीं, बाबू राघोदास की भी ऐसी–की–तैसी कर देती। दादी को गठिया की वजह से घुटने में दर्द रहता। उनकी कमर झुक गयी थी। पर आवाज़ की खनक कम नहीं हुई थी। गुस्सा होती तो गजरती–बरसती। तब सनेही अम्मा क्या, बाबा या बाबू राघोदास की भी मज़ाल न थी कि कोई भी कुछ कहता। बाबू राघोदास की इतनी उमर हो जाने पर भी दादी उन्हें जिस आत्मीयता से 'बचवा' कहतीं तो वह बचवा ही हो जाते थे। सनेही अम्मा पर गुस्सा होने पर

बाबू राघोदस दादी से कुछ कह नहीं सकते थे। शायद उनकी नजरों में यह सास का हक़ था। सनेही अम्मा भी बोलती नहीं थी बस रो देतीं और ग़लत रुआब को भी सह लेतीं, जिससे मुझे बड़ी बेचैनी होती और अच्छा नहीं लगता था। पर कोई उनकी बात को दोदा नहीं सकता था। यही दादी जब बिस्तर पर पड़ीं तो सनेही अम्मा ने अपनी सास की बड़ी सेवा की। दिन–रात एक कर दिया। दादी अस्वस्थ होती जा रही थी। दिन पर दिन उनकी सेहत गिरती जा रही थी। यहाँ तक कि खटिया पर लेटे ही लेटे नित्य–कर्म करने लगीं तो भी सनेही अम्मा ने अपने सेवा भाव में जरा भी कोताही नहीं बरती। तब एक दिन बड़े विगलित मूड में दादी ने कहा कि "दुलहिन हम तोहरा के बड़ा दुख देली.....।" तो सनेही अम्मा की आँखें भर आयीं पर वे बोलीं कुछ नहीं थीं।

दादी की यह पहली और अंतिम स्वीकारोक्ति थी जिसे याद कर बाबू राघोदास सनेही अम्मा के न रहने पर भी कई बार रोये थे। अब तो सनेही अम्मा रही नहीं। बाबा भी नहीं रहे। दादी तो कब की जा चुकी थीं पर यह ऐसी फाँस थी कि जिसे बाबू राघोदास अपने कलेजे से नहीं निकाल सके थे कि वे कभी घर में अन्याय का प्रतिवाद नहीं कर सके थे। अब एकाकी जीवन की टकराहट उन्हें भारी पड़ रही थी और वे भीतर ही भीतर सिमटते–सिकुड़ते जा रहे थे। सिकुड़ने का अर्थ आत्मकेन्द्रित होना नहीं था, बल्कि वे कभी–कभी बाहरी चीज़ों से कुछ अजीब विरक्ति से भर जाते थे। यह बात उनके संदर्भ में एकदम आश्चर्य में डालने वाली थी। खाने–पीने के मामले में वे पूरी तरह से शाकाहारी बहुत पहले से ही हो गये थे। अब तो पहनने–ओढ़ने के मामले में भी उत्साह नहीं रह गया था, फिर भी परिवार के बच्चों का हाल–चाल पूछते रहते। कौन क्या लिख–पढ़ रहा है? किस–किसने क्या पास किया? किसने आवेदन किया, कौन चुना गया। किसकी शादी होने जा रही है। क्या तैयारियाँ हैं? इन बातों पर ज़ाहिरा तौर पर वे चाहे कुछ न कहें पर पूरी बातों को गुनते–सुनते रहना उनकी आदत बन गयी थी। वे हमेशा मुख्य धारा में रहे। अपनी उपेक्षा नहीं सह सकते थे।

वे अपनी सेहत के मामले में अभी भी सजग थे। जाड़े में एक गिलास दूध और च्यवनप्राश से उनकी सुबह की शुरुआत होती। पर उनमें एक बदलाव आता जा रहा था कि वे खाने–पीने के मामले में जितने पाबंद रहने लगे थे, उतनी ही अपनी रुचि के मामले में भी। वह कुछ चिड़चिड़े हो गये थे। किसी बात पर सुलह नहीं करते थे। कभी–कभी छोटी–छोटी बातों पर इतना तुनकते कि संभालना मुश्किल हो जाता। लगता कि सारा मामला हाथ से बेहाथ होता जा रहा है।

एक दिन ऐसा ही हुआ। बाबू राघोदास भईया से किसी बात पर गुस्सा थे। पानी बरस रहा था और वह छोटे बेटे के घर जाने के लिए एकदम तैयार बरामदे में अपने बक्से पर बैठे गुस्से में कह रहे थे, "अब हम तोहरा साथे ना रहब," "ना रहब"।

पूरा घर भर उनको घेरे खड़ा था। एकदम क्षमा–याचना के मूड में और वे थे कि किसी को भी तरज़ीह नहीं दे रहे थे। गुस्से से लाल–पीले हुए एकदम दुर्वासा बने हुए थे।

एक तो बुढ़ापे की कमजोरी, दूसरे इतना गुस्सा, तीसरे बरसात का न रुकना और भईया हाथ जोड़े खड़े थे कि—"काहे इतना गुस्सा करते हो। तबियत खराब हो जाई।"

पानी को न रुकना था न तब रुका और बाबूजी का गुस्सा बरकरार था। आखिर भईया के बार–बार मनाने पर काफी देर बाद बाबू राघोदास बच्चों की तरह मान गये थे।

बाबू राघोदास के गुस्से की वजह यह थी कि भाभी ने कमरे में झाडू लगाते समय उनका बक्सा बैठक से उठाकर स्टोर में रख दिया था। सफाई के बाद बाबू नहा–धोकर बैठक में आये तो उनका ध्यान एक कोने में स्टूल पर हमेशा रक्खे बक्से की ओर गया। पर बक्सा अपनी जगह से नदारद, और उसकी जगह फूलदान रक्खा था। बाबू राघोदास के बक्से की जगह कोई फूलदान ले ले यह उनको बर्दाश्त नहीं था।

यह फूलदान भईया लखनऊ से लाये थे और भाभी के हिसाब से अब तक इसके ठीक ढंग से रखने की जगह न मिल सकी थी। इसीलिए उन्होंने स्टूल पर टेबुल–क्लाथ बिछाकर उस पर फूलदान रखकर संतोष कर लिया था। पर बाबू राघोदास की चीज़ इधर से उधर हो जाए यह उनको भला कब बर्दाश्त होता। उन्होंने एक–दो बार बच्चों से बक्से के विषय में पूछा, बस उनका पारा गरम। भाभी–भईया को यह बात पांच मिनट देर से पता चली। जब तक उन्हें सही बात बतायी जाती, बात कहाँ से कहाँ पहुँच चुकी थी। बाबू राघोदास को न जाने कैसे लग चुका था कि वे इस घर के लिए फिजूल–सी चीज़ हैं। उन्होंने अपने को अपमानित महसूस कर लिया था।

बाबू राघोदास के लिए ही नहीं हम सब के लिए भाई मदन की आत्महत्या ज़िंदगी का सबसे बड़ा हादसा था। बड़े होने के कारण कभी–कभी यह कह भी बैठते थे कि यदि भईया चाहते तो यह हादसा रुक भी सकता था। पर मेरी समझ में यह आज तक नहीं आया कि आखिर भईया इस दुर्घटना को कैसे रोक सकते थे। या किसी दुर्घटना को रोक सकना या होनी को रोकना किसी के बस की बात होती है? बाबू राघोदास कुछ भी कहें पर सनेही अम्मा ने कभी भईया पर इल्ज़ाम नहीं लगाया था।

बाबू राघोदास को भईया से अपेक्षा कुछ ज्यादा थी क्योंकि वे उन्हें मानते भी सबसे अधिक थे। इसलिए थोड़ा भी मनमुताबिक़ काम न हो पाने पर रुष्ट भी सबसे ज़्यादा उन्हीं पर होते थे। ऐसा नहीं था कि भईया कुछ कहते न थे। उन्हें गुस्सा आता तो वह भी सुना दिया करते थे। चाहे बाद में उन्हें पछताना ही क्यों न पड़े। तब बाबू राघोदास चुपचाप सुन लेते। बड़े बेटे का लिहाज़ करते थे।

अम्मा के नहीं रहने से बाबू राघोदास की दिनचर्या एक खास ढंग से ढल गयी थी। अब वे दूसरों पर आश्रित नहीं रहना चाहते थे, न ही ऐसा दिखना चाहते थे। उनकी हमेशा कोशिश यही रहती कि यथासंभव वे अपना काम खुद कर लें, क्योंकि वे बखूबी इस बात को जानते थे कि उनकी छोटी–छोटी बातों के लिए बच्चों में से कोई इतना समय नहीं निकाल पायेगा, सिवा इसके कि समय पर खाना मिल जाए, चाय मिल जाए और बिस्तर लगा दिया

जाए। भईया की बहू अतुल बो बाबू की खूब देखभाल करती और उनके लिए खाने–पीने में समय की पाबंदी बरतती थीं। बाबू राघोदास बहू को बहुत मानते थे। खाने–पीने के बारे में अपने मन की बात उसी से किया करते थे कि चाय के साथ दालमोंठ खाना है, कि मटर की घुघरी। खाने में निमोंना खाना है कि कढ़ी भात या कि दाली में का दुलहा। वे चने के दिनों में होरहा खाना ज्यादा पसंद करते थे और दांत घिस जाने पर भी शाम के नास्ते में लाई चना उन्हें बहुत प्रिय था, चाहे उनको छोटे खरल में कूट–कूट करके ही क्यों न खाना पड़े। सनेही अम्मा थीं तो पूजा–पाठ का काम उन्हीं के ज़िम्मे था। पर उनके न रहने पर कभी–कभी जप में वे विष्णु–विष्णु करने लगते थे। विष्णु को वे ऐसे बुलाते जैसे वह उनका हरकारा हो और उसे केवल इसी तरह बुलाया जा सकता हो।

एक दिन सुबह जब मैं दफ़्तर जाने की तैयारी कर रहा था तो इलाहाबाद से बाबू राघोदास का ख़त आया। मैं थोड़ा उत्साहित हुआ था, पर देर हो रही थी इसलिए ख़त जेब में रख लिया। दफ़्तर पहुंच कर जेब से लिफाफा निकाला और उसे पढ़ना शुरू किया तो मैं कुछ भावुक हो गया। बाबू राघोदास ने लिखाया था कि "आकर देख जाओ। इस जनवरी में हम तिरानवे साल के हो जायेंगे और चौरानवे में पैर रखेंगे। हर साल तो हमारा जन्मदिन तुम्हारी सनेही अम्मा मनाती थीं। उनके न रहने पर इस साल हम अपना जन्मदिन खुद मनायेंगे।" यह हम सभी जानते थे कि सनेही अम्मा थीं तो आज के दिन पीताम्बरा देवी के मंदिर जातीं, प्रसाद चढ़ाया जाता और पंडितों को सीधा और गरीब–गुरबों को खाना खिलाया जाता। पर इन सब में जन्मदिन का नाम बार–बार दोहराया नहीं जाता। ऐसे हम लोग जब बड़े हुए तो बहुत दिनों बाद जाने कि घर में सनेही अम्मा अपनी शादी की वर्षगांठ भी मनाती थीं। उस दिन सत्यनारायण भगवान की कथा सुनी जाती थी। इन सब कामों में श्रद्धा सनेही अम्मा की अधिक, बाबू राघोदास की कम थी। यह सहज भाव से था। पर होता वही जो सनेही अम्मा चाहतीं। अब सनेही अम्मा के न रहने पर बाबू राघोदास अपना जन्मदिन खुद मना रहे थे। पर अब पहले का उत्साह नहीं रह गया था क्योंकि बाबू राघोदास ने इसे अपने से संबंधित अंतिम उत्सव मान लिया था।

बाबू राघोदास को ज्योतिष का भी ज्ञान था। उन्होंने कुंडली बनाना उसकी गणना करना बनारस में एक नेपाली पंडित से सीखा था। वे कहा करते थे कि यह साल हमारे बच्चों के लिए बहुत ही अच्छा है पर उनकी कुंडली से भी हमारे लिए भारी पड़ेगा। वे अक्सर अपनी कुंडली का बेठन खोल लिया करते और एकान्त में बैठे–बैठे चुपचाप कमानीदार चश्मा लगाये गणना करते, असंतुष्ट भी हो जाते, पर अब किसी को कुछ बताते नहीं थे। ऐसे कई बार उनकी बात एकदम सच उतरी थी। उन्होंने बहुत पहले ही बता दिया था कि अम्मा को उनके सामने ही मुक्ति मिलेगी। यही नहीं उन्होंने बहुत पहले कुंडली पढ़कर बाबा के विषय में, भईया या मेरे विषय में जो कुछ बताया था वह भी एक–एक कर अब तक अपने समय से धीरे–धीरे सच होता जा रहा था।

पर अब मुझे लगा कि अगर बाबू राघोदास उन्हीं बातों को इसी तरह लगातार दोहराते रहे तो मेरी आस्था थोड़ी डगमगाने लगेगी। यह उनका शुगल हो गया था। अब वे अपने मरने की बात बार–बार करने लगे थे। वे दिखाते कि वे जिन्दगी से ऊब चुके हैं, जो भोगना था भोग चुके हैं, अघा गये हैं। पर ऐसा था नहीं। वे जिन्दगी में अब भी उतना ही सराबोर थे, जितना पहले थे। बल्कि चिराग़ जैसे बुझने से पहले भभकता है, वही हालत थी। वे दालान में बैठे–बैठे कौन आ रहा है, कौन जा रहा है, सब सुनते रहते। उन्हीं के लिखवाये तंत्रों के माध्यम से छोटी–से–छोटी पारिवारिक बातें इतने बड़े परिवार में एक छोर से दूसरे छोर तक बेतार के तार के माध्यम–सी बेरोक–टोक पहुंचती रहतीं। उनके चश्मे के लेंस का नम्बर बढ़ गया था। ईयर फोन का इस्तेमाल बढ़ गया था और बढ़ गयी थी उनकी बेचैनी भी कि बच्चों को पकड़कर कैसे उनसे कुछ बातें जानी जायें।

बाबू राघोदास जैसे–जैसे बूढ़े होते जा रहे थे वैसे–वैसे अधिक संवेदनशील होते जा रहे थे। अब उन्हें जरा–जरा सी बातें लगने लगी थीं। वे हर बात की नोटिस लिये बिना नहीं रहते, जिससे कभी–कभी घर में समस्या पैदा हो जाती थी। अब सबको ऐसी बातों का पूरा–पूरा ख्याल रखना पड़ता था कि कहीं कोई ऐसी बात न हो जाए जिससे वे बुरा मान जाये और उन्हें मानसिक क्लेश पहुँचे।

पर इधर बाबू राघोदास में एक अज़ीब परिवर्तन आ गया था। वे कभी भईया, कभी छोटू, कभी मझले को बुलाकर बैठा लेते और उनका हाथ अपने हाथ में लेकर बड़ी अज़ीबोग़रीब बातें करने लगते कि "किरिया–करम रसूलाबाद गंगा किनारे ही करना, बिजली वाला दाह नहीं। सब कुछ चटपट खतम....। घंट बाँध वाले पीपल में ही बांधना।" वे यह भी बताते कि यह बाबा–दादी और सनेही अम्मा का घंट किस तरह और कब बांधा गया था। वे कहते कि गाँव से लपुसिया पंडित को बुलाना। करम में संस्कृत विद्यालय के बच्चों को जरूर न्योतना। फिर बोलते–बोलते साँस चढ़ जाती, वे हाँफने लगते पर कहते कि "मिल....जुलकर....रहना।" कभी उनके गले में कफ़ अटक जाता और कभी वे निढाल हो जाते थे तो बात अधूरी रह जाती....जिसे वे फिर–फिर पूरा करना चाहते थे।

जिस तरह से उनकी सेहत छीजती जा रही थी उससे उनके बहुत दिन चलने की गुंजाइश नहीं गयी थी। एक–एक दिन भारी हो रहा था। उनका खाना–पीना सोना धीरे–धीरे लगभग बंद–सा होने लगा था। बेचैनी बढ़ने लगी थी। मैं पहुँचा तो स्थिति अच्छी नहीं थी। उनको बोलने में परेशानी हो रही थी। अक्सर उन्हें हिचकी बंध जाती। वे बिस्तर पर लेटे रहते। आँखें छत की ओर देखती रहतीं।

घर में बाबू राघोदास अभी थे। उनका वजूद था। अब तक वे पूरे कुनबे के बुज़ुर्ग थे। सुरक्षा की गारंटी भी। घर–दुआर, उन्हीं का था। पर एक नयी बात यह थी कि इन्हें देखने आये घर–परिवार के लोगों में दबी जुबान से 'इनके बाद' की चर्चा भी उठकर खुले में आने लगी थी। धीरे–धीरे यह चर्चा ज़ोर पकड़ने लगी थी। टकराहट बढ़ने लगी थी। यह सब देख–सुनकर मैं दु:खी था।

एक दिन मैंने जो सुना उससे भी यह बातें मुझे अच्छी नहीं लगीं। मैं अनमने मन से ऊपर सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। तीसरी मंजिल मॉन्टी पर खड़े होकर देखता हूँ कि तेज़ हवा चल रही है। खूब धूल उड़ रही है। सामने बाँध पर के पीपल के पत्ते धूल के साथ उड़ रहे हैं। बाँध हवा के बेरहम झोंको से उजबुजा रहा है। हरी–भरी पत्तियाँ भी मूल पेड़ का साथ छोड़कर कहीं की कहीं उड़ी जा रही थीं।

मेरे लिए अब भी बाबू राघोदास हारिल की लकड़ी थे, घर–परिवार से जुड़े हुए। पर दु:ख इस बात का था कि घर का आसमान भी लाल हो गया था और तेज़ आँधी के आसार नज़र आने लगे थे। जाने कहाँ से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तरह ये गिद्ध उतर आये थे, डर था कि कहीं ये हरी–भरी पत्तियों वाले पीपल को ठूंठ न बना दें। सच तो यह था कि बाबू राघोदास खुद एक बाँध की तरह थे जिसके साये में पूरा परिवार अब तक किसी भी आपदा से सुरक्षित था।

मुझ में गहरी उदासी घर करने लगी थी कि बांध का पीपल, पर्यावरण ढोते–ढोते ठूंठ खोखल में न बदल जाये और लोग इसे कुल्हाड़ी से काट–काट कर न ले जायें कि किसी दिन मुसाफिर ही नही, खुद बांध को भी इसकी छाया तक नसीब न हो पाये।

□□□

कहानी

आख़री ख़त

● ओमप्रकाश अवस्थी

आज एक और चोटी जीत ली। जो आख़िरी बची है, वह बहुत आसान है। इस पहाड़ी से सटी है। उसे हर हालत में कल जीत लेंगे। यहाँ बाकी सब तो ठीक है पर एक बात बहुत खलती है कि साथी ऐसे बदल जाते हैं, जैसे कपड़े। कम से कम पचास साथी ऐसे होंगे जो कभी मेरे साथ थे पर आज नहीं हैं और अब वे हमारे साथ कभी नहीं रह पाएंगे।

और शाम होते–होते वे अपनी पत्नी की अन्त्येष्टि करके घर आ गये थे। दुःख की सीमा क्या है और उसका विस्तार कितना है, आज उन्हें पहली बार महसूस हुआ था। पत्नी वियोग अब एक सच्चाई का रूप लेता जा रहा था किन्तु वह वियोग अपने हक़ीक़ी अहसास के लिए अब भी संघर्ष कर रहा था क्योंकि उसे पूरी तरह मान पाने के लिए न मन तैयार था, न मस्तिष्क। वह चारपाई अब भी किसी को लिटाये होने का भ्रम पैदा कर रही थी जिस पर आज सुबह उनके प्राण निकले थे।

किसी ने कहा, समाचार के विशेष बुलेटिन ने बताया है कि एक और चोटी जीत ली गयी है जिसमें तेरह जवान शहीद हो गये। यह दुश्मन के कब्ज़े की अन्तिम चोटी थी। शिवानन्द जैसे तन्द्रा से जागे। पूछा, शहीदो के नाम तो नहीं बताये थे? इतना कहते कहते वे अन्दर तक काँप गये।

'नहीं, नाम तो नहीं बताया।' यह सुनकर उनकी कँपकपी धीरे–धीरे सामान्य होने लगी थी।

*　　　*　　　*

आज उनका बेटा अपने घर आने वाला था। एक शानदार गाड़ी पर लेटा, फूलों से लदा, गाजे–बाजे बैण्ड और तोपो के साथ। साथ में बहुत बड़ा तश्कर, ज़िले के तमाम हाकिम हुक्काम, फौज के बड़े–बड़े अफसर, कुछ मंत्री और कुछ संत्री। सबके सब उनके बेटे के साथ गाँव आने वाले थे। उसकी अगुवानी में शासन की गाड़ियाँ दो दिन पहले से ही चक्कर लगा रही थीं। तम्बू कनात और बैरीकेडिंग, सब हो चुकी थी। गाँव वाले अचरज में थे कि ये सब किसी गाँव वाले के लिए हो रहा है या उसके साथ आने वाले ओहदेदार लोगों के लिए। कुछ भी रहा हो पर गाँव और गाँव वाले इन घटनाओं से हतप्रभ और स्तब्ध थे।

सारा समाचार शिवानन्द को घर बैठे ही मिलता जा रहा था किंतु आँखें देखकर भी अंधी थी और कान सुनकर भी बहरे थे। इतना बड़ा समाचार मिल जाने के बाद अब सारे समाचार बौने हो गये थे। हफ्ते भर में दो–दो अन्त्येष्टि, कलेजा पत्थर न हो जाये तो क्या हो जाये। तब तक शिवानन्द की चौपाल के सामने एक बड़ी गाड़ी आकर चरमाराती हुई रुक गयी। वर्दी पहने एक रौबीला आदमी गाड़ी से उतरा, पीछे पीछे आठ–दस जवान। वे सब नज़दीक आ पहुँचे।

'शिवानन्द जी आप ही हैं?'

शिवानन्द का कलेजा धड़क उठा। उनके मुँह से बोल तक न निकल सके, बस सर हिला कर रह गये! उस अधिकारी ने उन्हें नमस्कार किया फिर बोला, 'शहीद सिपाही भानु प्रताप आने वाले हैं। मुझे जगह बता दें, जनता के दर्शन के लिए उन्हें कहाँ लिटाना चाहेंगे?'

शिवानन्द चुप थे और पथरायी निग़ाहों से उसे देखे जा रहे थे।

अधिकारी पुनः बोल पड़ा, 'बाबूजी प्लीज, समय बहुत कम है मुझे वह जगह बता दीजिए।'

इसके बावजूद भी शिवानन्द के बोल न निकल सके, हाँ, आँसू ज़रूर निकलने लगे और इस कदर टपकने लगे कि अधिकारी काँप गया।

एक जवान बोला, 'सर, मौके का मुआयना कर लें। फिर जो जगह ठीक लगे वही व्यवस्था कर दी जाये। ये बोल तो नहीं पाएंगे। इतना बड़ा सदमा.....'

और दरवाजे के सामने एक खुली जगह चुन ली गयी थी। ट्रक से बांस, लट्ठे–पटरे आदि उतरने लगे और देखते–देखते एक बहुत बड़े शमियाने के नीचे एक शानदार मंच बन गया था। इधर स्टेज के चारों ओर फूलों की झालर लटकायी जा रही थी, उधर वीडियो और फोटो वाले अपना–अपना मचान बनाने में लगे थे।

पहले पानी का छिड़काव हुआ फिर इत्र का और अपने ही घर में मेहमान बनकर आने वाले को देखने के लिए गाँव जवार तो क्या, दूर–दूर से लोग इस क़दर उमड़ आये थे कि कहीं तिल रखने की जगह नहीं थी।

और बाद के कुछ घंटों में वही सब हुआ जो होने वाला था। उस कार्यक्रम की अन्तिम मंजिल अब सामने थी। चन्दन की चिता पर भानुप्रताप को लिटाया जा चुका था। सबकी

निगाहें उन्हीं पर थीं, किन्तु आश्यर्य की बात यह थी कि वे सभी आँखें नम थीं, जाने उस विदाई के चलते या राष्ट्रप्रेम के चलते, अथवा दोनों के चलते।

जहाँ तक निग़ाह जाती थी, लोगों का सैलाब था। एक जुनून था मगर खामोश था और मातम में डूबा था तो लगा, जैसे बहादुर शहीद का परिवार अपने दायरे को तोड़ता हुआ दूर–दूर तक फैल गया है और उसने सारे मुल्क को अपनी सरहद में ले लिया है जिसमें माँ–बाप और भाई–बहन एक–दो नहीं, करोड़ों में होते हैं।

उस ग़मगीन माहौल में खुशी की बात बस एक ही थी कि लोगों के दिलों में दफन हो चुकी राष्ट्रीयता की भावना चुपके से अपनी कब्र से निकलकर बाहर झाँकने लगी थी, शायद उसी पर कुर्बान एक शहीद की चिता को देखने के लिए जो चिर निद्रा में सोया हुआ था।

ब्रिगेडियर ने शिवानन्द के कंधे पर हाथ रखकर थपथपाया और बोले–

'आप कितने भाग्यशाली हैं बाबूजी, आपका बेटा हँसते–हँसते देश के लिए शहीद हो गया! मेरी पचीस सालों की नौकरी है। काश, मुझे उस शहादत के आसपास भी आने का कभी मौका मिला होता। अब वक्त आ पहुँचा है कि आप अपने बेटे....बल्कि सारे देश के दुलारे बेटे को अन्तिम विदाई दे दो बाबूजी! ये भानुप्रताप के कुछ कागजात हैं, जो उनकी जेब में मिले थे। ये बैग है जिसमें शाल, टोपी और कुछ खिलौने वग़ैरह है, जो बैरक में मिला था। ये सब आप की अमानत और भानू की यादगार हैं। इन्हें आप ले लो बाबूजी। डायरी के इन पन्नों पर उन बर्फीली चोटियों पर नंगी चट्टानों के पीछे छुपकर उस बहादुर सिपाही ने जाने कैसे लिखा होगा। इसे पढ़कर यहाँ मौजूद हज़ारों लोगों को सुना दो बाबूजी। उस जाँबाज़ के लिए इससे अच्छी श्रद्धांजलि और क्या होगी!' इतना कहकर उन्होंने माइक शिवानन्द के सामने कर दिया।

शिवानन्द के मुँह से बोल न निकल सके किन्तु उनकी पथरायी निगाहों ने अपनी मूक भाषा में ब्रिगेडियर से शायद यही कहा था, इस विपत्ति में मेरे वश का कुछ भी न रहा। आपको जैसा समझ में आये, आप ही कर डालो।

और ब्रिगेडियर उन पन्नों को पढ़ने लगे थे।

इतवार : अम्माँ, आज इतवार है। लड़ाई इतनी आगे बढ़ चुकी है कि अब उसका रुकना नामुमकिन है। दुश्मन ने हम पर लड़ाई थोपी है तो हमने भी सोच लिया है कि इस बार उसे ऐसा सबक़ सिखाएंगे कि वह ज़िन्दगी भर याद रखे। अम्माँ, तुम अपना ख्याल रखना। शायद अगला इतवार आते–आते लड़ाई फतेह हो जाये। मैं तुम्हें रोज़ ख़त लिखूंगा और आख़री चोटी जीतते ही सबको एक लिफाफे में बन्द कर तुम्हारे पास भेज दूँगा। तुम्हें शिकायत रहती थी न, कि मैं छोटा–सा ख़त लिखता हूँ जिसमें तुम्हारे लिए बहुत कम रहता है तो इस बार के सारे ख़त तुम्हारे लिए ही होंगे। इतने सारे ख़त मिलकर तुम्हारा मन भर देंगे अम्माँ, तुम मेरी चिन्ता न करना।

सोमवार : अम्माँ, मैंने तुम्हें लिखा था कि जब तक आख़री चोटी न फतेह हो जाये, तुम मुझे ख़त न लिखना। मेरी इस बात पर तुम मुझसे कहीं गुस्सा तो नहीं हो गयी हो। मैं करता भी क्या? लड़ाई शुरू हो गयी थी मुठभेड़ें जारी थीं। देखने को दुश्मन, सुनने को दुश्मन। अर्जुन की तरह चिड़िया की आँख जैसा दुश्मन, जिसे बेधने के लिये बाकी सब कुछ देखना–सुनना छोड़ दिया है। ऐसे में, मैं तुम्हारी चिट्ठी को पढ़ता भी कैसे और न पढ़ने पर मन भी न मानता। तभी तो ऐसा लिख दिया था। कल इतवार था, मुझे याद भी न था, मेरे एक साथी ने बताया था। कल चोटी फतेह की थी, उसमें वह मेरे साथ था। आज नही है अम्माँ। वह मुझे छोड़ गया। उसकी जगह दूसरे ने ले ली है। मैं उसके लिए बंकर से पानी लाने गया था। तब तक एक गोला आ गिरा और वह उसी के साथ–साथ आसमान को चीरता हुआ प्यासा ही चला गया बेचारा। अम्माँ, तुम चिन्ता न करना, मैं जिंदा हूँ।

मंगलवार : अम्माँ, आज दूसरी चोटी की बारी है। साले घुसपैठियों को शर्म नहीं आयी, चोरों जैसे घुस आये मेरे घर में जैसे इनके बाप का घर हो। ये बुज़दिल बड़े कमीने हैं अम्माँ, कुत्ते हैं कुत्ते। कम्बख्त, गावों में धुस जाते हैं। लूटपाट तो करते ही हैं, जान भी ले लेते हैं, इतना ही नहीं, बहू–बेटियों तक को नहीं छोड़ते वहशी साले। बेकुसूर और मासूमों को मारकर कहते हैं, ये जेहाद है। हरामज़ादे, मज़हब की दुहाई देते हैं। कौनसा मज़हब ये सब करने को कहता है। कहाँ लिखा है, मुझे दिखावें। ये शैतान की औलादें, जिस मज़हब को मानते है। उसी पर कालिख़ पोतते हैं। इनके घर में घुसकर कोई यही सब इनके साथ करे तो पता लग जाये कि मज़हब कहता क्या है। जी चाहता है कि इनका मुँह नोच लें आँखें निकाल ले और इन्हें कच्चा चबा जायें। तुम मेरी चिन्ता न करना अम्माँ, मैं इन्हें दफना कर ही आऊँगा। मुझे बड़ा तेज़ गुस्सा आ गया है। इस बर्फीली हवा में भी मेरा खून खौला जा रहा है जब तक इन भेड़ियों का सफाया न् कर दूँगा, कसम इन चोटियों की, इन्हें छोड़कर लौटूँगा नहीं। अम्माँ, ये नँगे पहाड़, उन पर फैली दूध जैसी बरफ और सर उठाये खड़ी चोटियाँ, सब इतनी सुन्दर लगती हैं जैसी तुम।

बुधवार : अम्माँ, कल वाली चोटी पर दुश्मन पाँव जमाये है। ऊपर से आग के गोले बरसाता है लेकिन हम लोग भी कम नहीं। चट्टानों की आड़ में एक–एक इंच आगे बढ़ते हैं। आज रात भर चलेंगे तो कल सुबह होते–होते चोटी पर पहुँच जायेंगे। तब बाकी चोटियाँ हमारी रेंज में आ जायेंगी। तब हम खाल खीचेंगे उन हरामज़ादों की और उनके माँस के लौथड़ों को गेंद बनाकर जमी बरफ पर फेकेंगे तभी ये जलता कलेजा ठण्डा हो पायेगा। तुम चिन्ता न करना, यहाँ हम अकेले नहीं हैं। बहुत सारे नौजवान साथी हैं। लगता हैं, उन्हें भी तुमने ही पैदा किया हो। सबके सब मेरे सगे भाई लगते हैं अम्माँ।

बृहस्पतिवार : अम्माँ, आज दिन भर बहुत तगड़ी लड़ाई हुई है जिसमें तुम्हारे दस बेटे बर्फ में समा गये। जो सुबह हमारे साथ थे, अब नहीं हैं अम्माँ। तुमसे क्या छुपाऊं, मेरे आँसू थम नहीं रहे हैं। तुम मेरे पास होती तो मुझे सीने से लगाकर मेरे आँसू पोछ देती। मैं रो रहा

हूँ तो थोड़ा तुम भी रो लेना, वे मेरे भाई बेचारे....क्या कहूँ, जी चाहता है कि खुद अपनी जान निकालकर उनमें अपनी जान डाल दूँ, मगर, तुम्हारी कमस अम्माँ, एक–एक के बदले अगर सौ–सौ जानें न ले लूँ तो मुझे भानू कहना छोड़ देना। अम्माँ, मैं कितना खुशनसीब हूँ कि कह नहीं सकता। ये चोटियाँ शंकर जी का घर हैं, बिल्कुल शिवलिंग जैसी। उनका दर्शन ही बड़े भाग्य की चीज़ है, फिर उनकी खातिर मर मिटने में कितनी खुशी होगी। अम्माँ, अब कल लिखूँगा। अभी–अभी एक हुक्म आ गया है।

शुक्रवार : अम्माँ, चट्टानों की ओट में उन्हीं के सहारे रेंगते चलते एक जगह एक नुकीली चट्टान ने मेरी पीठ छील दी। पर तुम चिन्ता न करना, बहुत हल्की–सी छिली है। फिर यहाँ साथ में दवाइयाँ भी बहुत हैं। एक साथी ने उस पर मरहम लगाने को मेरी कमीज उठाई तो चौंक गया। बोला, 'ये क्या, यहाँ तो बहुत बड़ा और गहरा दाग है। क्या कभी जहर का फोड़ा हुआ था?' तो मैंने कहा, 'नहीं, मेरी एक छोटी बहन है सोनी। एक बार बचपन में मैं उसे गोद में लिये बगिया में आम बीनने गया था। वहाँ कहीं एक बन्दर छुपा था। उसने मुझे दौड़ाया, मैं डरकर भागा और औंधे मुंह गिर गया। गिरते–गिरते मैने अपने सोनी को छाप लिया था कि बन्दर उसे न काट पाये। और वही हुआ। वह बच गयी मगर बन्दर ने मेरी पीठ पर काट लिया था। अम्माँ, तुम्हें तो याद ही होगा, राधे चाचा ने मुझे बचाया था। वे उधर से गुजर रहे थे। दवा इतनी अच्छी है कि घाव एक दिन में सूख जायेगा। तुम चिंता न करना अम्माँ।

शनिवार : आज एक और चोटी जीत ली अम्माँ। जो आख़िरी बची है, वह बहुत आसान है इस पहाड़ी से सटी है। उसे हर हालत में कल जीत लेंगे। अम्माँ, यहाँ बाकी सब तो ठीक है पर एक बात बहुत खलती है कि साथी ऐसे बदल जाते हैं जैसे कपड़े। कम से कम पचास साथी ऐसे होंगे जो कभी मेरे साथ थे पर आज नहीं है और अब वे हमारे साथ कभी नहीं रह पाएंगे। उनके लिए दुख मनाना तो दूर, उनके बारे में अभी सोचने तक की फुर्सत नहीं हैं। मगर जब कभी फुर्सत होगी तो एक–एक कर वे सभी बहुत याद आएंगे। आज एक और चोटी जीत ली अम्माँ। जीने के साथी तो बहुत होते हैं। मगर वे सब मरने के साथी थे जो किस्मत में मुझसे भी धनी निकले, क्योंकि अब वे देश की फौज़ से निकलकर शंकर जी की फौज़ में शामिल हो गये हैं। वे सब मेरे दिल में बसे हैं। इस बार जब घर आऊँगा तो एक–एक के बारे में बताऊँगा, मुझे सब कुछ याद है। अम्माँ, खूब खाती–पीती रहना। मैं घर आऊँ तो तुझे मोटी–ताज़ी मिलना। पिताजी का ध्यान रखना और हाँ, सोनी से कहना, तुम्हारा भैया कुछ दिन में घर आने वाला है। उसके लिए खूब सारे खिलौने और ढेर–सी फ्राकें लायेगा। कुछ तो मैंने खरीद भी ली हैं। और हाँ, तुम्हारे लिये काश्मीरी शाल पहलगाम से मेंने पहले ही खरीद ली है, पिताजी के लिए फर वाली टोपी भी, सच अम्माँ, तुम्हें बहुत पसन्द आयेगी।

मैं लिखता हूँ अम्माँ, तो लगता है कि तुम काग़ज़ पर आ बैठी हो। हर अक्षर पर बैठी मुझे देख रही हो। इतनी याद तो मुझे पहले तुम कभी नहीं आयी अम्माँ। अरे देखो, एक बात तो तुम्हें बताना ही भूल गया। कल मैंने एक सपना देखा कि हम जिस चोटी पर हैं उससे भी बहुत ऊपर एक और चौटी है, बहुत ऊँची, सिलेटी रँग की जिस पर बीच–बीच में चाँदी–सी बर्फ चमकती है। उसी के शिखर पर तुम बैठी मुस्करा रही हो और इशारे से मुझे बुलाती हो। इतना बढ़िया सपना तो मैंने ज़िन्दगी में कभी देखा ही नहीं। इतना मज़ा आया कि तुमसे कह नहीं सकता। ज़िंदा रहा तो इन बर्फीली चोटियों पर कभी तुम्हें लाऊँगा ज़रूर अम्माँ।

आज सुबह मैंने जब उस ओर देखा तो वहाँ सपने जैसी कोई चोटी न थी। फिर भी वह चोटी मेरे मन में बस गयी है अम्माँ। वह मुझे हमेशा याद रहेगी! क्योंकि उसी के बहाने, मैंने इन निर्जन वादियों में साक्षात् तुमको देखा था। हो न हो, वह चोटी कैलाश की रही होगी। यह ख़त बहुत लम्बा हो गया है। अब यहाँ से कूच करने का वक़्त भी आ चुका है। कल इतवार को मैं भारत माता की आख़िरी चोटी पर पहुँच जाऊँगा और वहीं से अगला ख़त लिखूंगा अम्माँ।

इतवार : अम्माँ, तुमसे मिलने की मंजिल नज़दीक आते–आते अचानक बड़ी देर हो गयी है। मेरा पाँव चोटी के किनारे दुश्मन की बिछाई हुई एक बारूदी सुरंग पर पड़ गया। बड़ा तेज़ धमाका हुआ था, बस इतना ही याद है। जब आँख खुली तो खुद को इस खाई में पाया। दिमाग़ पर जोर डाला तो लगा कि ये आज ही की वारदात है और आज अभी इतवार है। अम्माँ, खाई बहुत गहरी है। आसपास तमाम खून बहकर थक्का जैसा बन गया है। जेब में डायरी का एक सादा पन्ना अब भी है। कुछ साफ दिखता नहीं तो यह सब अंदाज़ से लिख रहा हूँ। दुश्मन का कोई ख़तरा नहीं। लिखने के लिए पूरा मौका और आज़ादी है मगर ताक़त नहीं है। फिर भी जाने कैसे मैंने कलम पकड़ ली है, शायद तुम्हारी ममता के ज़ोर से लेटे–लेटे उसे चला रहा हूँ। सिर्फ एक हाथ को छोड़कर कोई अंग हिलता नहीं! शायद सारी हड्डियाँ टूटी ही नहीं, भुरभुरी हो गयी है।

पुतलियाँ ऊपर को टँग गयी तो तीन रंग के छोटे–छोटे बिन्दु चमक पड़े। बेशक, वह प्यारा तिरंगा है जो बहुत दूर चोटी पर लहरा रहा है। वह खूबसूरत अक्स आँखों की गहराई में समा गया है। खुशी से मन भर आया कि आख़िरी चोटी भी अपनी हुई। एक और ज़बर्दस्त खुशी खाई की गहराई तक उतरकर मुझसे लिपटने लगी है अम्माँ, क्योंकि सपने वाली सबसे ऊँची चोटी, जो कल अपनी जगह से नदारद थी, आज धुँधली–धुँधली–सी कई बार दिखी है जिसके शिखर पर मैंने तुम्हें भी बैठे देखा है। मैं एकटक उसे देखता हूँ तो वह आँख–मिचौनी करने लगती है, कभी दिखती तो कभी छुप जाती है।

अम्माँ, अब जीते जी मेरे लौटने की आशा तुम त्याग देना क्योंकि लगता नहीं कि अब मैं ज़िंदा बच पाऊँगा। गले में काँटा लग रहा है.... आँखों के आगे अंधेरा बढ़ता जा रहा है।

सांस भी उखड़ रही है। लगता हे, कोई बहुत तेज रोशनी अचानक मुझे अपनी ओर खींचती है।

अगर किस्मत से ये ख़त तुम्हारे पास तक पहुंच जायें तो इन्हीं को अपना बेटा मान लेना। सच माँ, ये पन्ने ही तुम्हारा भानू है, इनकी इबारत ही तुम्हारा मुन्ना है। जब कभी तुम्हें मेरी याद कुछ ज़्यादा सताने लगे तो तुम मुझे इन्ही हरफों में ढूंढ़ लेना, मैं तुम्हें वहीं कहीं मिल जाऊँगा।

देखो, अम्माँ, मेरे लिए रोना मत। मैं उस तिरंगे के लिए मरूंगा, उस माता के लिए मरूंगा जो करोड़ों की माता है। कोई उसे कुछ दे न दे, वह अपने बेटों से कभी कुछ नहीं माँगती। सब माताओं की वही तो माता है जिसे लोग प्यार से भारत माता कहते हैं। मैंने सोचा भी नहीं था कि डेढ़ साल की नौकरी में मेरी इतनी बड़ी तरक्की हो जायेगी। अब तो उंगलियां भी साथ छोड़ रही हैं अम्माँ, तुम पिताजी और मेरी सोनी का ख्या....

इसके बाद का काग़ज़ सादा था और कोई पन्ना भी नहीं बचा था।

ब्रिगेडियर की आँखें टपक रही थीं। वे रोते हुए बोले–

'इतवार को आख़िरी चोटी जीतते–जीतते वह हमेशा के लिए अपनी ज़िन्दगी जीत गया था। वह तो अमर है। न वह मर सकता है, न उसे कोई मार सकता है।' और वे ख़त उन्होंने शिवानन्द के हवाले कर दिये थे।

चिता भी तैयार थी और मशाल भी, बस अग्नि देने की देर थी। बैण्ड वाले सांस रोके, उसी घड़ी का इन्तजार कर रहे थे, तोपें भी उसकी सलामी को बेताब थीं। तब तक शिवानन्द ने जेब से एक काग़ज़ निकाला और ब्रिगेडियर को देते हुए बोले–'ये भी पढ़ डालिये, मेरे लाल के ख़त का जवाब है।' और वे उसे पढ़ने लगे थे।

'मेरा भानू, मेरा बच्चा, मेरा मुन्ना, तूने तो अपने ख़त में लिख दिया था कि अम्माँ, अभी खत न लिखना, तो मैं तुझे कैसे ख़त लिखती। मगर क्या करूं, एक मज़बूरी आ पड़ी, तभी सोनी से तेरे लिए ख़त लिखवाने लगी। इधर एक महीने से में कुछ बीमार थी। मैंने सोचा, बीमार तो जाने कितनी बार हुई हूँ तो एक बार और सही। वह तो आती–जाती माया है। मगर, तेरे पिताजी जानें, कि मुझे क्या हुआ है, वे तो मुझे कुछ बताते नहीं। हाँ, सोनी आकर मुझसे लिपट गयी और फूट–फूटकर रोने लगी। मैंने पूछा, "तुझे क्या हुआ मेरी गुड़िया, तू रोने क्यों लगी?" तो वह बोली, 'कुछ नहीं अम्माँ। मुझे कुछ हो जाता तो ठीक था। तुम खाओगी क्या? तुम्हारा मन क्या है? तुम्हारी इच्छा क्या है?' तो मैंने कहा, मुझे भूख नहीं, वह तो एक महीने से मेरा साथ छोड़े है। पर ये तो बता, तू ऐसा पूछ क्यों रही है? तो उसने सिसकते हुए कहा, अम्माँ, डाक्टर कह रहे हैं कि तुम अब कुछ देर की मेह....आगे वह बोल न पायी और फूट–फूटकर रोने लगी। मैंने ढाढ़स बधाया, चुमकारा, पुचकारा, मगर मुन्ना, मैं सकते में आ गयी। मेरे भगवान! तुम्हें क्या हो गया है? एक–आध महीने में मेरा बेटा आने

वाला है। उसके लिए मेरा जीना बहुत ज़रूरी है। मैं उसे ख़त भी नहीं डाल पायी हूँ। मुझे नहीं देखेगा तो कितना रोएगा, कितना तड़पेगा मेरा बच्चा। कुछ देर तक तो मैं बड़ी सोच में पड़ गयी फिर अचानक एक बात सूझी और बोल पड़ी 'मेरी मुनिया जरा दौड़कर मेरे लिए काग़ज़ कलम तो ले आ, मैं अपने मुन्ना को ख़त लिखूंगी। तो वह बोली, अम्माँ, तुम लिख नहीं पाओगी, धीरे–धीरे बोल दो, मैं लिख दूंगी। और सच में, उसकी बात सही थी। मेरे उठाए न मेरा हाथ उठा न पाँव। और तो और, मैं हिल तक नहीं सकी। सो ये चिट्ठी तेरे लिए लिखवा रही हूँ। मेरी बच्ची, ज़रा साफ–साफ लिखना कि मेरे लाल को पढ़ने में दिक्कत न आये। जो मैं बोलती हूँ, वही लिखना, शाबाश मेरी बिटिया! हाँ तो अब तू लिख कि मेरा बेटा घर आने पर अगर मुझे न पाये तो रोना मत। वह इस ख़त को ही अपनी अम्माँ मान लेगा। और मेरे मुन्ना, तू मेरे लिए दुखी न होना, तुझे तो मुझसे भी बड़ी अम्माँ मिल गयी है। सच, वे चोटियाँ, वे पहाड़ और पहाड़ों का देश, तो सबकी अम्माँ हैं। उसी माटी की खातिर जब तू लड़ रहा है बहादुर, फिर तुझे मेरे लिए मन में रंज लाने की क्या ज़रूरत! मैं न भी रहूंगी, तो भी रहूंगी, हमेशा तेरे पास रहूंगी मेरे बच्चे!

मुझे याद है, जब तू बचपने में स्कूल से आता था तो अपना बस्ता फेंक पहले मुझसे लिपट जाता और मेरा दूध अपने मुँह में डाल लेता था। बड़े होने तक तू ऐसा ही करता आया था बेटे। मैं मना करती तो भी तू न मानता तब मैं ठिल्ली लेती कि तेरी शादी कर दूंगी मुन्ना। लुगाई के सामने मेरा दूध पियेगा तो तेरी नाक कटेगी। इसलिए अपनी आदत सुधार ले। मेरी इस ठिठोली पर तू दुखी हो जाता तो मुझे तुझ पर बड़ी दया आ जाती और मैं तुझे सीने से चिपटा लेती थी।

आज वही याद कर–करके तड़पती हूँ कि अब वह सब सपना हो जायेगा। बहू का मुंह अब कहां देख पाऊंगी। मेरे साथ–साथ ये अरमान भी मेरी चिता में स्वाहा हो जायेगा। अब तो बस यही सूझता है कि एक बार तुझे सीने से और लगा पाती तो जीवन धन्य हो जाता मगर क्या कहूँ किस्मत को और क्या कहूं भगवान को, नहीं–नहीं, तौबा–तौबा, मैं भगवान को कुछ नहीं कहती। वे जो भी करते हैं, अच्छा ही करते हैं। हम नासमझ लोग भला उनकी माया को क्या समझ पायेंगे।

अच्छा, तो बस करती हूँ मुन्ना। अब तू मुझसे तो नहीं, मेरे ख़त से ही मिल पायेगा बेटे। मैं जानती हूँ कि मुझे न पाकर तू रोयेगा बहुत, पर..... अरे सोनी, ये क्या! तू रोने क्यों लगी बेटी। तेरे आँसुओं से ख़त की लिखावट धुल जायेगी बेटा। हाँ, सच कहती हूँ तू बेटी नहीं मेरा बेटा है। कितना सुन्दर ख़त लिखती है। अभी मैं तुझे चिपकाती हूँ, पहले ज़रा अपने पिताजी को तो बुला ले। मैं उनसे कह दूँ कि इस ख़त को बड़ी हिफाज़त से रखना और जब मेरा बेटा वापस घर को लौटे तो उसे यह ख़त देना कभी न भूलना। देख सोनी, तेरे पिता......

इसके बाद का काग़ज़ सादा था। उसकी लिखावट उस लड़की के आसुंओं से धुल कर जगह–जगह बदरंग हो गयी थी जो अपने भाई की चिता के पास पिता शिवानन्द से सटी खामोश खड़ी थी।

*　　　*　　　*

माँ बेटे की ज़िन्दगी के बीच पूरी एक पीढी का फासला होता है जो सिकुड़ता हुआ एक बिन्दु पर जा मिला था। बीता इतवार दोनों के महाप्रयाण का गवाह बन चुका था। बस, शहीद बेटे की रह गयी अन्त्येष्टि को इस इतवार ने पूरा कर दिखाया था। ये ख़त दानों की ज़िन्दगी के आख़िरी ख़त थे जो लिखे तो गये थे, मगर भेजे न जा सके थे। वे ख़त अपनी–अपनी मंजिलों तक पहुंचे तो, मगर पाने वालों की मौत के बाद।

बुरी तरह टूटे हुए शिवानन्द में अचानक जाने कहाँ से अदम्य साहस का संचार हो आया। उन्होंने जलती मशाल पकड़ी और चिता से लगाते हुए बोले–

'एक दूसरे से माँ–बेटे भी मिल गये और उनके ख़त भी। पर मैं तो अकेला रह गया। अब मुझे न पत्नी विछोह का कोई दुख है, न पुत्र विछोह का। अफसोस है तो यही कि या तो में खुद ज़वान होता या फिर मेरे एक बेटा और होता। उसे फौज़ में भर्ती करवा देता तो वह अपने भाई की मौत का बदला ज़रूर चुका लेता। खैर, मेरे कोई बेटा न रहा तो क्या हुआ, भारत माता के तो करोड़ों बेटे हैं। कोई न कोई मेरे बच्चे की मौत का बदला चुका कर रहेगा।'

और चिता धू–धू कर जलने लगी थी।

□□□

कहानी

लाखा पातुर

• नर्मदा प्रसाद गुप्त

लाखा को लगा था कि जैसे महामात्य ने अधबनी दीवार की ओट से एक अग्निबान छोड़ दिया हो। उसने तड़पकर कहा था–'अपने महामात्य से कहो कि लाखा राजनर्तकी नहीं है और देवराज राजसेवक का पद त्याग चुके हैं। वे महाराज से भेंट कर लें।'

फागुन की बौराई हवा उसे तीर जैसी लगी। उसे ताज्जुब था कि घर की मोटी–मोटी दीवारों और देह की अभेद्य परतों को भेदकर वह इतने भीतर तक कैसे धंस गई। जब से वह महोबा आया था सब कुछ छोड़कर, तब से कमरे में बंद रहता था और अपने चारों तरफ कई तरह के कवचों को ओढ़कर एक कोने में दुबका रहता था। लोगों ने बहुत कोशिश की कि वे अपने नगर में इतने नामवर चित्रकार का सम्मान करें, पर वह उनके सामने तक न निकला। लेकिन आज तक अज़ीब किस्म की फगुनाहट उसके मन में समा गई थी और वह पतली मसलिन की धोती और रेशमी कुरते में बाहर निकल पड़ा था।

मदनसागर के दूसरे छोर पर खड़े खखरामठ की तरफ एक रहस्यमय सुनसान–सा छाया रहता है, जिसे दुलारने वाला कोई विरला ही वहाँ पहुँच पाता है। शायद इसलिए या रोक–टोक से बचने के लिए उसने वही ज़गह चुनी थी। घुटनों तक पानी की खामोशी चीरकर उसे ऐसा लगा, जैसे वह अपने अंदर जमे सूनेपन को काट रहा हो। टोकरी जैसे बने पत्थर के मंदिर को देखकर उसे एक खास तरह की तृप्ति हुई थी और एक अरसे से भितराई बेचैनी कुछ–कुछ जुड़ा गई थी। इधर–उधर बिखरे पत्थरों पर नाप–तौल कर कदम रखता हुआ वह मंदिर के द्वार पर जा पहुँचा था। अंदर तक नज़र डालकर फुसफुसाया था–'अरे देवता की मूर्ति ही नहीं, तो मंदिर किस काम का!'

बाहर आकर सोचने लगा कि उसकी देह का मंदिर भी छूँछा है। उसकी मूर्ति जब से ग़ायब हुई है, तब से वह भी खण्डहर हो गया है। क्या मंदिर का कलाकार मूर्ति नहीं गढ़

सका? ऐसी नहीं हो सकता। उसने तो सब कुछ लाकर अपने मन की मूर्ति सँवारी होगी, पर उसे किसी ने तोड़ा होगा या उसका अपहरण....।

'अपहरण नहीं, ऐसा नहीं है..।' मंदिर के कोने से एक मूर्तिकार बड़बड़ाया था। अपना सिर पकड़कर बैठ गया था वह, हाथ की छेनी को एक तरफ फेंककर। आसपास पड़ी थी, छोटी–बड़ी नुकीली छेनियाँ, हथौड़े को चिढ़ाती हुईं।

'क्या बात है देवराज, बोलते क्यो नहीं? क्या हो गया है तुम्हें? नहीं बताओगे..?' मंजीरे की खनक से एक सुरीली आवाज गूंज उठी थी और देवराज ने अपनी पीड़ को छिपाकर खुशी के बनावटी लहज़े में कहा था—'कुछ नहीं लाखा, तुम्हारे पद की इतनी हाल फूल थी कि छेनी गिर–गिर पड़ती थी। मन नहीं लगता था। कितने दिनों में देखा है तुम्हें। तुम कहाँ थी अभी तक?'

'देवराज तुम्हीं ने तो लछिया से लाखा बना दिया और तुम्हीं पूछते हो कि कहाँ रहीं? याद है, तुमने कहा था कि तपस्या करो–साधना करो अपर्णा की तरह। तभी तो कुछ बन सकती हो, तुम्हारी प्रेरणा से आज राजनर्तकी हूँ, लाखा हूँ, लाखा पातुर। मेरी साधना में कुछ कमी रह गई है देव?' लाखा के मन में अभी भी जिज्ञासा थी, उस विद्यार्थी की तरह जो ज्ञान की कक्षायें पार करता हुआ भी प्यासा बना रहता है।

'नहीं–नहीं, मुझे पूरा संतोष है। मैं कितना प्रसन्न हूँ, कितना ....। तुम राजनर्तकी... लाखा.... सबसे ऊँचाई पर.... सबसे ....। मेरी आत्मा फूली नहीं समाती। बैठो लाखा। वहाँ, उस पीठिका पर।' देवराज ने दूर से ही इशारा किया था और लाखा ने रोष से लाल होकर कहा था—'क्यों क्या मैं इतनी पराई हो गई? इससे अच्छा था कि मैं लछिया की लछिया बनी रहती।' लाखा ने अपनी ओढ़नी का कोना आंखों से लगा लिया था और मंदिर की अधबनी परिक्रमा से टिक गई थी। इस बीच उसे अपने पुराने दिनों को टटोलने की गुंजाइश मिल गई थी।

एक गांव की युवती लछिया। माता–पिता, भाई–बहिन कोई नहीं। स्वांग की नचनारी, गांव–गांव जाकर नाचती और किसी तरह पेट भरती। एक बार चंदेल की राजधानी महोत्सव नगर में बसंतोत्सव की प्रतियोगिता और उसमें नृत्य का प्रदर्शन। विजय की सफलता, फिर देवराज का सहारा। अपने पड़ोस में रखकर नृत्य की शिक्षा दिलाई। कई प्रतियोगिताओं में नृत्य। विजय पर विजय। देवराज की प्रेरणा और संबल। राजनर्तकी मृगा से होड़ और अंत में राजनर्तकी का पद। एक लाख द्रम्म देकर नृत्य करने से बनी 'लाखा पातुर।'

इस तरह से लछिया से लाखा तक की यात्रा का फासला उसने क्षण भर में नाप लिया था, पर दोनों को तराजू के पलड़ों में रखकर तौलने में उसे काफ़ी देर लगी। कभी लछिया के मुक्त अल्हड़पन और मस्ती का उल्लास भारी हो जाता और कभी लाखा के बंधे चरणों की थिरकन का यश। दोनों के बीच डंडी की तरह ऊपर नीचे जाती लाखा यह तय न कर सकी कि कौन ज़्यादा कीमती है, लछिया या लाखा।

दुविधा में फँसी लाखा को देवराज ने ऐसे देखा, जैसे अपने शब्दभेदी बाण से बिधी हरिणी को कोई अभिशप्त दशरथ। सारी पीड़ा को पीकर कहा था... 'लाखा तुम रो रही हो। मेरी मंशा यह नहीं कि तुम लछिया बनी रहो। तुम लाखा से भी इतनी ऊँची बनो कि कला में तुम्हारी बरोबरी कोई न कर सके। अब जाओ लाखा, तुम्हारा यहाँ आना उचित नहीं। राजनर्तकी की अपनी मर्यादा है और अपने नियम। कोई देख लेगा, जाओ।'

लाखा चुपचाप आंसू बहाती चली गई और आंसूओं का यह सैलाब चित्रकार की आंखों में कुलबुलाने लगा था। उसने देखा था कि लाखा की जगह उसकी सावित्री खड़ी है। उसकी तरफ एकटक घूरती हुई आंखों का हल्का–सा काजल ज़्यादा गहरा गया है और उससे लाल डोरे झांकने लगे हैं। लिपस्टिक की गुलाबी परत कुछ गीली होकर शब्दों को भिगोने लगी है–'इतना बड़ा सम्मान पाकर भी रो रहे हो बासू? क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा। क्या मुख्यमंत्री द्वारा बीस हजार रुपए की धनराशि और उससे भी कीमती सम्मान तुम्हें रास नहीं आया? आख़िर क्या बात है?'

कुछ भी तो नहीं सावित्री, ये तो मेरी खुशी के आँसू हैं। तुमने कितना श्रम किया, दिन–रात एक कर दिया और वो अजित नहीं आए, उन्हें तो मुझे आभार चुकाना था....'

'तुम क्या चुकाओगे बासू, तुम्हारे खज़ाने में तो केवल आँसू हैं।'

'हाँ, सावित्री। अब और क्या बचा है। जो है, वह भी दे दूँगा।'

'किसे?'

'जिसे तुम कहोगी।'

'तो क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे चित्रों की प्रदर्शनी लगवाकर तुम्हें पुरस्कार दिलाकर मैंने कोई ग़लती की है। आज तक तुम्हारे चित्रों को पूछा किसी ने? एक अजित था, जिसने तारीफ की और अकादमी के नागर से कहकर प्रदर्शनी लगवा दी। उसी के ज़ोर लगाने से पुरस्कार मिल गया। फिर भी तुम्हें संतोष नहीं। ऊपर से ताना कसते हो।' सावित्री का आवेग और बढ़ता, पर वासुदेव ने जल्दी ही पीछे हटने की तैयारी कर ली थी–'तुम ज़रा–सी बात पर चिड़चिड़ा जाती हो। मैंने कब कहा था कि मुझे कोई पुरस्कार या सम्मान चाहिए। फिर तुमने जब जैसा कहा, वैसा किया। तुमने जितना मेरे लिए किया, क्या उसका भी एहसान जताऊँ? तुम तो मेरे भले के लिए इतनी परेशान रहीं, पर मैंने तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं सोचा। आज सोचा, तो रोना आ गया।'

सावित्री ठंडी पड़ गई थी और उसे ग़लत समझने पर पछताने लगी थी। लेकिन शक दूर करने के लिए उसने पूछ ही लिया–'क्यों?'

वासुदेव ने भी ठंडेपन से जवाब दिया–'आज तक मैंने तुम्हारे बारे में कोई चिंता नहीं की, पुरुष की ज़िम्मेदारी से दूर रहा, इसी सोच में डूबता–उतरता रहा और अब....।'

'अभी से सही, कल से मैं कहीं न जाऊँगी।' उसने पौरुष को चुनौती–सी दी थी, इसीलिए वासुदेव का अहं जाग उठा था–'ठीक है, औरत को अपनी मर्यादा समझनी चाहिए।'

छोटा–सा उत्तर उसके दबे मन से फूट पड़ा था। वह जानता था कि सावित्री ने अकेले ही घर का भार सँभाला है, इस वज़ह से वह अपने को एक आज़ाद परिन्दा समझती रही है। सबेरे से कॉलेज जाना और दोपहर के बाद इधर–उधर घूमना। पहले तो उसने उसे भी ले जाना चाहा था, पर उसने बेकार समय खोने से चित्र बनाना बेहतर समझा था। फिर क्लबों, गोष्ठियों और बैठकों में जाने से क्या होता है। सब नए चोचले हैं। उसे याद है कि एक बार सावित्री का भाषण होना था और उसे ज़बरन जाना पड़ा था। शहर के खास–खास लोग थे उनके बीच वह अज़नबी था। जब सावित्री ने परिचय कराया, तब ज्यादातर लोगों ने उसके भाग्य को सराहा था। सावित्री की खूब तारीफ हुई थी और अभी आए युवक जिलाधीश अजित ने तो उसे नगर की गरिमा से अभिषिक्त किया था। तभी से अजित उसके घर कई बार मेहमान हो चुका था। कहाँ ज़िले का मालिक और कहाँ वह। उसकी आवभगत उसे भी करना पड़ती थी। मज़बूरी–सी बन गई थी। लेकिन नफ़रत भी होने लगी थी। आख़िर सब कुछ उसने ही तो पाला था। न सावित्री नौकरी करती और न यह दिन देखना पड़ता।

एक दिन अजित ने उसके चित्रों को ग़ौर से देखा और प्रशंसा शुरू हुई। नये–नये लोग आने लगे। कभी कोई अध्यक्ष और कभी कोई अधिकारी। प्रशंसा में एतराज़ की क्या बात! सावित्री को भी पहचान की एक धुरी मिल गई थी और उस पर हर दिन कोई न कोई पहिया घूमने को आ जाता। बहरहाल, गति बढ़ती रही और पुरस्कार का पड़ाव जल्दी आ गया।

पड़ाव तो कई आए थे उसकी शादी का, फिर नौकरी का। एक स्कूल में ड्राइंग मास्टर बना था वह। कुछ दिन रहा एक देहात में। पर सावित्री का मन वहाँ कैसे रमता। उसने शहर में ही जमा लिया, एक अच्छे कॉलेज में और उसे नौकरी छोड़कर आना पड़ा। सारे पड़ाव एक ही रास्ते में बनते गए। अब न जाने कौनसा पड़ाव बाकी है?

एक लिज़लिज़ा कसैलापन अन्दर तक घुल गया था, जिसे तालाब की चंचल लहरें और सामने से आती तेज़ सुगंधें भी दूर न कर सकीं। आख़िर वह एकदम खड़ा हो गया, कुछ बदलाव तो हो। धीमे–धीमे चल पड़ा किनारे–किनारे। सामने ऊँचाई पर था लाखा पातुर के प्रासाद का खण्डहर। खण्डहर की एक अलग आत्मा होती है। जब उभरती है, तब पूरे सम्मोहन के साथ जादू–सा फैलाती हुई। लोग कहते हैं कि इस वीरानी में आज भी नूपुरों की झनकार सुनाई पड़ती है। शायद वासुदेव ने भी उस समय कुछ ऐसा ही महसूस किया था, क्योंकि वह अपना गणित लगाता हुआ उसके बीचों–बीच खड़ा हो गया था। धीरे–धीरे फुसफुसाया था–'यही था नृत्य कक्ष।'

अचानक नृत्य कक्ष से एक सुरीली ध्वनि उसे कानों में गूँज गई। उसे लगा कि नीला लहँगा और पीला लुँगरा पहने वही लाखा नृत्य कर रही है। सामने की पीठिकाओं में महामात्य पुरुषोत्तम और अमात्य माहिलदेव बैठे हैं। दोनो ठगे–से। अंगों की दीप्ति और कलात्मक भंगिमाओं में बँधे हुए। रूप और कला की अनोखी होड़।

महामात्य ने रस में डूबकर कहा—'लाखा, कितना अद्‌भुत और भावमय। तुम्हारी स्मृति सदैव नई रहेगी। क्यों राजा....?'

माहिलदेव ने समर्थन में कहा—'लाखा तुम्हारी कोई उपमा नहीं। कल महामात्य की हवेली में मदनोत्सव है, रात को रथ आएगा।'

लाखा अनसुना कर वस्त्र बदलने जाने को थी कि देवराज आ गया। माहिलदेव की आँखें तन गई—'बिना किसी सूचना के तुम कैसे मूर्तिकार? जानते नहीं कि यह राजनर्तकी का निजी कक्ष है।'

देवराज ने विनम्रता से क्षमा माँगी और उलटे पाँव लौट पड़ा। आँगन, पौर, उद्यान और राजपथ। एक ही साँस में। लाखा उसके पीछे दौड़ी। बाहरी द्वार के पास उत्तरीय पकड़कर बोली—'देवराज, एक क्षण तो रुकें....।'

'नहीं। लाखा, नहीं देवी, मेरी चूक थी। तुम लौट जाओ, राजा और महामात्य बाट जोहते होंगे। मुझसे अनर्थ...' देवराज ने हड़बड़ाकर उत्तर दिया, लेकिन लाखा ने नहीं छोड़ा—'तुम्हें नहीं। जाने दूँगी। मैं इस घर की स्वामिनी हूँ, दासी नहीं।'

'स्वामिनी, मैं कला की स्वामिनी से मिलने आया था, द्रम्मों की दासी से नहीं। कला की ऊँचाई क्या द्रम्मों से नापी जाती है, द्रम्मों की खनक और नूपुरों की रुनुक में कोई बरोबरी नहीं। जो रंजन और स्वर्ण के लिए अपनी कला बेचता है, उससे मेरा कोई संबंध नहीं।'

'देवराज, तुम जानते हो कि राजनर्तकी के चारों ओर पत्थर की मोटी–मोटी प्राचीरें हैं, जिनमें वह बंदी बनाकर रखी जाती है। उसका भी मन होता है कि वह खुले में नाचे, पर उसके पाँव मर्यादा की रस्सियों से जकड़े रहते हैं। वे तभी खुलते हैं, जब कोई राजा या सामंत द्रम्मों की बोली लगाए। जब बोली ही लगना है, तो लाखों की लगे। न कोई लाख देगा, न लाखा नाचेगी।'

'तो क्या नाचना छोड़ देगी? फिर राजनर्तकी की देह का बोझ ढोती रहेगी। आत्मा तो मर ही जाएगी। लोक से दूर रहकर कलाकार जीवित नहीं रह सकता। इस विवाद को छोड़ो, मुझे जाने दो।'

'पत्थरों में प्राण डालने वाले शिल्पी, क्या मुझे जीवन नहीं दे सकते?' लाखा फफक–फफक कर रो उठी थी।

देवराज ने जाते–जाते चेतावनी–सी दी थी—'लाखा, पत्थर तो निर्दोष होते है, उन्हें चाहे जैसा गढ़ लो।'

'तो क्या मैं पापिन हूँ?' लाखा ने चीखकर सिर पकड़ लिया था। राजा और महामात्य ने तेज़ी से आकर स्थिति संभाल ली थी, लेकिन देवराज पहले ही जा चुका था।

वासुदेव सब कुछ देखकर असंतुलित–सा हो गया था। ठीक उसी तरह जिस तरह वह सावित्री को नशे में बेसुध–सा पाकर। उस दिन आधी रात तक वह इंतजार करता रहा था,

लेकिन सावित्री नहीं लौटी। खोज की तैयारी में ही था कि जीप का हॉर्न गूँजा। ड्राइवर उसका हाथ पकड़ पूरी तरह सँभाले आया था और धीरे से बोला था—'साहब, ज़्यादा पी गई हैं, और कोई बात नहीं।'

उसने सावित्री के चेहरे पर एक खिसियानी निग़ाह डाली थी और उपेक्षा के हाथों उसका शरीर पलंग पर डाल दिया था। शयनकक्ष से वह जा रहा था कि सावित्री बड़बड़ाई थी—'अजित...अजित...मैं...तुम' और वह चुपचाप खड़ा हो गया था, शायद इन शब्दों का अर्थ ठीक से समझने के लिए। लेकिन दो घंटे तक इंतजार करने के बाद भी कुछ नतीज़ा न निकला। उसके अंदर एक भट्टी धुँआने लगी थी, जिसकी आँच से उसका शरीर झुलस रहा था।

वासुदेव ने उस जलन को खण्डहर के सूनेपन में भी महसूस किया और घर लौटने के बजाय सरोवर के बीच में रंगशाला के टीले की तरफ चढ़ चला। किनारे से रंगशाला तक का रास्ता कुछ उखड़ा—सा है। कहीं पत्थर बेतरतीब से पड़े हैं और कहीं पानी की सँकरी गहरी धारा फैल गई है। जरा भी चूके कि निगलने को तैयार। किंतु वह रत्ती भर चिंता न करते हुए सब कुछ लाँघ गया था, पीछे दौड़ती आग से बचने के लिए।

रंगशाला के दूसरी ओर पड़े पत्थर के विशाल हाथी पर बैठने से भी जब उसे शांति नहीं मिली, तब उसने अपने दोनों पैर ठंडी जलराशि में भीगने को छोड़ दिए। थोड़ी देर तक एक बर्फीला संवेदन—जैसे गरम तवे पर बर्फ की ढेली रख दी हो। चेतना की सुलगी—सी चिनगारी कुछ—कुछ ठण्डी हो गई और उसे ध्यान आया कि देवराज का अधबना—सा खखरामठ फिर सामने खड़ा है।

छेनी—हथौड़े की आवाज़ें उसके कानों को भेद गईं। क्या देवराज पत्थर गढ़ने में लीन है ? ऐसा कैसे हो सकता है ? लाखा से निराश होकर पत्थर में चित्र उकेरना। कभी नहीं। शायद चंदेलनरेश परमर्दिदेव का कड़ा आदेश हो, कुछ सैनिक भी छिपे—से खड़े हैं। अरे, लाखा तो देवराज के पास खड़ी है। मिठास—सी घोलती हुई—'देवराज....देवराज'।

शिल्पी ने नज़रें घुमाईं—'लाखा तुम क्यों आई यहाँ ? क्या मुझे बंदीगृह में डालने का षड्यंत्र है? तुम जानती नहीं कि राजनर्तकी... 'राजनर्तकी.... लाखा... अब मैं कुछ नहीं, देवराज, केवल तुम्हारी वही लछिया हूँ। मुझे क्षमा कर दो देव।' लाखा रोती हुई उसके चरणों में गिर पड़ी।

देवराज ने चकित होकर देखा, फिर उसे उठाकर अपने हृदय से लगा दिया। आँसू पोंछकर बोला—'लाखा, पगली, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। तुम मेरे मन से दूर कभी नहीं रही। और न रहोगी।'

लाखा आश्वस्त—सी होकर देवराज से और अधिक सट गई थी। समर्पण की अभोगी अनुभूति जैसे रस में डूबने को आतुर हो। देवराज के भीतर का ज्वार भी उठा था, पर चारों तरफ सैनिकों की बाड़—सी पाकर ठहर गया था। उसने पूछा था—'क्या है?'

दुर्गपाल ने प्रकट होकर कहा—'राजनर्तकी को अपमानित करने के अपराध में आपको बंदी बनाने का आदेश है।'

लाखा को लगा था कि जैसे महामात्य ने अधबनी दीवार की ओट से एक अग्निबान छोड़ दिया हो। उसने तड़पकर कहा था—'अपने महामात्य से कहो कि लाखा राजनर्तकी नहीं है और देवराज राजसेवक का पद त्याग चुके हैं। वे महाराज से भेंट कर लें।'

'मुझे तो आदेश का पालन करना है, देवी।' दुर्गपाल विनय से झुका जा रहा था। उसकी निश्छलता में बँधकर लाखा का स्वर धीमा हो गया था—'हम चल रहे हैं दुर्गपाल।'

'पर देवी को कष्ट देने का अपराधी नहीं बनूँगा, देवराज ही कृपा करें।' दुर्गपाल की इस उक्ति में लाखा को किसी गुप्त षडयंत्र की गंध मालूम हुई और उसने निर्णय—सा सुनाते हुए कहा—'दुर्गपाल, देवराज के अपराध का कारण मैं हूँ, मैं भी चलूँगी। बंदी रहेंगे या मुक्त, पर दोनों साथ—साथ।'

खखरामठ की सीढ़ियों से उतरकर दुर्गपाल, लाखा और देवराज और सैनिक वासुदेव को ले जाते हुए सजीव से हो उठे थे और उन्हें वह तब तक देखता रहा, जब तक वे ओझल न हो गए। फिर अचानक उसे सावित्री के अधकहे शब्द सुनाई दिए—'अजित... अजित... मैं... तुम...।'

उसे याद है एक—एक शब्द उसे विष के घूँट की तरह गुटकना पड़ा था। अपने चित्रों का यही पुरस्कार ? एक मायावी मारीच—सा हर चित्र में पैठ गया था, उसे गुमराह करने के लिए। उसने सभी चित्र एक—एक झटके से फाड़ डाले। दीवारों में सजे फ्रेमों को धरती पर चूर—चूर कर दिया। तूलिकाएँ तोड़ डालीं और रंग बिखेर दिए। कलाकक्ष में होली का हुड़दंग—सा मचा था और जाने क्या होता, यदि सावित्री की मदमत्त निद्रा न टूटती। उसने अधखुली आंखों से सब कुछ देखा और पति का हाथ पकड़कर बोली, 'बासू, तुमने सब नष्ट कर दिया। अपनी ज़िन्दगी भर की कमाई स्वाहा कर दी। क्या हो गया है तुम्हें ?'

'सावित्री... तुम... दूर रहो... पुरस्कार का नशा.... हाहाहा.....' वासुदेव अट्टहास कर उठा। सावित्री भोंचक्की—सी देखती रही। वह फिर गरजा—'उस चुड़ैल ने मुझे खूब नचाया, खूब। आदमी से भूत बना दिया। तुमने देखा है उस चुड़ैल को?' सावित्री की तरफ इशारा करते हुए—'वह तुम हो... तुम... चुड़ैल...' एकदम रो पड़ा—'तुमने एक आदमी को मार डाला. ... आदमी... मैं आदमी नहीं रहा... आदमी की तस्वीर भर हूँ.... सिर्फ तस्वीर।' उसने अपने बाल नोच डाले। 'तुम भी सावित्री नहीं हो। सावित्री मर गई। उसकी तस्वीर बच रही... अपनी खुद की हत्या कर ली....।' वह रो—रोकर कुछ न कुछ बड़बड़ाता रहा, बहुत देर तक।

सावित्री मौका पाकर चली गई थी, शायद अजित को फोन करने। उसने अंदाज़ लगा लिया था कि अजित तुरंत आएगा और उसे पागल क़रार देगा। उसने अपने कपड़े बदले, तैयार होकर बैठ गया, सोच में उलझा हुआ। क्या करे, कहाँ जाए? घर तो छोड़ना ही है। आखिर कैसे सहे इतना बोझ? अपनी आँखों के सामने अपनी अस्मत बिक गई और बेचने

में मिला यह पुरस्कार। क्या सब बाहर जीते हैं, भीतर मर चुके हैं ? सब कुछ दिखावटी, सब ऊपर से नये–नये लबादे पहने हुए।

चिंता की इस मुद्रा में वह उठा और दरवाजे की तरफ बढ़ा ही था कि अजित के साथ सावित्री आती दिखी। पीछे थे दो सिपाही। तुरंत लौटकर सौफे पर बैठ गया। जैसे ही अजित ने प्रवेश किया, वह फुसफुसाया–'आ गया मारीच.... सोने का हिरन.... और रावन....।'

अजित ने विनय दिखलाकर पूछा–'कैसे हो कलाकार ?'

'ठीक हूँ। सावित्री मुझे पागल समझ रही है, इसलिए आपको बुलाने गई थी। नहीं तो, आपने बड़े सबेरे कैसे तकलीफ की ?' वह पूरे होश में था। अजित ने समझ लिया कि सावित्री को ग़लतफहमी हुई है। फिर पति–पत्नी के इस झगड़े में उलझना ठीक नहीं। उठते हुए कहा–'टूर से लौटा था, चला आया। अब चलता हूँ, बहुत थका हूँ।' अजित के जाते ही उसने सावित्री से केवल इतना कहा था–'सावित्री, मैं जा रहा हूँ। न जाने कब लौटूँ, अजित तुम्हारी देखरेख करेगा ही।' और वह अचानक उठकर चल दिया था। जब तक सावित्री सँभलकर दौड़े, वह ग़ायब हो गया था।

तब से कितने बसंत चले गए, पीले पत्तों की तरह झरते–से। आज ही बसंत की आहट पहचान में आई थी कि लाखा ने फिर छेड़ दिया। उसने इधर–उधर झाँका और किसी को नज़दीक न देखकर पत्थरों से पूछा–'बोलो, लाखा पातुर कहाँ गई....?'

□□□

अनिर्वाण

● मौसमी कंदली
(अनु: दिनकर कुमार)

कुछ क्षण आते हैं—जो विचित्र आवेदन और रहस्यमयता से सराबोर होते हैं। क्षणों की अभिव्यक्ति या मर्म समझा नहीं जा सकता। फिर भी कुछ जैसे समझा जाता है, मगर जो समझा जाता है वह भी अज्ञेय होता है। शब्दों में उसे बांधकर नहीं रखा जा सकता। इसी तरह समझ में आने वाले—न आने वाले क्षण की दुर्बोध्यता को एक चमक की तरह एक दिन देखा था उनके चेहरे पर।

He shall be like tree
planted by the rivers of water
That brings forth its fruit in its season
whose leaf also shall not wither
And whatever he does shall prosper.

— Bible

झर—झर करती हुई मूसलाधार बारिश हो रही है। हवा की तेज़ सरसराहट के बीच बिजली कड़कने पर नाशपातियां चमक उठती हैं। अंधेरी रात बिजली कड़कने पर चमकने वाली नाशपतियां—जैसे कुंवारी लड़की के स्तन—सद्यप्रस्फुटित, हरे...। रात की गहराई को झिंगुर या जंगली झिल्ली की एक चीख़ ने वांग्मय बना दिया है और एक अनिवर्चनीय भाव अंकुरित हुआ है, काफी प्राचीन और चिरंतन, हिमशीतल और लोमहर्षक मृत्यु की तरह।

कितनी देर तक बारिश की आवाज़ सुनती हुई बुत बनी हुई थी, बता नहीं सकती। आधी नींद, आधा जागरण या विस्मृति की अतल गहराई में जैसे डूब रही हूं और एक आवाज़–अत्यंत दर्दभरी और व्याकुल वह आवाज़–दूर से हाथ फैलाकर पुकारती ले जा रही है।

अमया अपार एई भव संसार
मोह मायार परम आकर ....

शाम में आंगन में बैठकर वह अक्सर गाते हैं। साफ–सुथरा आंगन। खजूर के पत्ते चांद को क्षतविक्षत करते नजर आते हैं। मान कच्चू के पौधों के बीच कुछ जुगनू उड़ते–फिरते हैं। केले के पत्ते पर बूंद–बूंद ओस। तुलसी के नीचे टिमटिमाता हुआ एक दीया और तेज़ हवा में हिलते–डुलते रहते हैं गहरे गुलाबी रंग के गोधूलिगोपाल के फूल। और ऐसे समय में खोई हुई नज़रों से दूर देखते हुए रवीन्द्रनाथ गाते हैं। ...कांदे राधारानी जमुनार तीरे..। एक पवित्र भाव की लहर उनके मुखमंडल पर दौड़ने लगती है।

रूप–रस–गंध–स्पर्श की एक वर्णमय पृथ्वी है। उस पृथ्वी को अगर कभी जगमगाते हुए देखा था, रवीन्द्रनाथ के कारण ही देखा था। जब उनके बारे में सोचती हूं, जितना निरुद्वेग और भावहीन होकर क्यों न सोचूं। मैं जानती हूं, अंतर की अतल गहराई में एक सूक्ष्म तार कांपता रहता है। उनके बारे में सोचते हुए मेरे चेहरे की रेखाओं और सिलवटों पर खामोशी से कोमलता की एक परत जम जाती है, उनके बारे में बताते हुए मेरी आवाज़ अस्वाभाविक रूप से बदल जाती है। आवेगसिक्त कुछ काव्यिक शब्द ज़ुबान से बाहर निकलने लगते हैं। जबकि हैरानी की बात है–मैं तो जरा भी काव्यिक नहीं हूं। सच कहूँ तो सूखी लकड़ी की तरह है मेरा अंतर।

कुछ क्षण आते हैं–जो विचित्र आवेदन और रहस्यमयता से सराबोर होते हैं। क्षणों की अभिव्यक्ति या मर्म समझा नहीं जा सकता। फिर भी कुछ जैसे समझा जाता है, मगर जो समझा जाता है वह भी अज्ञेय होता है। शब्दों में उसे बांधकर नहीं रखा जा सकता। इसी तरह समझ में आने वाले–न आने वाले क्षण की दुर्बोध्यता को एक चमक की तरह एक दिन देखा था उनके चेहरे पर।

एक मृतक के आंगन में हम चुपचाप बैठे थे। पहाड़ के ऊपर बसा हुआ वह एक जनजातीय गांव था। बग़ल के एक कमरे में मृतक को लिटाया गया था। सिरहाने में पान–सुपारी और सूखे कद्दू के पात्र में हरलोग सजाकर रखा गया था। बग़ल में कुछ स्त्रियां अत्यंत करुण स्वर में धीरे–धीरे सुबक रही थीं। सुबकने के ताल के साथ वे नीचे की ओर झुक गई थीं। ऊपर कृष्ण वर्ण के आकाश में कुछ सितारे और नीचे पहाड़ पर कुछ रोशनी टिमटिमा रही थी। अचानक एक पहाड़ पर भक्क से आग जली थी। शायद झूम खेती के लिए लोगों ने पहाड़ पर आग लगाई थी। घने बादल की तरह सफेद धुएं बड़ी विचित्र भंगिमा में ऊपर की तरफ उड़ रहे थे। गहरी पीली रोशनी में कुछ अर्धनग्न शरीर कौंध उठे थे।

आग और लोग जैसे किसी प्रागैतिहासिक युग से उस रात के सीने में उतर आए थे और रवीन्द्रनाथ का चेहरा अचानक अपरिचित जैसा लगने लगा था। हमारे दरमियान योजन मील का फासला पैदा हो गया था। दहशत–सी होने लगी थी और एक अनिर्वचनीय भाव अंकुरित हुआ था। काफी प्राचीन और चिरंतन। हिमशीतल और लोमहर्षक मृत्यु की तरह।

बारिश की आवाज़ धीरे–धीरे तेज़ होती जा रही है। जैसे राग पहाड़ी बनकर द्रुतलय में कांपती हुई बारिश उतर रही है। धीरे–धीरे एक अभिनव विन्यास में वह बदल रही है और एक अन्य रूप में व्यक्त हो रही है। साधारण एक अन्य विन्यास में असाधारण बन जाता है, जो सरल है, वह दूसरे विन्यास में जटिल बन जाता है। वास्तव में, सभी अपनी समस्त जीवनयात्रा में एक विशेष विन्यास के बीच एक निर्दिष्ट रूप में आकार लेने की निरंतर चलने वाली प्रक्रिया से जुड़े रहते हैं और इस प्रक्रिया के कारण ही हमारे रिश्ते बदलते रहते हैं। मगर यह सब कुछ घटता है बेआवाज़, सबके अनजाने में। हम भी अपवाद नहीं थे और जब पहली बार इस बात का पता चला, तब हम चौंक उठे, विस्मित हुए, व्यथित हुए और एक समय निरुपाय होकर आत्मसमर्पण कर बैठे। कारण यह था अवश्यंभावी, शाश्वत और शायद अत्यंत आवश्यक। मगर हमें बहुत तक़लीफ हुई और हमने भी वही चिरंतन सवाल पूछा। क्यों ऐसा होता है? क्यों ऐसा होना ही नियम है? हाथ में भारी–भारी कुछ वोल्यूम लिये वह घंटों अपने कमरे में घुसे रहते हैं। एक उदास मुद्रा में वह बैठे रहते हैं। चारों तरफ बिखरे रहते हैं। ब्रह्मसूत्र, असेना दिगंत। The Four Noble Truth, Life after death, parapsychology, voices from far beyond... और अधिभौतिक भावना में उनकी आंखें सजल और तन्मय रहती हैं और मैं स्वयं को क्षुब्ध और लज्जित महसूस करती हूं। ऐसी भंगिमाएं देखने के लिए मैं तैयार नहीं थी। रूठना चाहती हूं। सोचती हूं, उनसे सारे रिश्ते तोड़ डालूंगी। दु:ख विलासिता में डूबे ऐसे आदमी को देखने के बजाय मैं चाहती थी–रवीन्द्रनाथ सीना तानकर चलें, गुस्से से चीखें या गाएं। हां, और कुछ न सही कम से कम आंगन में दूब साफ करते हुए एक गीत गुनगुनाते रहें।

उनके विपरीत जाने की इच्छा शायद इतने दिनों से अवचेतन में पाल रही थी, अब वह चेतन में मूर्त हो उठी और मैंने एक लापरवाही की भंगिमा अच्छी तरह सीख ली। हर शाम उनके साथ सड़क पर सैर करने के लिए जाने की आदत थी। अब मैं कानू के साथ निकल जाती हूं। उनके बग़ल से ही, एक बार भी उन्हें देखे बग़ैर। इस बीच मैं कानू के साथ काफी घनिष्ट हो गई थी। टुकड़ों–टुकड़ों में शायद कुछ सपने भी देखती थी। दोनों घूमते–फिरते, खिलखिलाकर हंसते और दुस्साहसिक घड़ियों में एक–दूसरे का स्पर्श करते। मैं चाहती थी कि वह सब कुछ देखें और जब उनके चेहरे को धूसर होते देखती तो एक अद्भुत उल्लास से मैं तृप्त हो उठती, जबकि उनकी आंखों की तरफ मैं देख नहीं पाती, कुछ आर्द्रता जैसी चीज़ मेरी नजरों को धुंधला बना देती थी। मगर मैं हार नहीं सकती थी। ज़बर्दस्त सख़्ती से खुद को खुद से छिपाती और दिनों–दिन उनसे दूर होती जाती। और इस तरह धीरे–धीरे

दूर से और दूर जाते हुए इतनी दूर चली गई कि एक समय उन्हें भूल ही गई और वक़्त की धारायें बहते हुए एक दिन एक ऐसा वक़्त आया—अचानक उनकी याद आई। इतनी याद आई कि याद आना ही एकमात्र सत्य बन गया। तब बहुत देर हो चुकी थी।

रवीन्द्रनाथ के आंगन के सामने फाटक पार करने पर एक सुपारी का बगीचा मिलता है। बीच--बीच में कुछ सोंवालू, सल्यिना और मज के पौधे हैं, उनके बीच की ज़मीन को ढक रखा है बिहलंगनी (वन्य साग) ने और बिल्कुल उस पार सीमा पर एक विशाल ओरियम पेड़ है। ज़मीन से ऊपर निकल आई ओरियम की एक जड़ पर वह बैठे थे शाम में, अकेले। पेड़ों के बीच अंधेरे ने जगह बना ली थी। इतने दिनों के बाद उन्हें देखकर मैं चौंक उठी। उनका शरीर पूरी तरह टूट चुका था। शरीर की हड्डियां दिखाई दे रही थीं। वह जैसे एक सुंदर स्थापात्य के भग्नावशेष बन चुके थे, सर्दी के सूखे नंगे पेड़ की तरह दयनीय।

मेरी तरफ एक बार देखकर ही उन्होंने सिर झुका लिया। एक दूब चबाते रहे और आवाज़ के साथ उंगलियाँ चटखाते रहे। हवा में मेंढ़क जैसी गंध बहकर आई। वह जैसे आत्ममग्न थे किसी श्वासरुद्ध करने लायक दृश्य को एकटक देखने के अंदाज़ में आत्मविभोर। वास्तव में उनकी आंखों के सामने कुछ दृश्य फिल्म की तरह आवाजाही कर रहे थे। बीच–बीच में एक दृश्य के ऊपर दूसरा दृश्य Super imposed होता था। घर घर घर घर की अस्फुट आवाज़ और अस्पष्ट अवयव वाली वह जैसे बहुत पुरानी रील थी। धुंधली। और असंलग्न उन टुकड़ों के बीच एक छायाचित्र मेरी आंखों में ठहर गया हमेशा के लिए।

....हौले–हौले बहती एक नदी। किनारे में तरबूज की लता और पीली सरसों। हाथ में एक सोनारु के पत्ते का बिगुल लेकर बुदू तेज़ी से दौड़ रहा है। पीछे–पीछे रथी। भरी दोपहर। और काफी पीछे कनटिलौ। वे दौड़ रहे है.... एक समय बुदू एक दूसरे रास्ते से चला गया; रथी उससे फिर नहीं मिल सके। और कनटिलौ, वह डरपोक लड़का बहुत दूर तक आगे बढ़ गया। रथी को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया। अंत में वह काफी साहसी बना। और पेड़ से लटक गया एक दिन। रथी को एक ठोकर लगी। उनकी और दौड़ने की इच्छा नहीं रह गई। केवल किसी एक वज़ह से वह एक ही स्थान पर चक्कर काटते रहे, चींटी से घिरे आदमी की तरह। उनका जीवन तमाम हो गया, मगर घूमना बदस्तूर जारी रहा।

केलेइनो आहिली माया बजारलै ए मन भाई ....

काफी दिनों के बाद रवीन्द्रनाथ ने गाया।

बातें नए सिरे से शुरू की जा सकतीं तो ! दरअसल जिस तरह शुरू करने के बारे में सोचा जाता है, हक़ीकत में वैसा होता नहीं। मन का रूप यथार्थ में खो जाता है।

धीरे–धीरे रवीन्द्रनाथ के गीत की कंपकंपाहट परिवर्तित विन्यास में एक सिसकी बन गई। जी–जी–जी–जी–जी कर एक झिंगुर की तीख़ी आवाज़ सुनाई देती रही। दोनों घुटनों

के बीच उनका सिर झुक गया और मैं स्थाणु की तरह ठिठकी रही। और धीरे–धीरे एक अनिवर्चनीय भाव अंकुरित हुआ। काफी प्राचीन और चिरंतर। हिमशीतल और लोमहर्षक। मृत्यु की तरह।

अचानक, काफी अचानक, झिंगुर की आवाज़ बंद हो गई और गहरी स्तब्धता चारों तरफ फैल गई। हवा में उसकी अनुगूंज देर तक सुनाई देती रही। झक–झक–झक–झक करती हुई एक रेलगाड़ी गुजर रही थी। एक के बाद एक डिब्बा, अविराम गति से। अचानक, काफी अचानक, आख़री डिब्बा नज़रों से ओझल हो गया और उस पार असीम आसमान विस्तृत हो गया। अनंत काल से खड़ा था एक पेड़ अचानक, काफी अचानक, उखड़ गई उसकी जड़ और चारों दिशाएं मानो छायाहीन हो गईं। ऐसा ही कुछ लगा था–जब रवीन्द्रनाथ की मौत की खबर सुनी थी।

कोई असाधारण मनुष्य नहीं थे रवीन्द्रनाथ। याद रखने लायक कोई काम करके वह नहीं गए थे। वह थे नितांत साधारण। सहज सरल। मगर वह इस धरती को जी–जान से चाहते थे। उसे जानने, समझने की कोशिश करते थे और यह सब कुछ वह मुझे भी सिखाना चाहते थे। सर्वोपरि, वह थे मेरे जन्मदाता। बचपन में उन्होंने मुझे सिखाया था –

I cannot do the big things
That I should like to do,
To make the earth forever fair
The sky forever blue.
But I can do the small things
That help to make it sweet,
Though cloud do rise and fill the skies,
And stormy wind do beat.

अंत में कुछ नहीं रहता। कोई किसी की शून्यता भर नहीं सकता। कोई किसी का विकल्प नहीं बन सकता। तुम आए और मेरे जीवन की यह खाली जगह भर गई। कैसे इस तरह की बातों से हम एक–दूसरे को ठगना चाहते हैं ! जो खो जाता है, हमेशा के लिए खो जाता है, क्योंकि सभी अनन्य होते हैं, विशेष होते हैं, उंगली के सिरे की तरह।

तूफान में फंसकर कांप रहे बीच सागर के जहाज की तरह मेरे मन की अस्थिरता कांपते–कांपते एक समय शांत हुई। एक–एक प्रशांति ने पूरे वजूद को धो दिया। मेरे हाथों में रवीन्द्रनाथ की वह छोटी डायरी थी–जिसे अब तक मैंने अपने खास बक्से में फैंक रखा था। बक्से में मैंने अपने जीवन की कुछ गोपनीय, मूल्यवान ज़रूरी चीज़ों को सहेज रखा था। उन्होंने अपने जीवन की कुछ छोटी–बड़ी बातें डायरी में दर्ज़ कर रखी थीं। अत्यंत मामूली। दूसरों के लिए बिल्कुल नगण्य। मगर उस क्षण वे नगण्य अक्षर ही मेरी नजरों में असाधारण बन गए थे। उनसे सत्य की एक अनन्य रोशनी फूट रही थी। रवीन्द्रनाथ ने जीवनभर मुझे काफी कुछ दिया था। मगर आजीवन जो वह मुझे नहीं दे पाए, वह उनकी मृत्यु ने मुझे दे दिया।

मूसलाधार बारिश के बाद, रात के अंतिम प्रहर का आसमान बिल्कुल शांत हो गया है। बिस्तर से उठकर मैंने खिड़की खोल दी। बिजली कड़कने पर नाशपतियां चमक उठती थीं। कुवारी लड़की के स्तन की तरह नाशपतियां। हरी, स्फीत। तेज़ हवा और बारिश में भी टूटे बग़ैर उद्धत भंगिमा में खड़ी हैं। वह प्राचीन और चिरंतन अनुभूति मन में जाग उठी, अत्यंत दुर्वार और सुतीव्र, अनिवर्चनीय और लोमहर्षक, बिल्कुल जीवन की तरह।

□□□

तेलुगु व्यंग्य कथा

हरिश्चंद्र की आत्मा

● कोडवटिगंटि कुटुंबराव
(अनु: आर० शांता सुंदरी)

पुराण काल का चक्रवर्ती, आदर्श पुरुष, राजा हरिश्चंद्र, सत्य की आराधना छोड़कर सत्यान्वेषण के लिए निकल पड़ा। "मैं अब सत्य की आराधना छोड़कर सत्य को खोजने जा रहा हूँ। सत्य की खोज किए बिना उसकी आराधना करना संभव नहीं है। यह बात मैं समझ गया हूँ। मैंने अपने जीवन में कभी भी सत्य की खोज नहीं की। पता नहीं 'सत्यप्रेमी' की उपाधि मुझे कैसे मिल गई?"

सत्य के लिए अनेक कष्ट सहकर, उसी सत्य का पालन करते हुए अपनी ख्याति को पूरे संसार में फैलाकर, 'सत्यवादी हरिश्चंद्र' की शाश्वत उपाधि प्राप्त करने वाला, राजा हरिश्चंद्र जब देह छोड़ने लगा तो उसकी आत्मा सीधे ब्रह्मलोक में पहुँच गई। आरंभ में ब्रह्म ने ही सत्य का उच्चारण वेदों के रूप में किया था। इसलिए हरिश्चंद्र की आत्मा के रहने के प्रबंध ब्रह्मलोक में ही किए गए।

ब्रह्मलोक में रहने वाले ऋषि–मुनियों ने हरिश्चंद्र की आत्मा का स्वागत बड़ी धूमधाम से किया। उस संदर्भ में एक स्वागत–पत्र भी पढ़ा गया था। उसमें लिखित कुछ ख़ास बातें इस प्रकार थीं–

"हे, सत्यप्रिय! तुम्हारे आने से हमारा लोक पवित्र हुआ.... हम जिस सत्य की आराधना करते हैं, वह तुम्हारे सत्य के सामने मिथ्या लगता है; जैसे मशाल के सामने छोटे दीप का अस्तित्व ना के बराबर होता है!.... तुम्हारे प्रति हमारे मन में जो वात्सल्य है, गौरव है, उसे प्रकट करने के लिए आगे से हम इस लोक का नाम बदलकर 'सत्यलोक' रखेंगे....."

इस स्वागत–पत्र का हरिश्चंद्र पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उसने भूलोक में इस से हज़ार गुना प्रशंसा पाई थी। अपनी प्रशंसा सुनने की उसे आदत–सी हो गई थी। प्रशंसा

को विनम्र होकर स्वीकारने के लिए भी अभ्यास की आवश्यकता होती है। हरिश्चंद्र को इसका काफ़ी अभ्यास था। इसलिए उसने इस स्वागत–पत्र को सही प्रकार से विनय प्रकट करके स्वीकार किया।

हरिश्चंद्र के आने के बाद सत्यलोक में काफ़ी कुछ बदल गया। पहले की तरह ऋषि–मुनियों ने आपस में हँसी–ठिठोली करना बंद कर दिया। हास्य, क्रोध, दुःख आदि उद्वेग असत्य को बढ़ाने में खाद का काम करते हैं। सत्य में कोई उद्वेग नहीं होता। निरापद उद्वेग भी सत्य को हानि पहुँचाते हैं। इसलिए सत्यलोक के निवासी उद्रिक्तता रहित गंभीर जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

इस प्रकार हज़ारों साल बीत गए। इस बीच हरिश्चंद्र की आत्मा में अनेक प्रकार के परिवर्तन आते गए। अब उन्हें सत्यलोक के जीवन में कोई रस दिखाई नहीं दे रहा था। उनकी आत्मा तारामती और अपने पुत्र लोहितास्य के लिए व्याकुल रहने लगी, विशेषकर तारामती उन्हें बहुत याद आती रही।

बेचारी, तारामती! किसी गोलोक में होगी! कैसी पतिव्रता थी! कितनी अच्छी पत्नी थी! कितने कष्ट झेले थे उसने! मेरी सत्यप्रियता को कितनी अच्छी तरह समझती थी। उसे याद करते ही हरिश्चंद्र का दिल दुख से भर आया! 'कितनी निर्ममता से मैंने उसे कालकौशिक के हाथों बेच डाला था!' हरिश्चंद्र की आत्मा यह सोचकर दुखी हो गई। उस समय उसे पता नहीं था कि पत्नी और पुत्र से बिछुड़कर जीना कितना कठिन होता है। ईश्वर की कृपा से भूलोक में उसे वे दोनों वापस मिल गए थे पर क्या उन्हें फिर से खो देना ही भाग्य में लिखा था? यह कैसा अन्याय है?

'हाँ! मैं सत्यप्रिय ज़रूर हूँ। पर इसके अलावा भी कुछ बातें हैं जो मुझे प्रिय हैं वे सत्यलोक में नहीं हैं! मुझे इस तरह इस लोक में और कितने दिन रहना होगा?'

एक दिन नारद मुनि मिले तो हरिश्चंद्र ने उनके सामने अपने दिल का दुःख कह सुनाया। नारद मुनि पूरी बात सुनने के बाद मुस्कुराए। सिर हिलाते हुए पूछा, "नादान राजा! इस दुःख को कितने समय से झेलते आ रहे हो?"

"बहुत समय से!"

"तुम जब चाहो अपनी पत्नी और पुत्र से मिल सकते हो! तुम्हें रोकने वाला कोई नहीं है!"

हरिश्चंद्र खुशी से उछल पड़ा और तुरंत गोलोक के लिए चल दिया। वहाँ एक सुंदर घास के मैदान में, अपनी जैसी साधु गायों के बीच में, तारामती किसी सोच में डूबी बैठी हुई थी। पत्नी को देखते ही हरिश्चंद्र ज़ोर से चिल्लाया और उससे लिपट गया। पति को देखते ही तारामती का चेहरा कमल की तरह खिल उठा। दोनों खुशी के आँसू बहाने लगे।

"मैं तो आपको दुबारा देखने की आशा ही खो बैठी थी। अब तक ये ही मेरा साथ निभाती रहीं। अब इनका स्नेह भी छूटनेवाला है," कहकर तारामती ने विशाल आँखों से उन

दोनों की ओर देखने वाली गायों की तरफ़ इशारा किया। फिर बोली, "अब मुझे फिर से भूलोक में जाना होगा!"

हरिश्चंद्र घबराकर बोला, "क्या? यह तुम क्या कह रही हो?"

तारामती ने पति को समझाया कि भूलोक में उसका पुनर्जन्म होने वाला है।

"तो फिर, मैं?" हरिश्चंद्र ने पूछा।

"आपका अभी पुनर्जन्म कहाँ होगा? इससे पहले न जाने मुझे कितने जन्मों से गुज़रना होगा!"

"मुझे अकेला छोड़कर...." हरिश्चंद्र आगे बात नहीं कर सका।

तारामती ने पति के चेहरे को सहलाते हुए पूछा, "तो मैं क्या करूँ?"

"क्या तुम मेरे पुनर्जन्म होने तक रुक नहीं सकती? अपने पातिव्रत्य की महिमा के बल पर इसे टाल नहीं सकती?"

"भाग्य के आगे कोई भी बल या महिमा टिक नहीं सकती। हमारे हृदय एक हैं। पर कर्मों का फल एक–समान नहीं है। अगर हम दोनों के कर्मों के फल को हम आपस में समान रूप से बाँट लेते तो मैं भी आपके साथ सत्यलोक में न होती?"

हरिश्चंद्र के मन में क्षण भर के लिए क्रांति की ज्वाला भभक उठी। यह अन्याय है! आत्माओं के बीच इतनी असमानता क्यों......

उसकी विचारधारा इसी प्रकार आगे बढ़ती तो शायद उससे साम्यवाद का सिद्धांत उपजा होता! पर ऊर्द्धवलोक के वासी साम्यवाद को अपना नहीं सकते। वहाँ स्वार्थ का ही अधिक चलन होता है।

हरिश्चंद्र सत्यलोक में लौट आया और नारद मुनि के दर्शन करने गया।

"हे, मुनीश्वर! मुझे यहाँ और कितने समय रहना होगा?"

"भूलोक में जब तक तुम्हारी ख्याति रहेगी, तुम यहाँ रह सकते हो।"

"पर मुझे यह बात कैसे मालूम पड़ेगी?"

"जाओ, कलियुग शुरू हो गया है। भूलोक में जाओ! तुम्हारी आत्मा को देश–काल के बंधन रोक नहीं सकते।"

हरिश्चंद्र की आत्मा अगले ही क्षण कलियुग में पहुँच गई, भूलोक का भ्रमण करने लगी। लोग आपस में बातें कर रहे थे, हर किसी की ज़बान पर उसका नाम था। बेचैनी में भी उसे यह देखकर आनंद आया! वह वापस चली गई।

और एक हज़ार वर्ष के बाद फिर आत्मा भूलोक गई। उसे हैरानी हुई। हर कहीं उसे याद किया जा रहा था। उसके जीवन पर नाटक लिखे और खेले जा रहे थे। फ़िल्मों में, पोस्टरों में, हर एक दीवार पर उसी की तस्वीर थी। पर हाँ, उसका रूप बदल गया था!

"लोगों में कितनी सत्य–प्रियता है! क्या यही कलियुग है?" हरिश्चंद्र हतप्रभ होकर खड़ा रह गया।

हरिश्चंद्र की इच्छा हुई कि इस युग के जीवन–विधान को देखें। अगोचर होने के कारण उसकी आत्मा जहाँ चाहे जा सकती थी। वह दुनियाभर में विचरण कर आई। उसे कलियुग की महानता का ज्ञान हो गया।

हरिश्चंद्र जान गया कि लोग भले ही उसके नाम का ढिंढोरा पीट रहे हों, फिर भी उसने लोगों को ग़लत समझा था। इनमें से कोई भी सत्य का प्रेमी नहीं है। यह तो केवल दिखावा है, नाटक है! पत्रिकाओं और विज्ञापनों से लेकर संसद भवन में होनेवाली चर्चाओं तक सब कुछ झूठ है, कपट है!

इस असत्यप्रियता को देखकर हरिश्चंद्र की बेचैनी कम हुई। पर वह पूरी तरह आश्वस्त हो जाना चाहता था कि दुनियावाले उसका अनुकरण नहीं कर रहे हैं, तभी वह सत्यलोक लौटना चाहता था। वह इधर–उधर घूमने लगा।

एक जगह, एक अजीब दिखनेवाले कमरे में शीशियों को अपने चारों ओर फैलाकर एक वृद्ध कुछ कर रहा था। उसे देखते ही न जाने क्यों हरिश्चंद्र को लगा कि 'यह कोई सत्यान्वेषी होगा!' हरिश्चंद्र यह सोचकर बेचैन हो गया कि 'यह बूढ़ा मुझसे महान् है!' मैं तो सत्यप्रेमी हूँ, सत्यान्वेषी नहीं। इस सत्यप्रेम ने मुझे वेदना के सिवा कुछ भी नहीं दिया। इस बूढ़े के सत्यान्वेषण में बुद्धि काम आ रही है। हृदय का यहाँ कोई काम नहीं है। यह आदमी कितना भाग्यशाली है!

परंतु इस बूढ़े का नाम मेरे नाम की तरह प्रसिद्ध नहीं होगा। शायद उसे नाम कमाने की चिन्ता भी नहीं है। हरिश्चंद्र ने बूढ़े को सत्यलोक में देखने की कल्पना की। संभव नहीं लगा। क्या यह अन्याय नहीं है कि ऐसे महान् व्यक्ति के लिए सत्यलोक में कोई स्थान नहीं?

हरिश्चंद्र वहाँ से आगे बढ़ गया। एक बग़ीचे में पति–पत्नी, बीच में बच्चे को बिठाकर, ख़ुश होकर, उसके साथ खेल रहे थे। बच्चा जब माँ की तरफ़ मुड़ता है तो पिता उस बच्चे के बाल खींचता है और बच्चा पिता की तरफ़ मुड़ता है तो उसकी माँ उसके बाल खींचती है। बच्चा गुस्सा हो गया तो पिता बोला, "मैं नहीं, तेरी माँ!" और फौरन माँ बोली, "नहीं रे! तेरे पिताजी ने खींचे!" दोनों बच्चे से झूठ बोले जा रहे थे। इस खेल को देखकर हरिश्चंद्र का दिल खिल उठा!

'इन्हें सत्यलोक में बिल्कुल स्थान नहीं मिलेगा!' पर जब तक हरिश्चंद्र उस खेल को देखता रहा उसे लगा कि ये खेलने वाले स्वयं वह, तारामती और लोहितास्य हैं!

हरिश्चंद्र आगे बढ़ गया।

एक जगह पर एक सज्जन एक अभागे को रास्ते में रोककर डाँट रहा था, "मेरा कर्ज़ कब चुकाओगे?"

"माफ़ करना बाबू! एक महीने के अंदर ज़रूर चुका दूँगा। नौकरी छूट गई है। बड़ा परेशान हूँ", अभागे ने जवाब दिया।

"एक महीने में भला कैसे चुकाओगे? कितनी बार मांगूं? सच क्यों नहीं बोलते कि अभी नहीं दे सकता, एक साल के बाद दूँगा? या दस साल के बाद दूँगा? हफ़्ते बाद, महीने बाद–इस तरह क्यों हमेशा टालते रहते हो?"

अभागे ने दीनता प्रकट की।

उसे भी सत्यलोक में जगह नहीं मिलेगी। पर हरिश्चंद्र ने उस ग़रीब को देखा तो लगा स्वयं को आईने में देख रहा है! उसने भी नक्षत्रक को इसी तरह टाला था।

हरिश्चंद्र आगे बढ़ा। एक जगह पर धार्मिक बातों पर चर्चा चल रही थी। सभी प्रकांड पंडित थे, परंतु अलग–अलग धर्मों को मानने वाले थे, धार्मिक ग्रंथ सामने रखकर एक ही शब्द के विपरीत अर्थ बता रहे थे। मानव की पहुँच के बाहर जो सत्य है, उसे प्रकट करने के लिए मानव–कल्पित भाषा पर्याप्त नहीं है–वह इस सच्चाई को समझ गया। वहाँ से निकल पड़ा और चलने लगा।

एक जगह पर एक बच्चा माँ की बग़ल में बैठकर किताब में तस्वीरें। देख रहा था। माँ ऊन से जुराब बुन रही थी। बच्चे ने अचानक कहा, "माँ, देखो तो! गाय और गाय का बच्चा!"

माँ हँसकर बोली, "गाय का बच्चा नहीं कहते, मुन्ना! उसे बछड़ा कहते हैं!"

'गाय का बच्चा' सच है या झूठ,' हरिश्चंद्र सोच में पड़ गया।

"यह देखो, माँ! दूसरी तस्वीर, कुत्ते की तस्वीर," बच्चे ने तस्वीर दिखाई। माँ ने देखा और कहा, "कुत्ता नहीं, बेटे! भेड़िया है।"

"नहीं, माँ!"

यह बच्चा कभी भी सत्यलोक में जा नहीं पाएगा। हरिश्चंद्र की आत्मा को इस बार असहनीय वेदना का अनुभव हुआ। वह सत्यलोक में लौट गया। बिना कहीं रुके ब्रह्मा के पास पहुँचा। नारद और दूसरे ऋषि–पुंगव भी वहीं थे।

हरिश्चंद्र ने सबको प्रणाम किया और कहा, "मैं यहाँ नहीं रह सकता। मुझे आज्ञा दीजिए!"

सब चकित हो गए और देखते रहे, नारद मुनि हँस पड़े।

"यह क्या हरिश्चंद्र? ऐसा क्यों कह रहे हो?" सबने पूछा।

"मैं अब सत्य की आराधना छोड़कर सत्य को खोजने जा रहा हूँ। सत्य की खोज किए बिना उसकी आराधना करना संभव नहीं है। यह बात मैं समझ गया हूँ। मैंने अपने जीवन में कभी भी सत्य की खोज नहीं की। पता नहीं 'सत्यप्रेमी' की उपाधि मुझे कैसे मिल गई?" हरिश्चंद्र की ये बातें सुनकर सब एक–दूसरे का मुँह ताकते रह गए।

□□□

उड़िया कहानी

मां

● प्रमोद मिश्र
(अनु: डॉ० मधुसूदन साहा)

कुछ दिन पहले छोटे भाई प्रवेश ने माँ को लाकर उसके घर छोड़ दिया है। इतनी दूर से टैक्सी का खर्च करके माँ को लाया है। अब फिर से उसे कैसे लिखे कि माँ को आकर ले जाओ.... बड़े भाई प्रकाश और उसकी पत्नी के ऐसे ही अनेक मनोभावों और मध्यवर्गीय परिवार की विवशताओं का मार्मिक चित्रण किया गया है श्री प्रमोद मिश्र की इस उड़िया कहानी में।

आज सुबह–सुबह इति का मूड खराब हो गया। मुँह हांडी की तरह लटका हुआ है। किसी के साथ कोई बातचीत नहीं। बिल्कुल चुप । भीतर ही भीतर उफन रही है। उसे जितना ही समझाया जाता, वह उतना ही फों–फों करने लगती। उसे देखकर डर लगता है। लगता है, धान उसनने वाली गरम हांडी उलट पड़ेगी।

बेचारा प्रकाश, आखिर करे तो क्या करे? दोनों कंधों पर भार ढो–ढोकर वह परेशान हो गया। ज़िन्दगी पस्त–सी हो गई। किन्तु उससे उबरने का कोई उपाय नहीं। उस पर कल से जो इति का गुस्सा शुरू हुआ है, वह थमने का नाम ही नहीं लेता। वह सभी समस्याओं को बेचारे प्रकाश पर थोप देती है, फिर भी मन में शान्ति नहीं। लगता है अब भी कुछ शेष रह गया है।

बच्चे डर से अलग थर–थर कांप रहे हैं। छोटी बेटी ऐली बिना कुछ खाये–पिये स्कूल चली गई। जाते समय प्रकाश ने चुपके से उसके हाथ में पांच रुपये पकड़ा दिये थे। टिफिन पीरियड में कुछ खरीदकर खा लेगी। घर में जो कुछ खाने के लिए था, उसे गले के नीचे उतारकर बड़ी बेटी मिली कॉलेज चली गई। लड़की इतनी बड़ी हो गई है, किंतु मां के

सामने बकार भी नहीं फूटता, उसे तो बस पढ़ाई से मतलब है, बाकी घर में कहां क्या हो रहा हे, इससे उसे कोई लेना–देना नहीं।

बेटा रोमी सबेरे उठकर ट्यूशन गया है अब तक नहीं लौटा है, आने पर घर को सिर पर उठा लेगा। इति को उसी का डर है। वह इतना छोटा है कि अभी तक स्कूल की पढ़ाई भी खत्म नहीं हुई है, किन्तु खाने–पीने में हज़ार नखरा, उसके लिए जो–सो नहीं चलेगा। इति अंदर से ख़फा रहने पर भी उसके लिए मनपसंद नाश्ता अवश्य तैयार करेगी। कभी–कभी जब उसकी भिन्नाहट से इति के तलवे का गुस्सा माथे पर चढ़ जाता तो उसे दो–चार झापड़ भले ही लगा देती, किन्तु उसे समझा नहीं पाती। अंत में खुद ही हार मानकर उसके आगे घुटने टेक देती।

किन्तु आज उसे रोमी के रूठने की भी परवाह नहीं। कल रात की बात से वह इस कदर क्रोधित हुई है कि मत पूछिए। जो मन में आया सबको रात भर सुनाती रही, फिर भी अभी तक माथा ठंडा नहीं हुआ है।

वह एकदम अड़ बैठी है कि आज इस समस्या का समाधान करना ही पड़ेगा। गुस्सा ठंडा हो जाने पर यह समस्या वैसी की वैसी ही धरी रह जायेगी। जब लोहा गरम हो चोट उसी समय मारना चाहिए।

बेचारा प्रकाश आखिर करे तो क्या करे? इस समस्या का वह क्या समाधान करेगा? वह माँ को तो रास्ते में नहीं फेंक सकता, किसी के घर में तो नहीं छोड़ सकता। तो फिर क्या करे?

कुछ दिन पहले उसके छोटे भाई प्रवेश ने मां को लाकर उसके घर छोड़ दिया है। इतनी दूर से टैक्सी का खर्च करके माँ को लाया है। अब फिर से उसे कैसे लिखे कि माँ को आकर ले जाओ।

प्रवेश दुर्गापुर स्टील प्लांट में मैकेनिकल इंजीनियर के पद पर काम करता है। उसकी पत्नी भी वहीं एक कॉलेज में पढ़ाती है। दोनों दिनभर घर से बाहर रहते हैं। छोटे बच्चे को क्रेच में रखना पड़ता है। प्रवेश के ऊपर यह एक अतिरिक्त बोझ है। बेचारा इसे कैसे उठा पायेगा? उस पर माँ की यह बीमारी। चौबीसों घंटे उसके पास एक आदमी चाहिए। आखिर कैसे करेगा वह यह सब?

उसने कुछ दिनों तक माँ को बेकार में अस्पताल में रखा। अंत में डॉक्टर ने कहा, 'जब इस रोग का कोई इलाज ही नहीं है तो यहाँ रखने से क्या फायदा? घर पर ही रखिए, यदि भाग्य अच्छा होगा तो वह खुद–ब–खुद ठीक हो जायेगी। ईश्वरी चमत्कार के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।'

डॉक्टर की बातें सुनकर प्रवेश माँ को घर ले आया। वह जो भी थोड़ा–बहुत हाथ–पाँव हिलाती थी, घर लाने पर वह भी बन्द।

डॉक्टर ने प्रवेश को बताया कि शरीर का मोटर–नर्व अकर्मण्य हो गया है। इस बीमारी में आपकी माँ सब–कुछ सुन सकेगी, समझ पायेगी, किन्तु न कुछ कह सकेगी और न कर पायेगी।

ओह, क्या विचित्र बीमारी है? सब कुछ सुन सकेगी, जान सकेगी, किन्तु केवल अन्दर ही अन्दर महसूस करती रहेगी, अभिव्यक्त नहीं कर पायेगी।

प्रवेश जब तंग आ गया तो और कोई चारा न देखकर माँ को बड़े भाई के पास छोड़ गया था। कुछ दिनों तक प्रकाश और इति माँ की सेवा करते रहे। जो भी हो, इसी माँ ने सब कुछ सहकर उसे इस लायक बनाया है। माँ से ज्यादा कीमती चीज़ इस दुनिया में और क्या है? भगवान का स्थान भी उनसे अधिक श्रेष्ठ नहीं है।

इति भी अच्छे स्वभाव की है। मन में कोई छल–कपट नहीं। हर प्रकार से एक लायक बहू। जब माँ बीमार नहीं थी तो हमेशा अपनी बहू को सिर पर बैठाये रहती थी जैसे वह उनकी बहू नहीं बेटी हो। माँ छोटे बेटे प्रवेश को ज़रा ज्यादा ही प्यार करती थी। पोता–पोती तो जान से ज्यादा प्यारे थे, लेकिन कौन जानता था कि हठात् उसकी यह हालत होगी। सारा शरीर बेकाम हो जायेगा।

बहुत दिनों तक इति मन–प्राण से उनकी सेवा करती रही। डॉक्टर को दिखाने और दवा खिलाने में उसने कभी कोई कोताही नहीं की। होमियोपैथी, आयुर्वेदिक से लेकर जड़ी–बूटी और टोटका–टोटकी तक कुछ भी बाकी नहीं, किन्तु बीमारी टस से मस नहीं हुई। हाँ, डॉक्टर यह जरूर कहते हैं कि चूंकि शरीर के भीतर के सभी पार्ट ठीक हैं, इसलिए डरने की कोई बात नहीं।

इति कभी–कभी सोचने लगती कि इस तरह आखिर कब तक पड़ी रहेगी माँ और फिर इस तरह जीने का अर्थ ही क्या है?

धीरे–धीरे सेवा–भाव में परिवर्तन आने लगा। दिन–रात अकेले हाथ सब कुछ करते–करते मन विरक्त हो उठता। लगता जैसे वह घर में जकड़ कर रह गई हो। कहीं आना–जाना भी मुश्किल हो गया था। यहां तक कि बहुत दिनों से अपने माँ–बाप से मिलने भी नहीं जा सकी थी। प्रकाश सारा दिन नौकरी में व्यस्त रहता था। बच्चों को अपने काम से फुर्सत नहीं थी। रह जाती थी इति, जो सुबह से शाम तक घर की चक्की में पिसती रहती थी। उस पर माँ की जो अवस्था थी, वह तो सचमुच सबसे बड़ी मुसीबत बन गई थी, जो पकड़–पकड़ कर झाड़ा–पेशाब कराने से लेकर नहाने–धुलाने और खिलाने–पिलाने तक का सारा काम उसे ही अकेले हाथ करना पड़ता।

माँ बीमार थी। इसलिए उन्हें देखने के लिए रोज़ कोई न कोई आता। एक तो वैसे ही घर में बहुत काम था उस पर आनेवालों की आवभगत अलग। इति को सांस लेने की फुर्सत नहीं मिलती थी।

उस पर यदि गांव से आकर दो–चार रोज़ कोई रुक गया तो परेशानी दुगुनी हो जाती। छोटे से घर में अतिथियों के लिए सुविधा जुटाने में घर के सभी लोग असुविधा में पड़ जाते।

इति तो काम करते–करते थककर चूर हो जाती, बच्चों की पढ़ाई–लिखाई भी चौपट हो जाती। बच्चे मन ही मन ख़फा हो जाते, किन्तु कुछ बोल नहीं पाते। मिली क्लास में हमेशा प्रथम आती थी, इस बार तृतीय होकर रह गई। सबने इति को ही दोषी ठहराया। वह करे भी तो क्या करे? बीमार माँ को देखने के लिए तो अपने–पराये आयेंगे ही। मिली की बातें उसे सिर झुकाकर मानना पड़ता। प्रकाश का वेतन भी अब कम पड़ने लगता था। वह कुछ कर नहीं पाता किन्तु हमेशा इति पर ही गुर्राता रहता।

सब की जड़ तो माँ है। वह क्या कर सकता है? आखिर घर–बाहर सब कुछ उसे ही तो संभालना पड़ता है।

वैसे तो वह सुबह–शाम माँ की सेवा में लगा ही रहता है, किन्तु घर का मालिक होने के नाते कुछ न कुछ बाहरी काम भी करना ही पड़ता है।

माह दर माह इसी तरह समय खिसकता रहा। घर की दिनचर्या यथावत् चलती रही। इति के मन में विरक्ति बढ़ती गई। कम होने का तो कोई सवाल ही नहीं था। और जब एक बार मुँह खुल गया तो खुल गया। प्रकाश बेकार के कलह से बचने के लिए उसका कोई प्रतिवाद नहीं करता था, ऐसी बात नहीं थी, किन्तु वह अधिकतर चुप ही रहता था। अब यदि एक व्यक्ति हमेशा एक ही बात करे तो सुनने वाले का मन विरक्त तो होगा ही। विरोध करना भी बिल्कुल स्वाभाविक ही है। अब माँ को केवल विवेक के एक पलड़े पर रखकर दूसरे पलड़े को खाली तो नहीं रखा जा सकता है। पत्नी भी तो पराई नहीं होती। उस पर इति जैसी पत्नी बहुत कम लोगों के भाग्य में होती है। आखिर वह भी तो इंसान ही है। अपने को भगवान तो नहीं बना सकती।

हमेशा एक ही प्रकार के काम में लगी रहने के कारण उसके मन में ऊब–सी पैदा हो गई है। बच्चे किसी भी तरह की मदद नहीं करना चाहते। कुछ भी कहने पर कोई बहाना बनाकर चल देते।

इति जब गुस्से में होती तो प्रकाश अधिक से अधिक काम अपने हाथों कर देता। यहाँ तक कि माँ को झाड़ा–पेशाब भी करवा देता। छुट्टी लेकर सारा दिन घर पर ही रहता। जब इति का क्रोध कम होता, वह तभी ऑफिस जाता।

चित पड़ी रहने के कारण जब माँ की पीठ में घाव हो गया तो आधे–आधे घंटे में करवट बदलने की एक नई मुसीबत आ खड़ी हुई। इति और प्रकाश रातभर सो नहीं पाते। माँ के निरीह मुँह को देखकर दया आती। वह भी अपने बच्चों की इसी तरह सेवा करती होगी। अब इतने दिनों के बाद वह भी उसी अवस्था में पहुंच गई है। निरीह बच्चे की तरह एकटक निहारती रहती है, सब कुछ समझ पाती है, किन्तु कुछ भी कह नहीं पाती।

प्रकाश की आँखों से दो बूंद आंसू टपक पड़े। एक बार बातचीत के दौरान मिली के मुँह से निकल पड़ा था कि इस तरह जीने से क्या फायदा है वरन् मर जाना..., उसकी बात खत्म भी नहीं हुई थी कि प्रकाश ने सड़ाक–से एक झापड़ जड़ दिया था। उसके सिर पर खून सवार हो गया था। शायद इसीलिए उसे यह भी ख्याल नहीं रहा कि बेटी कॉलेज में

पढ़ती है। उसी दिन से घर में माँ को लेकर उस तरह की बातें कहने का साहस किसी को नहीं हुआ था।

ऐसी ही परिस्थिति में प्रकाश का पारिवारिक जीवन चल रहा था। एक आदमी के लिए इतनी सारी परेशानियां। इस बीच एक और घटना घटी। अनुभाग अधिकारी के रूप में प्रकाश की पदोन्नति हो गई। सभी खुश हुए। घर में मिठाई बांटी गई। मां के मुंह में मिठाई का एक टुकड़ा डालते हुए प्रकाश ने कहा, 'मां, मेरा प्रमोशन हो गया है, मैं ऑफिसर बन गया हूँ।'

मां की आंखें आनन्द के उद्वेग से मुंद गईं। प्रकाश आशीर्वाद की उस मुद्रा से आत्मविभोर हो उठा। उसने मां को करवट बदलकर चादर ओढ़ा दी, लेकिन दिनभर की खुशी शाम होते–होते धूमिल पड़ गई। प्रकाश ने आकर बतलाया कि प्रमोशन के साथ–साथ उसका ट्रांसफर भी हो गया है।

इति की आंखें आश्यर्च से खुली की खुली रह गई। मिली, ऐली, रोमी सभी गुमसुम रह गये। प्रकाश ने सबको अपनी ओर टकटकी लगाये देखकर कहा, 'मुझे अकेले ही जाना पड़ेगा, तुम लोग इस वर्ष यहीं रहोगे। जब यह सेशन समाप्त होगा तुम लोग तभी जा सकोगे।'

इतने में इति टपक पड़ी, 'हम लोगों को यहां रहने के लिए तो कह रहे हो खैर, बच्चों को तो मैं संभाल लूंगी, लेकिन मां की सेवा कौन करेगा? इसलिए मै कहती हूँ तुम चाहे जंगल में जाओ, किन्तु मां को भी साथ ले जाओ, मैं अकेली औरत, कैसे संभाल पाऊँगी यह सब जंजाल। तुम प्रवेश को खबर कर दो वह कुछ दिन मां को अपने पास रखे। छोटे बेटे के लिए तो मां जान देती थी और आज जब लोथ बनी पड़ी है तो सेवा करने के लिए हम। तुम उसे टेलीग्राम कर दो, वह आकर मां को ले जायेगा।

इति के प्रस्ताव को सुनकर प्रकाश ने अत्यन्त सहज भाव से कहा, 'वे दोनों प्राणी तो नौकरी करते हैं। मां की देखभाल कैसे कर पायेंगे? वे लोग तो, अपने बच्चे तक को संभाल नहीं पाते, फिर मां को कैसे संभालेंगे?'

'मै यह सब नहीं जानती, यह सब तो मुसीबत से बचे रहने का बहाना है। दोनों मिलकर तो बहुत पैसा कमाते हैं। मां के लिए अलग से एक आया रख लेंगे। अपना हाथ भी नहीं लगाना पड़ेगा। मै अब और इतना कुछ अकेले नहीं कर सकती। तुम अपने भाई को सिर पर उठाये रहो और ऑफिस से छुट्टी लेकर अपनी मां की सेवा करो।'

इति के मिज़ाज़ को देखकर प्रकाश ने कहा, 'ठीक है, मैं आज ही प्रवेश को टेलीग्राम भेज देता हूँ। उसे आने दो, कुछ न कुछ व्यवस्था की जायेगी।'

टेलीग्राम पाकर प्रवेश और लोपा दोनों आये। दोनों ने मां को पांव छूकर प्रणाम किया। कुछ देर तक गुमसुम खड़े रहे। किसी के मुंह से एक शब्द नहीं निकला।

दरअसल प्रवेश बचपन से ही बड़ा सीधा–सादा रहा है, जब वह सामने आता तो प्रकाश उसकी सिधाई देखकर भावुक हो उठता है, क्योंकि वह उसका केवल बड़ा भाई ही नहीं है, बल्कि उससे भी बहुत कुछ ज्यादा है। दोनों की उम्र में भी काफी अंतर है। उसे अपनी गोद में खिला–खिलाकर बड़ा किया है। दु:ख–तक़लीफ सहकर पढ़ाया–लिखाया है। पिताजी के मरने के बाद उसी ने बाप का दायित्व भी निबाहा है। कभी कोई कोताही नहीं की है।

प्रवेश के दिल में भी उसके प्रति अपार श्रद्धा थी। अपने भाई के सामने उसके मुंह से एक शब्द नहीं निकलता था। भैया जो भी कहें, वह चुपचाप सुनता रहता था, कोई जवाब नहीं देता। प्रकाश अच्छी तरह जानता है कि मां की तरह सम्पूर्ण रूप से दूसरे पर निर्भर रहने वाले रोगी को संभालना प्रवेश के लिए सचमुच एक विकट समस्या है। वह परेशान हो जायेगा, अब इसे इति समझे तब तो।

शाम को सब लोग एक साथ बैठे। सभी केवल एक–दूसरे का मुँह देख रहे थे। लगता था सब एक–दूसरे का दु:ख समझ रहे हैं, किन्तु उस स्थिति से उबरने का उपाय नहीं ढूंढ पा रहे हैं। अंत में इति ने ही चुप्पी तोड़ी, 'तुम्हारे यहां मां की देखभाल करने के लिए आया तो मिल जायेगी न लोपा?'

'कहाँ मिलेगी दीदी। परमानेंट आया का तो सवाल नहीं उठता, घर में काम करने वाली भी बड़ी मुश्किल से मिलती है। अगर परमानेंट आया मिलती तो रोनी को क्रेच में क्यों छोड़ती? देखो न, बच्चा सूखकर कैसा हो गया है।' लोपा ने इति के सवाल के जवाब में अपनी समस्या सामने रख दी।

प्रवेश ने सिर हिलाकर लोपा की बातों का समर्थन किया।

सभी समझ गये कि मां को वे लोग ले जाना नहीं चाहते। फिर भी इति ने कहा, 'इनकी पदोन्नति हो गई है। कोरापुट ट्रांसफर हो गया है। बच्चों की पढ़ाई अधूरी है। इसलिए इस सेशन तक हम लोगों को यहीं रहना होगा। उसके बाद हम लोग भी वहीं चले जायेंगे। पिछले वर्ष इनसे जूनियर लोगों की पदोन्नति हो गई। अपने काम में ध्यान न दे पाने के कारण ही ऐसा हुआ। क्या करेंगे, मां को छोड़कर समय पर ऑफिस ही नहीं जा सकते। इसी वजह से ट्रेनिंग में जाने के लिए भी राज़ी नहीं हुए। ट्रांसफर का आर्डर निकलने पर छुट्टी लेकर घर बैठ गये। इन्हीं कारणों से इन्हें प्रमोशन नहीं मिला। अब इस बार प्रमोशन मिला है तो इसे हाथ से तो नहीं जाने देंगे न? कुछ दिन के लिए तो तकलीफ उठानी ही पड़ेगी। बस, तुम लोग कुछ दिन संभाल दो। हम लोग जब वहां चले जायेंगे तो मां को साथ ले जायेंगे।'

प्रवेश भाभी की बातें सुनकर लोपा के मुंह की ओर देखने लगा। लोपा को लगा प्रवेश कहीं अन्दर से पिघल तो नहीं रहा है। उसने कहा, 'दीदी, आप यह कैसे कह रही हैं? हम दोनों तो सुबह से काम पर चले जाते हैं, घर लौटते–लौटते शाम हो जाती है। इससे तो अच्छा यही होगा कि आप यहीं कोई आया रख लीजिए, जो पैसा खर्च होगा हम लोग दे देंगे।'

यह सुनकर इति का चेहरा लाल हो गया। कल की लड़की उसे पैसा दिखाती है। उसने तमतमाते चेहरे से प्रकाश की ओर देखा। प्रकाश को उसी तरह चुप देखकर वह भड़क उठी, 'तुम्हें जो करना है करो, मैं और सेवा–फेवा नहीं कर सकूँगी। तुम नौकरानी रखो या पुजारी, मुझे कुछ नहीं पता।'

इति के उफनते हुए चेहरे को देखकर सभी दंग रह गये। किसी के मुँह से एक शब्द तक नहीं निकला।

प्रवेश को लगा लोपा को शायद ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए थीं। बात बढ़ाने से बेहतर होगा कि कोई हल ढूंढा जाए। उसने अपना सुझाव रखते हुए कहा, 'मां को यदि कुछ दिन कुनू दीदी के पास छोड़ दिया जाए तो कैसा रहेगा? बेटी होने के नाते आखिर उसका भी तो कुछ फर्ज़ बनता है।'

प्रवेश की बातें सुनकर इति ने अपना मुंह दूसरी ओर फेर लिया। कुछ देर बाद प्रकाश की ओर मुख़ातिब होकर बोली, 'इतने दिन से मां खाट पर पड़ी है। वह कितनी बार मां को देखने आयी है? कभी–कभार अगर सुबह आ गई तो शाम होते न होते, कोई बहाना बनाकर घर लौट जाती। यहाँ तो सेवा नहीं कर पाती, वह मां को अपने पास क्या रखेगी?'

प्रकाश अब तक एक कोने में चुपचाप बैठा था, सब कुछ सुनने के बाद धीरे से बोला, 'मां तो भगवान का रूप है। भगवान की पूजा में कभी–कभी बाधाएं आती रहती हैं। क्या इसके लिए हम भगवान को पूजना छोड़ देते हैं? थककर हार मान लेते हैं? इति, क्या इस छोटी–सी समस्या के आगे तुम जुआ पटक दोगी? और फिर मेरी नौकरी भी कितनी बची है? पदोन्नति होने से ही कौनसा सुरखाब का पर लग जायेगा? कोरापुट जैसी जगह में तकलीफ ही मिलेगी। उससे अच्छा यही होगा कि हम लोग यहीं बच्चों के साथ हंस–खेलकर शेष समय काट देंगे। इस प्रमोशन का क्या करना है? रुपया भी कितना मिलेगा? जो मिलेगा वह तो आने–जाने में ही खर्च हो जायेगा। इसलिए सोचता हूँ प्रमोशन नहीं लेने में ही भलाई है।'

प्रकाश की बातें सुनकर सभी चकित रह गये। इति अवाक्–सी प्रकाश की ओर देखती रह गई। उसने ग़ौर से प्रकाश के चेहरे को पढ़ना चाहा, वहाँ कुटिलता अथवा परिहास की एक भी रेखा नहीं थी। दोनों आंखें पूर्ववत् शान्त, स्निग्ध, निश्छल एवं निष्कपट थीं। जिस प्रमोशन के लिए वर्षों से आंखें लगी थीं, उनमें यह विरक्ति–भाव कहाँ से आ गया? जूनियर लोगों को जब उससे पहले पदोन्नति मिल गई थी तो वह कोर्ट–कचहरी करने के लिए तैयार हो गया था। फिर आज मन में यह विरक्ति–भाव क्यों आ गया?

इति प्रकाश के हृदय की महानता समझ गई। वह ऐसा निर्णय लेकर अपने आपको अति मानव के स्तर पर पहुँचाने की चेष्टा कर रहा था।

मिली, ऐली, रोमी सभी बच्चे चुप बैठे थे। लोपा माथे पर के आंचल को घूघंट की शक्ल देकर बैठी थी। केवल प्रवेश कुछ विचलित दिखलाई पड़ रहा था। वह भीतर ही भीतर अपनी कार्यधारा की विपरीत गति को परखने की कोशिश कर रहा था।

प्रकाश और कुछ नहीं बोल पाया। उठकर मां के पास चला गया। खड़ा–खड़ा मां के निरीह चेहरे को निहारने लगा। उसे देखकर मां की आंखें भी छलाछला आईं क्योंकि वह सब कुछ सुन सकती थी, समझ सकती थी, महसूस कर सकती थी, केवल बोल नहीं सकती थी।

प्रवेश उसी दिन लोपा के साथ लौट गया। वह ज़्यादा दिन की छुट्टी लेकर भी नहीं आया था। वैसे भी उसकी समस्या का समाधान तो हो ही गया था।

इति को उन लोगों का इस तरह आना और पिंड छुड़ाकर चले जाना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। उसे लगा सभी लोग स्वार्थी हैं। प्रकाश कर्तव्य के नाम पर अपनी महानता दरसा गया और सबके लिए वंदनीय हो उठा। प्रवेश को आसन्न असुविधा से छुटकारा मिल गया। लोपा ने एक बिनबुलाये विरक्तिमूलक कार्य से मुक्ति पाने के लिए मन ही मन भगवान को धन्यवाद दिया। मिली, ऐली, रोमी को भी किसी न किसी प्रकार के दायित्व से त्राण मिल गया। पिताजी के बाहर चले जाने पर उन लोगों को कुछ न कुछ तो करना ही पड़ता। किन्तु इति, उसकी चिन्ता किसने की? उसे किस उत्तरदायित्व से छुटकारा मिला? बल्कि सबने जब अपने–अपने कर्तव्यबोध से कंधा झटक लिया तो सारा भार अपने आप इति पर आ पड़ा। प्रकाश की महानता बरकरार रही किन्तु इति की पेरशानी किसने समझी? वह परिस्थिति के भीतर दबकर रह गई।

दुर्गापुर जाने से पहले लोपा इति से बातें कर रही थी। उसकी बातें सुनकर इति का मन गुस्से से भर गया था। प्रवेश भी आजकल पहले जैसा नहीं रहा। पत्नी की बातों में हां में हां मिलाता रहता है, कभी कुछ नहीं कहता। इतनी बड़ी बात सुनकर कैसे चुप रह गया, क्या पता? प्रकाश होता तो..., लोपा कह रही थी कि 'ऐसे लोगों को जिन्दा रहने की क्या ज़रूरत है? मां कितने दिनों से दूसरों पर बोझ बनी पड़ी है। न जाने और कितने दिनों तक इसी तरह पड़ी रहेगी, आखिर कौनसा कर्तव्य किया है कि उसके लिए, सब कुछ छोड़–छोड़ कर बेटे श्रवणकुमार बन जायेंगें। अपने बच्चों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करने पर देव भी भविष्य में हमें ही दोषी ठहरायेंगे। इस युग में हाथ–पांव जोड़कर घर में बैठे रहने से तो नहीं चलेगा। अब भाई ने जो किया, वह कहां तक ठीक है? बूढ़ी मां के लिए अपना भविष्य बर्बाद कर लेना कहाँ की बुद्धिमानी है? मै तो कहती हूँ ऐसे रोगी को कानूनन जहर देकर मार देना चाहिए।'

लोपा की बातें सुनकर इति भीतर से कांप उठी थी। उसे लगा जैसे किसी ने पीछे से ज़ोरदार धक्का मारा हो और वह मुंह के बल गिरते–गिरते बची हो। प्रवेश ने मुंह ऊपर उठाकर भाभी के चेहरे को देखने का प्रयास अवश्य किया था, किंतु कोई बकार नहीं फूटा था, मानो किसी ने होंठ सी दिये हों। लोपा यह कैसे बोल पाई कि, 'मेरा तो कभी–कभी मन करता है कि मैं अपने हाथों ही मां का गला..., किसे पता चलेगा? आखिर कब तक इस तरह भोगती रहेंगी?'

यह सुनकर भी न जाने क्यों इति कुछ बोल नहीं पाई थी। लोपा के उस प्रस्ताव पर उसका मन क्या कहता है, इसे परखने की भी उसने कोई आवश्यकता महसूस नहीं की। न जाने मन विरक्ति की किस कंदरा में क़ैद था?

दुर्गापुर के लिए रवाना होने से पहले लोपा ने मां से मुलाकात भी नहीं की। दोनों अपनी अटैची पकड़े चुपचाप निकल गये।

इति पुनः अपनी दिनचर्या में पूर्ववत पिसने लगी। कभी–कभी प्रकाश के ऊपर मन खिन्न हो उठता। लगता है केवल वे ही लोग मां के लिए पैदा हुए हैं। सब उन्हीं की जिम्मेदारी है। सब प्रकाश का दोष है। अपनी ही किस्मत खोटी हो तो दूसरों का क्या करें?

मां खाट पर वैसे ही पड़ी रहती। कभी–कभी डॉक्टर आकर देख जाता और एकाध नई दवा लिख जाता। कुछ लाभ नहीं होने पर भी प्रकाश दवा खरीद लाता और नियमित रूप से खिलाता। उसे इस बात का संतोष था कि जो भी हो, जीवन को कोई खतरा नहीं है, लेकिन उसके होठों की इस बुदबुदाहट की ओर कौन ध्यान देता?

कुछ दिनों बाद हठात् एक दिन एक आकस्मिक घटना घटी। प्रवेश अकेले ही अचानक आ धमका, उसका चेहरा बड़ा उदास लग रहा था, सूखा–सूखा–सा। आने के बाद से कमरे में चुपचाप बैठा था। किसी से कुछ भी बोल नहीं रहा था।

शाम को प्रकाश ऑफिस से लौटा। वह इति के साथ पिछवाड़े के ओसारे पर चुपचाप बैठ गया। कुछ देर चुप रहने के बाद इति बोली, 'प्रवेश को क्या हुआ है? चेहरा मुरझाया हुआ क्यों है?'

'हां, हां, उसके दोनों पांव भी फूले–फूले से लग रहे हैं?' प्रकाश ने कहा।

'हां, मैं भी देख चुकी हूँ। क्या हुआ है, मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आता।' इति ने कहा।

'तुम नहीं जानती? उसकी किडनी खराब हो गई है?' प्रकाश ने बतलाया।

'क्या?' सुनकर इति अवाक् रह गई। लगा जैसे उसके ऊपर पहाड़ टूट पड़ा हो। बेटे जैसे देवर की यह हालत? उसने उसे हमेशा अपना बेटा ही माना था। उसकी इस अवस्था को कैसे बर्दाश्त कर पायेगी? उसकी आँखों से दो बूंद टपक पड़े।

प्रवेश से पूछने पर उसने कहना शुरू किया, 'भाभी, हठात् ऐसा क्यों हुआ, क्या पता? एक्सरे देखने के बाद मैं दंग रह गया। शायद मां का अभिशाप लग गया मुझे। इस छोटे दुलरुआ बेटे ने आख़िर क्या किया है उसके लिए? उसकी आँखों के आँसू मेरे भाग्य पर पड़ गये। कहा भी गया है कि दुःखी दिल की आह लोहे को भी जलाकर भस्म कर देती है।' प्रवेश ने निराशा की खाइयों में उतरते हुए कहा।

'छीः, यह क्या कहते हो प्रवेश। क्या मां भी कभी अपने बेटे को अभिशाप दे सकती है? तुमने ऐसा सोचा भी कैसे? भगवान ने तो मां की झोली में वरदान ही वरदान रखे हैं, उसमें

अभिशाप कहां से आ गया? पागल हो गये हो क्या, जो ऐसी बातें करते हो?' भाभी ने समझाया।

'मैं क्या करूं भाभी! लोपा ने तो खाना-पीना छोड़ दिया है। डॉक्टर कहते हैं कि किडनी रिप्लेस करनी पड़ेगी, लेकिन देगा कौन?' प्रवेश भाभी की ओर टकटकी लगाये देखता रहा।

प्रवेश के प्रश्न से सभी सोच में पड़ गये। सचमुच किडनी देकर कौन जिन्दगी बर्बाद करेगा? उस पर किडनी भी ऐसी होनी चाहिए जो मैच करे। यानी खरीदने से भी समस्या का समाधान संभव नहीं लगता।

इति प्रकाश की ओर देख रही थी। उसे लग रहा था कि हर बात में अपना बड़प्पन दिखलाने वाला प्रकाश कहीं आज भी अपनी महानता दिखलाने के लिए तैयार न हो जाए। अगर प्रकाश को कुछ हो गया तो इस परिवार का क्या होगा? कौन संभालेगा बच्चों को? उसे ऐसा करने से रोकने के लिए ही इति तिरछी नजरों से लगातार उसकी ओर देखे जा रही थी।

कुछ देर मन ही मन विचार करने के बाद प्रकाश ने अपना सुझाव दिया, 'समाचार-पत्र में निकलवा देते हैं। जो खर्च आयेगा, देखा जायेगा। हो सकता है किसी की किडनी मैच कर जाए।'

'नहीं भैया, कोई फायदा नहीं होगा। ऐसा आदमी कहां मिलेगा? छोड़िए जो भाग्य में लिखा है, उसे भोगना ही पड़ेगा। किस्मत का लिखा कौन मिटा सका है?' प्रवेश ने अपनी आँखें पोंछते हुए कहा।

हठात् बग़लवाले कमरे से गों...गों... की आवाज़ सुनाई पड़ी। मां मानो कुछ कहना चाह रही है। इस प्रकार की आवाज़ उसकी इस सोच की ही सूचना होती है। प्रकाश दौड़कर वहां पहुंचा। 'क्या हुआ? क्या हुआ?' कहते-कहते प्रवेश और इति भी उसके पीछे-पीछे उसी ओर भागे।

प्रकाश ने कहा, 'देखो, तुम लोग देख रहे हो न, मां का मुंह कैसा चमक रहा है। लगता है वह कुछ कहना चाह रही है। उसकी आँखें बोलती-सी लग रही है।'

मां के भावों को रोज़-रोज़ देखने-परखने वाली इति बोली, 'मां क्या कहना चाह रही है, मैं जानती हूँ।'

मां पुनः गों... गों... करने लगी। उसकी आँखें प्रवेश पर गड़ी थी। वह उससे कुछ चाह रही थी। पलकों की कोर से आँसुओं की पतली-पतली धारा बह रही थी। दुबली-पतली काया किसी उद्वेग से थर-थर कांप रही थी। लगता था जैसे उसके अन्दर का आशीर्वाद बाहर आना चाह रहा हो।

मां की अवस्था देखकर प्रकाश रो पड़ा। उसे मां के मन की बात समझ में आ गई। उसे लगा इस बार वह मां को रोक नहीं पोयगा। जीवनभर देना ही जिसका धर्म रहा हो, जिसकी शिराओं में हमेशा आशीर्वाद प्रवाहित होता रहा हो, उसे और कोई चिन्ता क्या हो सकती है? वह तो मां है, भगवान से भी श्रेष्ठ-सर्वोपरि।

मां के संकेत को समझकर प्रकाश गाड़ी लेने चला गया। सबने मिलकर मां को उठाया और बड़े आदर के साथ गाड़ी पर चढ़ाया। अस्पताल लेजाने के बाद आवश्यक परीक्षण किया गया। मां की किडनी के साथ बेटे की किडनी मैच कर गई। प्रवेश की किडनी रिप्लेस कर दी गई।

लोपा ज़िद करने लगी, '–मां अब मेरे पास ही रहेगी। चाहे जितनी भी असुविधा क्यों न हो, मैं मां की सेवा करूंगी, उन्हें किसी तरह की कोई तकलीफ नहीं होने दूंगी।'

लेकिन प्रकाश को लोपा का यह प्रस्ताव मंजूर नहीं था। वह निर्णय के उद्देश्य से मां की आँखों में कुछ ढूंढ़ने लगा। उसे वहाँ क्या दिखलाई पड़ा, क्या पता? किन्तु वह मां को सीधे अपने घर ले आया।

घर लेजाने के कुछ ही दिनों के बाद एक दिन अचानक मां मर गई। सबेरे उठकर इति ने जब कमरे में जाकर देखा तो मां की छाती बिल्कुल शान्त थी। सांसें स्थिर, पलकें खुली हुई और दाहिना हाथ छाती पर निश्चल–निर्लिप्त। वह इस तरह अचानक चली जायेगी, इसकी कल्पना उसने कभी नहीं की थी। उसने वहीं से प्रकाश को आवाज़ दी। वह दौड़कर वहाँ पहुंचा। मां को उस अवस्था में देखकर वह मूक बन गया। उसकी आँखों से केवल अश्रु–धाराएं बहती रहीं। उसका हृदय एक प्रकार की स्वर्गीय भावना से भर गया था। उसने इति की ओर देखकर कहा, 'तुमने देख लिया इति, मां कितनी महान् थी। उसे अपने बेटे को कुछ देना था, उसकी उम्र कुछ और लम्बी करनी थी, इसीलिए वह सब कुछ सहकर भी इतने दिनों तक बची रही, ताकि प्रवेश, उसका दुलरुआ बेटा जब सब जगह से निराश हो जाये तो वह उसके लिए आशा की किरणें बिखेर सके।'

इति की आंखों से आसुओं की धाराएं फूट पड़ीं और तब तक उसकी छाती को भिगोती रहीं जब तक उसके हृदय के अनुपात का आखिरी टुकड़ा बहकर मां के चरणों पर नहीं गिरा।

प्रकाश ने उसके कंधे पर अपना दाहिना हाथ रख दिया। इति अपनी भीगी छाती को प्रकाश की चौड़ी छाती से टिकाकर देर तक सिसकती रही।

□□□

बेचारा दरियाई शाह

• गौतम सचदेव

रेडियो पत्रकार और भाषाविद् श्री सचदेव की यह कहानी एक फिल्म के सिनेरियो जैसी है, जिसका अतियर्थाथवादी चित्रण मानवमूल्यों की हत्या की कहानी ही नहीं है, विभाजन की त्रासदी का जीवंत ख़ाका भी है।

शाम का वक़्त था और अनारकली पर हर शाम वाली जवानी आई हुई थी। दुकानें जगमग कर रही थीं और तिजोरियों के बार–बार खुलने–बंद होने की आवाजें किसी युवती के ठुमक–ठुमक कर चलने पर पायलों की रुन–झुन जैसी लगती थीं। दुकानदार जब दुकानों पर आये ख़रीदारों का स्वागत करते, तो उनकी मुस्कुराहट के साथ फैलते ओंठों से सिर की पगड़ियाँ और टोपियाँ तक थिरकती प्रतीत होतीं। तभी किसी के चीख़ने की आवाज़ आई–बचाओ, ओय मार सुट्टिया। कई दुकानदार उस ओर भागे। मिनटों में अच्छी–ख़ासी भीड़ जमा हो गई। जो लोग पहले पहुँचे थे, उन्होंने एक भयानक दृश्य देखा। शहर में सबका परिचित दरियाई ज़मीन पर पड़ा तड़प रहा था और छुरे तथा कुल्हाड़ियाँ चमकाते हमलावर लोगों को ललकारते हुए भाग रहे थे। उन्होंने दरियाई के बदन पर अनगिनत वार किये थे और एक ने मिट्टी का तेल छिड़ककर उसपर जलती तीली भी फेंकी थी। घटनास्थन पर उमड़ी भीड़ में से किसी ने अपनी पगड़ी उतारकर और किसी ने अपनी लुंगी से ही दरियाई की आग बुझाना शुरू किया। एक व्यक्ति पास वाली दवाइयों की दुकान से टिंचर और रुई ले आया। आनन–फ़ानन दरियाई की मरहम पट्टी होने लगी, लेकिन उसके घावों से खून के झरने बह रहे थे। देखते ही देखते वह अन्तिम साँसें लेने लगा।

इस शहर में और अनारकली जैसी गहमा–गहमी में सरे–बाज़ार यह वारदात और दरियाई जैसे व्यक्ति पर कातिलाना हमला। लोग दहल गये और दुकानें बंद करने लगे, लेकिन अफ़वाहों के बाज़ार गरम होने लगे। शहर में डाकू आ गये, एक तरफ़ से यह खबर उड़ी। दूसरी तरफ़ से अफ़वाह का यह तूफ़ान उमड़ा कि गुंडे हथियार ले–लेकर हमला करने

और लूट–पाट करने निकल पड़े हैं। चारों तरफ़ बदहवासी फैल गई। औरतें थर–थर काँपने लगीं। बच्चे बेतहाशा रोने और चिल्लाने लगे। उधर घटनास्थल पर यह बहस छिड़ गई कि दरियाई को अस्पताल पहुँचाएँ या कफ़न लाने की तैयारियाँ करें। तभी वहाँ से एक ताँगा निकला और कोचवान ने रुककर कहा–'ओये भलेमानसो, इसकी जान बचाओगे, या बहस ही करते रहोगे? इसे उठाकर लिटाओं मेरे ताँगे पर। मैं इसे उस डॉक्टर के पास ले चलता हूँ, जो मुर्दों में भी जान डाल देता है।' यह कहकर कोचवान ने ताँगे के बीच वाला पटरा उठा दिया और घायल को लिटाने की जगह बना दी। जब अधमरे दरियाई को सीट पर लिटाया गया, तो उसकी टाँगें नीचे लटक रही थीं और इधर से उधर झूलते हुए मानो दुबारा जीवित हो उठने से इनकार कर रही थीं।

हिचकोले खाता ताँगा दरियाई के लुढ़कते बदन को लेकर चल पड़ा और पीछे–पीछे उसके हितैषी भागने लगे।

अँधेरे में ताँगा किधर जा रहा है, किसी ने नहीं सोचा। जब वह एक सुनसान बियाबान मवेशी अस्पताल के दरवाज़े पर पहुँचा, तब लोगों को होश आया कि वे कहाँ पर हैं। किसी ने यह भी नहीं पूछा था कि ताँगा किसका है और कहाँ से आया है और न ही यह कि कोचवान कौन है। 'चलो, ले चलो अन्दर। यहीं मुर्दों में जान डालने वाला डॉक्टर रहता है'–कोचवान ने एक तरफ़ से दरियाई के बदन को उठाते हुए कहा। दूसरी ओर से उसकी पीठ और टाँगों को सहारा देने वाले आगे बढ़े। दरियाई को अँधेरे कमरे के एक तख़्त पर लिटा दिया गया।

दरियाई कौन था, यह जानने की ज़रूरत शहर वालों ने कभी नहीं समझी थी। वे तो उसकी उम्र भी नहीं जानते थे। लोग समझते थे वह उतना ही बूढ़ा और बुज़ुर्ग है, जितना उनका शहर। कुछ लोगों के लिए वह सिद्ध पुरुष या औलिया था, कुछ के लिए अफ़ीमची, नशेड़ी या ओझा। वह शांतिप्रिय एक बहुत मामूली इनसान भी था और अमृत पीकर आया हुआ क्रांतिकारी भी। मतलब यह कि वह सब कुछ था, शहज़ादा भी, कंगला और फक्कड़ फ़कीर भी, अंग्रेज़ों का दोस्त टोडी बच्चा भी और उनका दुश्मन सुराजी भी। लोग उसके पीछे दीवाने होकर झूमते थे और मौक़ा पड़ने पर दुत्कार कर भगा भी देते थे। पता नहीं उसका नाम दरियाई कब और कैसे पड़ा। शायद वह दरियादिल था या दरियाओं की तरह बेरोक–टोक चलता–फिरता था। न जाने उसके पास कौन–सा खज़ाना था कि उसके झोंपड़े से कोई खाली हाथ नहीं लौटता था। वह पेट भरकर खाता और खिलाता था और हमेशा मीठी नींद सोता था। अपने चाहने वालों के लिए वह दरियाई शाह था, भंगड़े का ढोलची। वे उसके साथ रंगरेलियाँ मनाते, गाते और नाचते थे, लेकिन उस पर घातक हमला करने का विचार उसके विरोधियों तक में कभी किसी को नहीं आया था। पुलिस उसे डंडे मारती थी, तो बुलाकर मालपुए भी खिला देती थी। वह सबका चहेता भी था और बेग़ाना भी।

जब डंगर डॉक्टर मुहम्मद रामसिंह धुएँ से काली लालटेन लेकर अस्तबल–नुमा ऑपरेशन थियेटर में पहुँचा, तब तक दरियाई शाह के ज़िंदा होने के संकेत लगभग मिट चुके थे। उसकी खून से लथपथ और अधजली देह को देखकर एक'बार तो वह तथाकथित संजीवनी फूँकने वाला डंगर डॉक्टर भी हतप्रभ हो गया। फिर अपने पर क़ाबू पाते हुए उसने सबसे ज़रा परे हट जाने और मरीज़ के लिए ताज़ा हवा छोड़ देने का आग्रह किया। दरियाई को लाने वाले कोचवान ने डॉक्टर की तारीफ़ के पुल बाँधते हुए कहा, 'आपने अब तक डॉक्टर साहिब के हाथों सिर्फ़ अपनी गउओं, भैंसों, भेड़–बकरियों और घोड़े–घोड़ियों की बीमारियों का इलाज़ होते ही देखा था। लो आज देखो, इस जादूगर का एक और कमाल।'

वह डंगर डॉक्टर कब खिसककर कपड़े बदलने चला गया था, यह किसी ने नहीं देखा। जब वह पुनः प्रकट हुआ, तो वह सचमुच जादूगरों की पोशाक में था। उसने सलमे–सितारों और कशीदाकारी वाला नीला रेशमी चोगा पहना हुआ था और सिर पर वैसी ही पगड़ी बाँध रखी थी, जिस पर मोतियों की लड़ियाँ झूल रही थीं। सब लोगों ने स्वचालित रूप से घेरा चौड़ा कर दिया। तभी डॉक्टर ने कोने में रखा ज़ंग खाया एक लम्बा चाकू उठाकर बुदबुदाते हुए काटम–घाटम–जलम मौत–ज़िंदगी–मल्हम जैसा कोई मंत्र पढ़ना शुरू कर दिया। फिर वह दरियाई शाह की क्षत–विक्षत देह के चारों ओर प्रदक्षिणा करने लगा। पलक झपकते ही डॉक्टर मुहम्मद रामसिंह ने चाकू से देह पर गहरा वार किया और उसका पेट वैसे ही चीर दिया, जैसे जादूगर तमाशों में करते हैं और लड़की को दो हिस्सों में काटकर, दुबारा जोड़ देते हैं। ऐसे लगा जैसे दरियाई शाह हल्का–सा काँपा है, लेकिन फिर वह एकदम ठंडा हो गया। चारों ओर खड़ी भीड़ चीख़ उठी।

डॉक्टर मुहम्मद रामसिंह ने सबको शांत रहने के साथ तसल्ली देते हुए कहा – 'घबराइये नहीं। अभी मुर्दा ज़िंदा हो जायेगा।'

इस बीच वहाँ कुछ औरतें भी पहुँच गई थीं। वे एक साथ छाती पीटने और स्यापा करने लगीं। डंगर डॉक्टर ने गरजती हुई आवाज़ में हुक्म दिया–'ख़बरदार, कोई चूँ भी नहीं करेगा। यह इस शहर, बल्कि इस पूरे मुल्क के लिए ज़िंदगी–मौत का सवाल है।'

लोग दीवानों की तरह रोते हुए भी सकते में आ गये। बाहर कुत्ते, गीदड़ और उल्लू बोलने लगे। ऐसे लगा जैसे चाँद से ख़ून टपक रहा हो और ज़मीन उसे ग्रहण करने के लिए दामन बिछा रही हो। अचानक मवेशी अस्पताल के पास वाले काँजी हाउस की बाड़ तोड़ते हुए लोगों की भारी भीड़ ने अस्पताल पर धावा बोल दिया। उनके सिर पर लाल टोपियाँ थीं और बदन पर लम्बे कुर्ते तथा लुंगियाँ। वे मारो, काटो, कोई जाने न पाये, सब शैतान हैं, सबको जहन्नुम पहुँचा दो आदि कहते हुए उस कमरे में आ घुसे और जो दिखाई दिया, उस पर छुरों, कुल्हाड़ियों, किरपानों, बरछों और बंदूकों से हमला करने लगे। बहुत–से लोग मारे गये या कुचले गये। वहशियों की तरह सबको कुचलते हुए हमलावर मवेशी अस्पताल को तोड़ने और आग लगाने लगे। तभी अस्पताल के सदर दरवाज़े को तोड़ते हुए हमलावरों का

दूसरा रेला आया। उनकी पोशाकें भिन्न थीं और उनकी लम्बी दाढ़ियाँ और मूँछे थीं। उन्होंने सिर पर पगड़ियाँ बाँध रखी थीं और उनके हाथों में किरपानें चमक रही थीं। यह दूसरा जत्था पहले जत्थे के साथ तथा भागते हुए लोगों से गुत्थम–गुत्था होने लगा। बीमार मवेशी रँभाने, रेंकने और चिल्लाने लगे। और फिर वह चमत्कार हुआ, जो आज तक किसी ने नहीं देखा था। दरियाई शाह की कटी हुई देह के दोनों हिस्से उठकर नाचने लगे। मुर्दे को ज़िंदा देखकर हत्यारों का तांडव नृत्य रुकता–सा दिखाई दिया।

कुछ लोगों ने शोर मचाकर जादूगर से आग्रह किया कि जल्दी से दोनों हिस्सों को जाड़ो, लेकिन डॉक्टर को जाने क्या सूझा कि उसने चाकू फेंककर दोनों हाथ ऊपर उठा दिये। वह सबको सुनाता हुआ बोला–'नहीं, अब कुछ नहीं हो सकता। मैंने पहले ही सबसे कहा था कि शांत रहना, यह ज़िंदगी मौत का सवाल है, लेकिन आपने मेरी बात को कोई महत्त्व नहीं दिया। मेरी सिद्धि केवल शांति में ही काम करती है, दंगे या हिंसा में नहीं।'

'हम तुम्हारे टुकड़े कर देंगे, वर्ना देह के दोनों हिस्सों को फ़ौरन जोड़ दो'–क्रुद्ध भीड़ ने जादूगर को ललकारते हुए कहा।

'मैंने कहा न मैं कुछ नहीं कर सकता'–मुहम्मद रामसिंह ने जादूगर का चोग़ा और पगड़ी उतारकर फेंकते हुए कहा।

'हम तुम्हारा खून पी जाएँगे'–भीड़ की इस धमकी को सुनते ही, उस डंगर डॉक्टर ने चुनौती देते हुए कहा–लो दिखाओ पीकर।

भीड़ ज्योंही उस डॉक्टर को पकड़ने के लिए आगे बढ़ी, वह अपने चमत्कार के बल पर सबके बीच से हवा की तरह ग़ायब हो गया।

तब कुछ ज़ोरावर लोगों ने दरियाई शाह की देह के नाचते हुए ऊपरी हिस्से को उठाया और भाग निकले। जब तक बाक़ी लोगों की समझ में आये कि उन्हें क्या करना चाहिए, उन्हें तख़्त पर दरियाई शाह की देह का केवल निचला हिस्सा ही उछलता और कूदता हुआ मिला।

पौ फटने लगी थी और पूर्व की ओर से आती मौन भोर की लाली मुआयना करती हुई–सी पग बढ़ाने लगी। उसने देखा चारों ओर इन्सानों और पशुओं की कटी हुई लाशें बिखरी हुई थीं और घायल तथा बेजान–से कुछ लोग दरियाई शाह की देह के निचले ज़िंदा हिस्से को उठाये, मुर्दा क़दमों से पूर्व की ओर जा रहे थे।

□□□

डायरी कथा

एक कथाकार के दंद-फंद

● राजकुमार गौतम

एक मुझ–जैसा अहमक जो खुद को लेखक मान लिये जाने में अपनी साँस का अस्तित्व पाता है, हिसाब लगाने पर लगा कि साल में बमुश्किल तीस–पैंतीस पेज़ ऐसे लिखे गए हें जो मेरे साथ दस–पाँच कदम चल सकते हैं, बाकी तो सब का सब कूड़ा। जैसे पंडित वेदी के चारों ओर का चौक पूरता है, पूजा पूरी होती है और उसके बाद न 'ॐ' का मतलब, न मिट्टी के डेले पर लाल कलावा बाँधकर गणेशजी बनाने का कोई मतलब! सो, बंधुवर राजकुमार गौतम! लानत है तुम पर कि पूरे साल जिये तो, मगर डायरी के कोरे पृष्ठ तुम्हारा इंतज़ार ही करते रहे.....

24 दिसंबर, 1988

आज सुबह पौने पाँच जैनेन्द्र जी ने देह–त्याग किया।

ओह! जैनेन्द्र कुमार!

पिछला पूरा सप्ताह भाग–दौड़ में बीता। आज सुबह उठाया गया तो समय हो चुका था साढ़े आठ। आज के दिन क्या करना है, कुछ भी साफ नहीं था। तैयार होकर यूँ ही कागज़ उलटने–पलटने लगा। 'यह कर लेते हैं, या वह कर लेते हैं' वाली अनिश्चय की हालत में! तभी (11-40 के करीब) 'इंडिया टुडे' से एक सज्जन आए और श्री विजय क्रांति की लिखी एक चिट्ठी थमा गए। उनकी चिट्ठी से पता लगा कि जैनेन्द्र जी नहीं रहे और 'जड़ की बात' की समीक्षा चाहिए, आज शाम तक!

मन पर अचानक एक भारी पहाड़ ढह पड़ा। एक आशंका को खबर बनता देख, कैसा अज़ीब लगता है। रेडियो खोला। सोचा कि शायद बारह वाली न्यूज़ में खबर हो। इंतज़ार किया, मगर जैनेन्द्र जी के बारे में कोई शब्द नहीं।

घर से निकलकर सीधा 'इंडिया टुडे' गया। विजय जी को कहा कि समीक्षा में यदि कल–परसों तक गुंजाइश मिल सके तो बेहतर रहे। उन्होंने बात की, मगर पता लगा कि वह पेज़ जिस फॉर्म में है, उसे कल छूटना है। मैंने रात आठ–साढ़े आद तक का समय माँगा। उन्होंने कहा, ठीक है।

सोचा, शायद हिमांशु जोशी मिल जाएँ तो साथ चलें। पता लगा कि वे 'वहीं' हैं। थोड़ी देर के लिए 'दैनिक हिंदुस्तान' गया, विजयकिशोर मानव के पास। वहाँ से स्कूटर लेकर सीधा पहुँचा भारती नगर। जैनेन्द्र जी के घर।

दर्शन किए। पीड़ा–मुक्त जैनेन्द्र जी! शोक–पुस्तिका में लिखा : आपको मौत नहीं मार सकती क्योंकि शब्द आपकी आत्मा हैं और कृति देह।

वहाँ से निगमबोध घाट पहुँचे। चार बजे विद्युत शवदाह संपन्न।

करीब दो–ढाई सौ साहित्यकार, परिवारजन। सारे दलों को फलाँगते लोग; अपने–अपने 'बाड़ों' के अनुशासन की अवज्ञा करते साहित्य जन! उदासी!

पाँच बजे घर पहुँचा। 'जड़ की बात' को याद करने के लिए पूरी किताब को पलटा। सीधे लिखा और कागजों में पिन लगाकर पौने नौ के करीब 'इंडिया टुडे' में सौंप आया। टी०वी० की इंग्लिश न्यूज में पंद्रह–बीस सैकेंड का न्यूज आइटम था।

कल दिन में ग्यारह बजे उनके घर 'उठावनी' है। जाऊँगा।

साहित्यकार की भूमिका समाज में हो (भी) सकती है, इस बात को जैनेन्द्र जी ने अपने जीवन में साबित किया है।

सोचता हूँ कि 'जैनेन्द्र कुमार मार्फत इन्द्र' शीर्षक से एक स्मरण लिखूँ। कल या परसों। आज का दिन स्थिर होता है–कल बड़ा दिन होगा, मौसम का पहला। मगर हिंदी साहित्य के लिए यह 'छोटा' दिन होगा।

1 जनवरी, 1989

चलो, अच्छा हुआ! इस जिंदगी में '88 अंक वाला एक पूरा साल जीने को मिल गया, सुरक्षित। एक साल जीवन में और कम हुआ। पिछले दो–तीन दिन गए साल की शव–परीक्षा करता रहा। कई–कई बार सींवन उधेड़ी, बार–बार पोंछकर देखा। आँखें गड़ाकर घूरा। मगर भीतर से जो उत्तर हर बार सुनाई पड़ा, वह था–महाबेकार!

एक मुझ–जैसा अहमक जो खुद को लेखक मान लिये जाने में अपनी साँस का अस्तित्व पाता है, हिसाब लगाने पर लगा कि साल में बमुश्किल तीस–पैंतीस पेज़ ऐसे लिखे गए हैं जो मेरे साथ दस–पाँच कदम चल सकते हैं, बाकी तो सब का सब कूड़ा। जैसे पंडित वेदी के चारों ओर का चौक पूरता है, पूजा पूरी होती है और उसके बाद न 'ॐ' का मतलब, न मिट्टी के डेले पर लाल कलावा बाँधकर गणेशजी बनाने का कोई मतलब! सो, बंधुवर राजकुमार गौतम! लानत है तुम पर कि पूरे साल जिये तो मगर डायरी के कोरे पृष्ठ तुम्हारा

इंतजार ही करते रहे, दिल और दिमाग़ में घुमड़ते विचार, पात्र, भाषा–भाव ...... सब तुम्हें देखा किए और अफसोस किया किए! मगर वे ही बेचारे क्या कर सकते हैं, तुम्हारी प्रतिष्ठित बेशर्मी के सामने?

इस बीच मराठी लेखक अंजन कुमार की 'शायरा/आमेन' किताब पढ़ी जो कि क्रमशः मीनाकुमारी और गुरुदत्त के निजी जीवन पर आधारित उपन्यासिकाएँ हैं। बेहद रोचक। इस तरह की 'आधारित' चीजें जो आंशिक रूप से या अधिकांशतः जेनुइन हों, लिखी जानी चाहिएँ। दूसरे, आज फिल्म देखी–'द लास्ट एंपरर'। इस फिल्म को कई ऑस्कर सम्मानों से सम्मानित किया गया है–ऐसा मुझे कुछ याद पड़ता है। वाकई है भी बेहद जीवंत।

यह भी सोचा है कि अब पढ़ने–लिखने, लाइब्रेरी को स्वस्थ बनाने तथा कुछ पांडुलिपियाँ तैयार करने के साथ–साथ इस वर्ष एक टाइप मशीन भी ली जाए ताकि फेयर करनेवाले उबाऊ काम से थोड़ी राहत मिले। यह भी तय पाया गया कि जितनी भी चीजें इंटरेस्टिंग लगें, उन्हें डायरी में ज़रूर लिखा करूँ, वह किसी भी स्तर की हों। जैसे, आज जब फिल्म देखने प्रगति मैदान गया तो वहाँ एक ठिगनी, स्थूल मगर सुंदर लड़की को देखा जो दोनों चप्पलों को बहुत खचेड़कर चल रही थी। खचेड़ इतनी अधिक थी कि उसकी आवाज देर तक कानों में बजती रही। फिर ध्यान गया कि उसकी जाँघें और पिंडलियाँ इतनी भारी थीं कि वह प्रयास करने के बावजूद कदम भरते वक्त पंजे को जमीन से उठा न पाती थी!

15 अप्रैल, 1989

कल दफ्तर की छुट्टी थी। आज भी है और कल भी रहेगी। दफ्तर खुलता है तो जैसे तनावों के नरक में अपने आप कदम ढोकर ले जाते हैं। काम–काम–काम और साला काम! काम के महाजिन्न और अफसरों के दिल की ज़गह रखे पत्थर, ज़बान की जगह अग्निबाण और कलम से निकलते शब्द की जगह छोटे–बड़े साँप–सपोले! खुले दफतरवाले दिन इन्हीं से माथा टकराते बीतते हैं। इस देश में आदमी को अपने 'अयोग्यतम' होने का प्रमाण–पत्र लेना हो तो वह किसी दफ्तर में चाकरी ज़रूर करे। आटे और पानी से बनी रोटियाँ, दाल और मौसम की सस्ती सब्जी, एक सुअरों के दड़बे–जैसा मकान और घिसे–फटे हुए जूतों–कपड़ों के हाहाकार के बीच रहना–एक आम सरकारी नौकर का जीवन है।...कहने का कुल मतलब यह कि इस सबमें सारा वक़्त फिसल जाता है। न कुछ अच्छा सोचने की मानसिकता रहती है, न लिखने की और न ही किसी से बतियाने की! साहित्य की बात करना तो मानो महापाप लगता है!...मगर साहित्य से भी अपनी यारी इतनी पक्की जान पड़ती है कि खयाल बिना आए ना बने!

अब प्रश्न यह उठता है कि इन परम विरोधी ध्रुवों की यात्रा एक–साथ कैसे संभव हो? कैसे मुमकिन हो कि एक छोटा–मोटा साहित्यकर्ता भी बना रहूँ और नौकरी के जरिए रोटीजीवी भी! कैसे आसान हो कि दिमाग़ और शरीर को सुरक्षित रख सकूँ दो भागों में–(एक) साहित्य और (दो) नौकरी! दिमाग़ और शरीर की जो प्राकृतिक संरचना और सीमा

है, उससे कैसे पार पाँऊ! मन के संचालन के लिए साहित्यिक गियर और दफ्तरी गियर को कैसे प्लांट करूँ। और सब! इसी द्वंद्व में अपनी छुट्टियाँ बीत जाती हैं....सिरदर्द हो जाता है या फिर छत पर अलिखित आयतों को 'पढ़ने' का रोग उभर आता है। बच्चे धीरे-धीरे बड़े हो रहे हैं, पत्नी की पत्नीनुमा 'किच-किच्च-किच्चच' भी स्वभावत: बढ़ती ही जा रही है। जैसे उसे ऐसा 'राजकुमार गौतम' नहीं चाहिए था जैसा कि यथार्थत: मैं हूँ। वैसे ही उसे एक सफल दुनियादार पति चाहिए था। वह मुझे 'डाँटती' और 'समझाती' है, मैं उसे संन्यासी भाव से देखता हूँ, कई बार पीछा छुड़ाने की गरज़ से डाँट देता हूँ या लड़ लेता हूँ। बाद में मुझे लगता कि मेरे लेखन के लिए पत्नी एक प्रामाणिक और अत्यावश्यक रिपोर्टर है; नहीं तो मुझे पता न चले कि दुनिया में आकांक्षाएँ किसे कहते हैं, सामाजिकता किस जंगली बिल्ली का नाम है और पति नामक व्यक्ति को गृहस्थी का गधा क्यों कहा जाता है? ऐसे विरोधाभास मुझे कुछ कहानियों के एक-दो पैराग्राफ देते हैं, कोई व्यंग्य सुझाते हैं या कुछ संवाद-क्षमता को ही प्रवीणता देते होंगे! अस्तु!

तो हे प्राणनाथ राजकुमार जी गौतम! और सुनाओ, तुम्हारी साहित्यिक दुनिया के क्या हाल-चाल हैं? अरे भई, कुछ न पूछो। 28 मार्च को एक कहानी शुरू की थी, अभी मुश्किल से चौथे पेज पर पहुँचा हूँ। छह पृष्ठों में जाएगी। आज सुबह पाँच बजे जागा था कि दो-चार लाइन लिखूँगा, मगर इस मुई डायरी से उलझ बैठा। आज दिन-भर भागना-दौड़ना है। उड़िया कथाकार प्रतिभा राय का उपन्यास 'कोणार्क' पढ़ना है, लिखना है। और भी एक हज़ार काम करने हैं! किस-किस को याद कीजिए, किस-किस को रोइए!

19 अगस्त, 1989

शनिवार और रविवार-दो छुट्टी के दिन होते हैं। पता नहीं क्या-क्या-क्या करने.... कहाँ-कहाँ-कहाँ....जाने की बात पूरे सप्ताह सोचा करता हूँ। मगर जब ये दिन आते हैं तो मन एकदम बैठ जाता है। बहुत ही खराब लगता है कि कंधे पर थैला लटकाए आप इस पत्रिका से...उस अखबार के दफ्तर में चक्कर लगाते घूम रहे हैं और लोगों से एक ही बात सुन रहे हैं-'अच्छा! ...तो आज शनिवार है!'

शायद यह नियति मुझ-जैसे छुटभैया लेखक की ही हो सकती है जो कि लेखकीय गरिमा के विषय को पीते रहकर, नीलकंठ बन जाने को अभिशप्त हैं। लगता है (हालाँकि यह 'लगता है' ग़लत है) कि कहीं न जाएँगे तो कोई काम न देगा/कोई याद नहीं करेगा...वगैरह! मगर देखा यह जाता है कि लोगों को केवल और केवल काम के लिए ही लंबे समय तक याद रखा जा सकता है। अब इसी बात का उदाहरण लो कि फिल्मी दुनियावाले व्ही० शांताराम ने अपने जीवन में कितना काम किया-यह उनकी आत्मकथा 'शांतारामा' से पता किया जा सकता है। पिछले क़रीब एक महीने से यह किताब मैं जब-तब समय निकालकर पढ़ रहा हूँ। अभी डेढ़ सौ के क़रीब पृष्ठ बाकी हैं (कुल पृष्ठ 640-42)। पिछले दिनों एम०टी० वासुदेवन नायर का उपन्यास--'चार दीवारों में' तथा फकीर मोहन सेनापति का उपन्यास

'छै बीघा ज़मीन' भी पढ़े। दुर्गा भागवत की किताब 'व्यासपर्व' को दो बार पढ़ा। बहुत ही उम्दा क़िताब है। लगा कि आदमी किसी ग्रंथ का 'मालिक' बने तो ऐसे ही ठसके से जैसे कि लेखिका बनी है–महाभारत की।

31 मई, 89 (?) के 'इंडिया टुडे' में उड़िया लेखिका प्रतिभा राय के उपन्यास 'कोणार्क' की समीक्षा छपी थी। 31 जुलाई, 1989 का अंक आया तो उसमें भी वही समीक्षा! वहाँ फोन किया तो पता लगा कि उस पेज़ का निगेटिव 'होल्ड ओवर' में पड़ा रह गया था, इसीलिए....। कभी–कभी कैसा मज़ा आता है? 27 जुलाई, 1989 से आकाशवाणी की राष्ट्रीय प्रसारण सेवा को दिल्ली के मीटर से जोड़ा गया–दिल्ली क्षेत्र को भी शामिल किया गया। उसी दिन की 'विविधा' में मेरी लघुकथा का प्रसारण हुआ–'प्रेम दिवस' का। उसे प्रियवर लक्ष्मीशंकर वाजपेयी ने पढ़ा भी खूब बढ़िया। सुनकर मज़ा आया। एक दिन साहित्य अकादेमी की तरफ से बिज्जी यानी विजयदान देथा की कहानियों का पाठ था। उन्होंने दो कहानियाँ सुनाईं। एक बढ़िया अनुभव था बिज्जी को सुनना।

20 दिसंबर, 1989

राकुगौ : डायरी जी, प्रणाम!

डायरी : कौन, गौतम जी? प्रणाम....प्रणाम भई! आज इधर कैसे?

राकुगौ : रहता तो मैं हमेशा इधर ही हूँ–अपनी डायरी जी के पास...मगर शब्दों में जरा कम ही बँध पाता हूँ। और आपका अस्तित्व तो शाब्दिक चौले के बग़ैर है ही नहीं। क्यों, सही कह रहा हूँ ना?

डायरी : सही...और व्यंग्यपूर्ण भी! मेरा चोला आपकी मजबूरी का ही तो शरीर ठहरा। मैंने तो किसी से कभी आग्रह किया नहीं कि मेरे कोरे पन्नों को काला करो ही करो। फिर तुम भी तो ऐसा सोचते हो ना कि मानना या जानना–दोनों ही कहने से बड़ी चीज़ें होती हैं। कहकर तो तुम बात को झूठा ही बनाते हो न? मगर फिर भी मुझे यह शिकायत है कि तुम बहुत कृपणता से खुद को 'झूठा' बना रहे हो?

राकुगौ : अब बताओ, लिखूँ क्या? जब भी लिखने बैठता हूँ तो लगता है कि जीवित शब्दों का मेरे पास बड़ा अकाल है, दिमाग़ के निर्देशन में भाषा का संगीत एकदम गड़बड़ा जाता है। दिमाग़ में उपजनेवाले तमाम बिंब अकारण अनशन करते हैं और मर जाते है....अब बताओ, कितनी बार लिख–लिखकर अपने आपको असफल लेखक सिद्ध करता जाऊँ...शर्म भी तो कोई चीज़ आखिर होती ही है।

डायरी : अरे! शर्म और तुम्हारे पास? तौबह! तौबह!! देखो, अगर शर्म का ढोंग तुमने पाला भी हुआ है तो उसे उतार फेंको। वह जो एक पार्टी का

नारा है ना कि 'गर्व से कहो हम हिंदू हैं'–उसी स्टाइल में तुम सुबह–दोपहर–शाम चीखते हुए कहा करो, 'गर्व से कहता हूँ मैं लेखक हूँ'।

राकुगौ : मगर किसी गर्वदारी के पास तो साहित्यिक संवेदन फटक ही नहीं पाता है। मैं तो खुद को शून्य की ओर ले जाने की साधना में रत रखना चाहता हूँ। दिन में दो–चार बार झूठ बोलना पड़ जाए तो खून का कीचड़ बन जाता है। बंबईवाली पत्रिका 'कथाबिंब' में 'आमने–सामने' कॉलम के तहत जो छोटा–सा आत्मकथ्य छपा है, उसी को लेकर पत्नी कह रही थी कि 'कोई पढ़ेगा तो भला क्या कहेगा?' उसका इशारा शायद ग़रीबी और भुखमरी को लेकर था। तो ऐसे सब माहौल में मैं कैसे कहूँ कि वाकई लेखक बनने के गुण मेरे भीतर हैं?

डायरी : गुण नहीं हैं तो पैदा करो।

राकुगौ : साफ कहूँ...तो, हिम्मत नहीं पड़ती।

डायरी : कोई बात नही...जितनी हिम्मत है, उतनी तो सही–सही खर्चो! किसी को चोरी करके तुम 'असफल' नहीं हुए ना! यह 'असफलता' तुम्हारे प्रयास का अधूरापन है–ऐसा भी तुम मान सकते हो। शाबाश! जुट जाओ काम में। कम ऑन!

राकुगौ : हाँ, कुछ–कुछ तो करता ही रहा। दो–एक किताबों की समीक्षा लिखी। कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' (शायद दोबारा) पढ़ी। शिंजी ताज़िम की कहानी 'Where does Spring come from' का अनुवाद किया। अपनी कहानी 'कर्ज़मुक्त' को पूरा किया... गोष्ठियों में भाग लिया...क्रिकेट मैच देखे...वोट दी और पुरानी सरकार से विदाई लेते देश को देखा...नौकरी–मैया का पूरा खयाल रखा.... विनोद भट्ट द्वारा लिखित 'चार्ली चैप्लिन' रेखाचित्र पढ़ा...और...

डायरी : बस...बस्स! रहने दो। तुमने अपना क्या लिखा? उस दिन हिसाब लगाकर तो देखा था कि केवल 30-35 पृष्ठ। न कहीं घूमना, न फिरना, न संवाद, न स्वाद!

राकुगौ : और हाँ...ताराशंकर वंद्योपाध्याय का 'गण देवता' जो पढ़ा और उसकी टिप्पणी जो आकाशवाणी से प्रसारित हुई....

डायरी : ठीक है...ठीक है! इसे मैं एक काम मान सकती हूँ। मगर अब तुम्हारा क्या कार्यक्रम है ?

राकुगौ : कार्यक्रम जो पहले थे, वही पूरे न हुए। 10 दिसंबर, '89 को चाय पीना पुनः आरंभ कर दिया। एक सौ दिन तक चाय के स्वाद के प्रति पूर्ण ब्रह्मचर्य रहा। दोस्तों में थोड़ी खलबली रही...विल–पॉवर पर थोड़ा भरोसा बढ़ा। 'साक्षात्कार', 'हंस', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'सारिका' आदि पत्रिकाओं से भी कुछ न कुछ पढ़ता ही रहा। आज दफ्तर से छुट्टी मारी...कुछ काम करने के लिए, कहीं आने–जाने के लिए...कुछ देखने–भालने के लिए।

डायरी : तुम, इतना (?) काम किया–यह बताकर मुझे आक्रांत करने की कोशिश कर रहे हो–रोज़ाना मुझे पाँच–दस मिनट दिया करो, तो जानूँ!

राकुगौ : देखिए डायरी जी, मैं भविष्य के लिए कुछ प्लानिंग कर रहा हूं–अरे, यही लिखने–पढ़ने की। सोचता हूँ कि 1 जनवरी, 1990 से इस पर अमल शुरू कर दूँगा। अभी फाइनल नहीं हुई है...

डायरी : जितनी हुई है, उतनी तो बता दो...

राकुगौ : हो जाने पर तुम्हीं को तो बताऊँगा। अच्छा...विदा!

10 फरवरी, 1990

परसों शाम जो फिल्म देखी–'बीयर ये वन एनदरज बर्डनज़' उसके निर्देशक थे लोथर वार्नेक। जीएफआर (जर्मन) की फिल्मों के समारोह का उद्घाटन था। हमारे एकाउंट्स ऑफिसर को डायरेक्टरेट फिल्म फेस्टिवल्स में प्रतिनियुक्ति मिली है। उन्होंने ही पास दिया। जीएफआर की फिल्में मुझे बहुत लुभाती नहीं हैं, फिर भी राव साहब (ए०ओ०) का मन रखने की खातिर चला गया। लगा, कि मेरे द्वारा दिए गए पास का जब कोई इस्तेमाल नहीं करता है तो मुझे कैसा लगता है?

और फिल्म देखना अच्छा ही रहा। बेहद सुंदर छायांकन और प्रोवोकिंग थीम। लेनिन भक्त युवा पुलिस ऑफिसर को जो रूम पार्टनर मिलता है वह सच्चा ईसाई। एकदम धार्मिक। दोनों में आपसी टकराव और अंततः जिंदे इंसानों के प्रति दोनों की ही आस्था। एक यही बिंदु है, जहाँ वे दोनों मिलते हैं।

छह फरवरी को साउथ कोरिया की फिल्म Aje Aje Bare Aje (Director-Im known talk) यानी 'कम, कम, कम, अपवर्ड' देखी। इसकी नायिका ने बहुत सुंदर अभिनय किया है। लगता है कि धर्म और दर्शन–ये दो ऐसी चीज़ें हैं जो आदमी की सोच को सबसे ज्यादा मथती हैं। आदमी जीने या जीते चले जाने से अधिक ज़िंदगी के होने या न होने के अर्थों में स्वयं को बराबर ठेलता है। जीवनगत व्यवहारों का नंबर शायद दूसरा ही है। गौतमबुद्ध ने महल–राजपाट त्यागा, मगर एक साधारण जन अपने स्तर पर, जब

विमुक्ति चाहता है तो वह महल और राजपाट के सपनों को, उसकी आकांक्षाओं को त्याग देता है। मुझे तो इस बात में बुद्ध और उस साधारण जन की नीयत में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। सवाल उपलब्धियों के अर्जन का अलग है।

सोये हुए या लगभग अपंगता को प्राप्त विचार-चैतन्यता को बुरी तरह झिंझोड़ने वाला एक और आध्यात्मिक गुरु-ओशो रजनीश-19 जनवरी, '90 को सदा के लिए चुप हो गया। ओशो की मौत पर मैं दो दिनों तक बौराया रहा। रजनीश की काफी पुस्तकें मेरे पास थीं, मगर उन सबको एक छद्म रिश्तेदार ने मुझसे ले लिया और फिर कभी लौटाया नहीं! फिलहाल इतनी क्षमता मेरे पास है नहीं कि उनकी पुस्तकें खरीद सकूँ। लेकिन यह लगता ज़रूर है कि अगर किसी पुस्तकालय में रजनीश की किताबें नहीं हैं तो वह अपूर्ण है। इसी दौरान कुछ साहित्य खरीदा और पढ़ा है। एक संक्षिप्त टिप्पणी भी लिखी जो 28-1-90 के 'दैनिक हिंदुस्तान' की रविवासरीय पत्रिका में प्रकाशित हुई। कल या परसों के अखबार में खबर थी कि रजनीश के हस्ताक्षरोंवाली एक पुस्तक सात लाख रुपए में नीलाम हुई। अपने नाम में ऐसा क्रेज़ पैदा करना कितनों के बलबूते की बात है?

तो...इस नए साल के भी चालीस दिन गए! इन दिनों में बलराज साहनी के जीवन पर लिखी भीष्म साहनी की किताब 'मेरे भाई बलराज' पढ़ी। भीष्म जी में सरल बनाकर चीजों को लिखने का अद्भुत कौशल है। पता नहीं, यह गुण मुझसे इतनी दूर क्यों हैं, मुझे यही समझ में ही नहीं आता कि एक गहरी बात को सरल कैसे बनाया जा सकता हे, जबकि भीष्म साहनी, प्रेमचंद वग़ैरह को पढ़ता हूँ तो ऐसा लगता ही नहीं कि कोई महत्त्वपूर्ण बात कहने से वे इसलिए चूक गए हों चूँकि उसे गंभीर भाषा की दरकार थी! वाकई यह फन है जो हर किसी को नहीं मिलता। हाँ, तो बलराज साहनी की बात...इसके पहले भी बलराज की दो किताबें-'मेरा रूसी सफरनामा' तथा 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' मैंने पढ़ी हैं और इन दोनों ही किताबों का मैं मुरीद हूँ। मगर भीष्म जी की इस किताब को पढ़ने से बलराज के व्यक्ति में और कुछ प्लस होता जरूर है। खास तौर से गांधीजी के साथ सेवाग्राम वाले प्रसंग में। मगर लगता ये है कि जब बलराज फिल्मों के हो गए तो उनके जीवन का भीष्म जी को कुछ ज्यादा पता है नहीं। तभी तो वे जगह-जगह बलराज के आत्मकथात्मक टुकड़ों को देकर काम चलाते हैं। यह भी एक पठनीय तथा संग्रहणीय पुस्तक है।

सो, पिछले साल की अंतिम मिनट 60 सेकेंड की हुई, एक सेकेंड तक विश्व-भर की घड़ियाँ थमीं और फिर टिक्-टिक्...। और अब यह नया साल दौड़ रहा है।

26 फरवरी, 1990

23-2-90 की शाम सवा पाँच बजे लखनऊ में आदरणीय अमृतलाल नागर भी चले गए। साहित्य के आकाश पर पिछले पचास-पचास बरस से अपने उपन्यासों तथा अन्य छिटपुट रचनाओं की बिजली कौंधाते एक अडिग साहित्यकार चले गए। अंतिम साँस तक लिखने वाली बात उन पर शत-प्रतिशत सही उतरती है।

अब मुझे ठीक से तो याद नहीं पड़ता कि नागर जी की कौन–सी किताब मैंने सबसे पहले पढ़ी होगी, मगर अनुमान के बल पर यह ज़रूर कह सकता हूँ कि वह 'बूँद और समुद्र' या 'अमृत और विष' में से ही कोई एक रही होगी, चूँकि उन दिनों 1972–73 में लायब्रेरी से जो किताबें मैं इश्यू कराता था, उनमें पहली शर्त मेरे दिमाग़ में किताब की मोटाई ही रहती थी। मुझे यह लगता ही नहीं था कि पतली किताबें मेरे पाठक मन को संतोष दे सकेंगी। सो 'अमृत और विष' या 'बूँद और समुद्र' और या 'एकदा नैमिषारण्ये' भी हो सकती है, मगर निश्चिततः जो मन में कौंधती है वह 'बूँद और समुद्र' ही रही होगी। फिर ऐसा लगता है कि मैंने 'ये कोठेवालियाँ' पढ़ी। आकार में यह अपेक्षाकृत छोटी किताब है मगर शीर्षक और विषयवस्तु के हिसाब से यह अवश्य ही प्राथमिकता पर पढ़ी गई होगी और इसने मेरे ऊपर वैसा ही असर डाला होगा, जैसा कि (संभवतः) 'नाच के बाद' शीर्षक वाली किताब एक बार मैंने कहीं से लेकर पढ़ ली थी ('70–'71 की बात रही होगी) और जिस अपेक्षा के साथ–कि मुख्य घटना–हत्या, बलात्कार या सहवास–नाच के बाद घटी होगी–पढ़ी थी और वह बात पूरी न हो सकी थी! शायद इस किताब के मूल लेखक थे तोल्सतोय। सो, 'ये कोठेवालियाँ'भी पढ़ी गई और चूँकि शायद '74 के शुरू से या '73 के शुरू से मैं नियमित रूप से 'सारिका' आदि पत्रिकाएँ लेने लगा था, 'धर्मयुग' तथा 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के साहित्यिक पृष्ठ मेरी नज़रों को खुद से चिपकाने लगे थे तथा '74 के जून–जुलाई में मैंने 'सारिका' के पिछले 20–25 अंक एक साथ मँगवा लिये थे, इसलिए नागर जी का मैं पाठक तो बन ही गया होऊँगा। उनके जीवन से भी मैं खासा प्रभावित रहा।

दिल्ली आने के बाद (जुलाई '79 से अब तक) मेरे पढ़ने की पहली–जैसी गति न रही। सुबह–दोपहर–शाम को यहाँ जो चीज़ें प्रकाशित और उपलब्ध होती हैं, वे मनभाता पढ़ने का समय देती नहीं! कुछ ज़रूरी–ग़ैरज़रूरी व्यावसायिक लेखन वाले तकाज़े भी पूरे करने पड़ते हैं! यह मेरी सफाई नहीं, बल्कि मैं लज्जित होकर यह बात स्वीकार करना चाहता हूँ कि नागर जी का उपन्यास साहित्य–खासतौर से इधर के वर्षों में प्रकाशित साहित्य–'करवट', 'खंजन नयन' (आधा पढ़ा), 'नाच्यौ बहुत गोपाल', 'मानस का हंस' (थोड़ा–सा पढ़ा) नहीं पढ़ पाया। हाँ, तीनेक बरस पहले उनकी पाँच बड़ी किताबें–'एक दिल हज़ार अफसाने' (कहानियाँ), 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' (आत्म रचनाएँ), 'आँखों देखा गदर' (अनुवाद), 'साहित्य तथा संस्कृति' (निबंध) तथा 'चकल्लस' (व्यंग्य) पढ़ीं और इनके करीब 1400 पृष्ठ पढ़कर मैंने खुद को तसल्ली दी। हाँ, 'सुहाग के नूपुर' मैंने दिल्ली ही आकर पढ़ा।

नागर जी के दर्शन हुए 1985 में जब भारतीय ज्ञानपीठ और 'सारिका' ने मिलकर 'कथा पर्व' का आयोजन किया। उसमें गुलाबदास ब्रोकर, इस्मत चुगताई, शिवानी, अमृतलाल नागर आदि लेखकों के साथ कुछ युवा लेखक भी मंच पर थे और इस मंच से मुझे भी बोलना था। वहाँ मैंने कहा था कि आप लोगों ने (वरिष्ठों की ओर इशारा था) अपने समय में लिखकर अपना आपद्धर्म निबाहा, हमें अपना धर्म निबाहने दें और उनके जमाने में तो

ऐसा था–का फालतू अंकुश छोड़ दें, तो मंच पर तालियाँ बजानेवाले शायद नागर जी पहले लेखक थे। उन तालियों को मैं आशीर्वचन की तरह सँजोकर रखता हूँ। फंक्शन के बाद लोग नागर जी वग़ैरह को घेरे रहे, मैं जाकर मिला नहीं उनसे। ऐसे में मुझे हमेशा लगता है कि आप भी उसी भीड़ के अंश हो गए और भीड़ का कोई स्वतंत्र अस्तित्व होता हो–ऐसा भी नहीं लगता।

अगस्त, 1989 में फिर से नागर जी को त्रिवेणी कला संगम के हाल में सुना। उनकी साँस में तकलीफ थी और आँख, कान लगभग चौपट! तरसेम गुजराल के उपन्यास 'जलता गुलाब' पर वाणी प्रकाशन की ओर से यह आयोजन था। बाद में खाने के वक़्त नागर जी के पास लोग जाते रहे, उन्हें अपना नाम स्मरण कराते रहे या बताते रहे; मैं उनके सामने, थोड़ा हटकर खाना खा रहा था। मुझे उनकी तबीयत देखकर लग रहा था कि लोग उन्हें तंग कर रहे हैं। पता नहीं, यह भी क्यों लगा था कि बस नागर जी खबर बनने ही वाले हैं। चलिए, नागर जी अपनी भूमिका पूरी निबाहकर चले गए। 74 साल का जीवन जिया। साहित्य लेखन के प्रति ऐसी लगन तो बहुत ही कम देखने को मिलती है।

परसों और कल में नागर जी पर एक टिप्पणी लिखी है। परसों 'दैनिक हिंदुस्तान' में पत्रिका–इंचार्ज और परमप्रिय दोस्त विजयकिशोर मानव से फोन पर ही तय हुआ था। मैं झिझक भी रहा था कि जब भी कोई ऐसी अर्जेंसी आती है तो मैं उन्हें ही पकड़ता हूँ। मगर उन्होंने तुरंत सहमति ज़ाहिर कर दी। लिखता तो मैं कहीं–न–कहीं ज़रूर ही मग़र अब चाहता हूँ कि स्वयं को लिखने के लिए विवश कर दिया करूँ। नहीं तो कई बार आलस हो जाता है और मैं हाथ मलता रह जाता हूँ। शायद 4–3–90 के 'दैनिक हिंदुस्तान' की संडे मैग़जीन में यह टिप्पणी प्रकाशित हो।

30 अगस्त, 1990

मलयज ने अपनी डायरी में लिखा है कि डायरी उनके लिए शरणगाह नहीं, बल्कि अपने को जानने–पहचानने की सुलगती हुई–सी कोई यातना हो...! शब्द तो ज़रूर इतर होंगे मगर भाव वही हैं। मैं भी कई बार सोचा करता हूँ कि डायरी मेरे लिए क्या होनी चाहिए? भूत और भावी प्रेमिकाओं को याद करने या कल्पना करनेवाला कैनवास; अपने भीतर चल रहे शीत युद्धों की धरावाहिक रिपोर्टिंग या दूरगामी लालच के स्तर पर कभी छप सकने लायक किसी पुस्तक की 'रचना' में सहयोग या फिर सपनों के साथ रोमांस...बार–बार की गई तथाकथित प्रतिज्ञाओं की असफलताओं का दस्तावेज़ या फिर नितांत निजी जीवन का प्रथम ड्राफ्ट!...शायद सिलसिलेवार तो मैंने बहुत सोचा नहीं इस बात पर, तो भी यह बात सच है कि मैं डायरी लेखन को बहुत प्यार करता हूँ। आदमी के जीवन में हर वक़्त उसके साथ आबद्ध कोई ऐसा स्रोत होता है, वह होना आवश्यक भी है, जिससे वह अपनी तमाम–तमाम बातें कह सके। प्रेमिका, दोस्त, अच्छी पत्नी या फिर डायरी। इनमें डायरी मुझे स्थायी भाववाली मित्र अधिक लगी है। इसीलिए जब–तब डायरी लिखने को अकसर मेरा मन हुआ

करता है। हाँ, यह बात अलग है कि अपनी डायरी को मैं अपने जीवन की अपेक्षाकृत ओछी घटनाओं या बातों के पीछे लगा दूँ, उसे रहस्य/रोमांच का एक रोचक अध्याय बना दूँ—यह भी मैं नहीं चाहता हूँ। मेरी समझ में उसका संतुलित चित्रण यदि कोई आत्मकथा लिखी जाए तो उसमें संभव है और उसकी सर्वोच्च जगह वहीं है। बहरहाल...

पिछले कुछेक वर्षों की एक मानसिक उमड़–घुमड़ को कुछ दिनों पहले ही फाइल–रूप देना शुरू किया है। मन है कि कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा, व्यंग्य...आदि–आदि–आदि पंद्रह तरह (विधाओं?) के लेखन की एक संयुक्त किताब तैयार करूँ—करीब चारेक सौ पृष्ठों की! अभी तक नौ प्रकार के लेखन की सामग्री एक फाइल में डाल भी दी है। शेष के साथ मेहनत अपेक्षाकृत ज्यादा है मगर मैं उदास नहीं हूँ, निराश भी नहीं हूँ। सोचता हूँ कि किसी भी तरह से वर्ष 1991 में उक्त किताब को आना ही चाहिए। इस बीच 'आक्रमण तथा अन्य कहानियाँ' शीर्षक से भी एक पांडुलिपि तैयार की है और मैं समझता हूँ कि उसे इन्हीं दिनों प्रकाशित हो जाना चाहिए। उसका मैंने समर्पण दिया है—'अपने स्वप्नों और स्वप्न–भंगों को सादर'—यानी अपने निजी द्वंद्व का ही शाब्दिक अनुवाद?

6 मार्च, 1994

30 अगस्त, 1990 के बाद आज फिर से इस डायरी के पास लौट आना संभव हुआ है। अर्थात् लगभग साढ़े तीन वर्षों के बाद! हे ईश्वर! इस 'गुनाह' के लिए मुझे अभय दे।

इतने लंबे अंतराल का लेखा–जोखा लिख पाना न तो संभव है और न ही उसका कोई औचित्य फिलहाल जान पड़ता है। बस इतना ही कि इस दौरान जिंदगी में जो भी हर्ष–विषाद आए, जो भी गहमागहमी–हलचल रही—वह मन के दृश्यपटल और मस्तिष्क के स्मृति कोश की पूँजी है। कभी सच बोलकर, आत्मकथा लिखने का दुस्साहस किया तो हो सकता है कि यह अंतराल–समय ही मेरी अब तक की जिंदगी का सबसे पेचीदा दौर साबित हो। एक ऐसा दौर जिसे लाँघने में मैंने अपने अहम और स्वास्थ्य को सर्वाधिक हानि पहुँचाई हो। हो सकता है कि यह मेरे धैर्य की भी सबसे गंभीर परीक्षा का दौर रहा हो। अपने जीवन से लेखन छिन जाने की कशमकश शायद इस दौर–जैसी मैंने अपने बीस वर्षीय साहित्यिक जीवन में कभी न सही हो। बहरलाल, यह समय क्या है—सोया हुआ ज्वालामुखी है जो अपना 'नाम' सुनते ही लावा उगलने लगता है। इसलिए तो मैंने इस दौर में कई बार, घनघोर नास्तिक स्वभाव के बावजूद यह बुदबुदाया है—ईश्वर! मुझे शांत रहने की शक्ति दे!

शायद मेरा धैर्य और साहस कारगर रहा, इसीलिए तो मैं अपनी इस डायरी के पास लौटकर आ सका हूँ।...और यह कई दिनों पहले भी हो सकता था, मगर काहिलपने के चलते यह संभव नहीं हो सका। कल और आज के दिन मुझे अचानक खाली मिल गए तो डायरी लिखने की 'तड़क धाँस' (बेकली) लगी रही और आखिरकार अब वह क्षण है ही।

इस नये और ताज़े डायरी–लेखन के विषय में फिलहाल यह धारणा पुख़्ता हुई है कि डायरी को कुछ दिनों के लिए सूचनापरक बनाया जाए; अर्थात् जो पढ़ा–लिखा जाए उसका

ब्यौरा इसमें अंकित कर दिया जाया करे। हाँलाकि मैं यह जानता हूँ कि मेरे हिसाब से, डायरी आत्ममंथन की सबसे पवित्र जगह होनी चाहिए। लेखक के लिए यह ऐसा मंच हो सकता है जहाँ वह खुद के परिष्कार से गुजर सकता है। डायरी उसके लिए सबसे भयानक दर्पण हो सकती है, ऐसी भयानक छवि का रेखाचित्र वह प्रस्तुत कर, प्रकाशित कर सकती है, जिसकी कल्पना केवल डायरी–लेखक ही कर सकता है। डायरी में मैं यह सब करना और कहना चाहता हूँ मगर नहीं कर पाता। न तो नियमित बैठ पाना संभव होता है और न वैसा मूड ही रोज़ाना बन पाता है कि आप अपना सर्वोत्तम अंकित कर सकें। इसलिए मैंने (भरे मन से) यह सोचा है कि डायरी में अपना कुछ जिया–लिखा–पढ़ा वग़ैरह की विविध सूचनाएँ अंकित की जाएँ ताकि एक रिकॉर्ड भी बनता जाए तथा डायरी का पेट भरने के लिए कुछ पढ़ने आदि का अंकुश बना रहे। यह अवधारणा इसलिए भी बलवती हुई है कि पिछले कुछ महीनों से मुझे लग रहा है कि मेरा पठन–पाठन अपेक्षाकृत तीव्रतर हुआ है। वह फुटकर है, छिटपुट। यहाँ–तहाँ से। तो भी मुझे लगता है कि वह न ग़लत है और न बुरा ही। साहित्य से जुड़े रहने में पढ़ने की भूमिका शायद सबसे महत्त्वपूर्ण होती है। इसीलिए अगर मैं किन्हीं पत्रिकाओं से एक या दो या इससे अधिक रचना–लेख पढ़ लेता हूँ तो भी मुझे चाहिए कि उसका विवरण डायरी में डाल दूँ ताकि सनद रहे और भविष्य में यह 'वर्तमान' मेरी प्रेरणा का स्रोत बन सके।

कल शाम श्रीराम सेंटर में गिरीश कर्नाड का नाटक 'नागमंडलम्' देखने गया। शो के कुछ पहले पहुँचा। टिकट लेकर अंदर गया तो मुश्किल से 15 दर्शक थे; मगर अगले 15–20 मिनट में ही हाल भर गया। एक मित्र टकरा गए। उनसे चर्चा हुई। मैंने कहा कि नाट्य–लेखक का क्षेत्र, नई प्रतिभओं के लिए एकदम खाली पड़ा है। समीक्षा–आलोचना का भी। प्रस्तुति ठीक–ठाक ही थी। लोककथा पर आधारित नाटक। शायद, जीवन की संपूर्णता की खोज में अतिनाटकीयता (फंतासी से सराबोर) में तनाव निर्मित करता नाटक।. ..कल और आज में साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत उपन्यास (1992) 'Fire on the Mountain' (लेखिका–अनिता देसाई) का हिंदी अनुवाद 'सुलगता पर्वत' 136 पृष्ठ, डिमाई। उपन्यास पढ़कर लगा कि अरे, उपन्यास लेखन का भी क्षेत्र काफी खाली है।

फिर परिश्रम, अनुभव और रचनात्मक ताप से लिखी गई किसी भी विधा के लिए कहाँ पर्याप्त जगह नहीं है। ज़रूरत है कि प्रतिभा के अंकुरित करने और उसके महाविकसित होने का उद्यम करने की। मैं सोचता हूँ कि प्रतिभा अपने अंकुरण में, प्रस्फुटन में, जीवन लेने में अद्‌भुत धैर्य से गुजरती है। ठीक वैसे ही जैसे मेरी इस डायरी ने आज के लिए साढ़े तीन वर्षों तक प्रतीक्षा की। धैर्य खोकर इसने विद्रोह नहीं किया और न ही ये खाली काग़ज़ भगोड़े हो सके।

3 जनवरी, 2001

कल के ही समाचार–पत्र में था कि नववर्ष का प्रथम दिवस 48 वर्ष पहले भी कुछ यूँ ही भीगा हुआ और ठंडा रहा था। चलो, जो हुआ था वह मेरे जन्म से पूर्व। इस जन्म में तो

यह पहला ही अनुभव रहा। और वर्ष का दूसरा अनुभव भी नए साल के दूसरे दिन ही हुआ। वह था भारत के 8 उत्तरी राज्यों में विद्युतहीन स्थितियाँ। अभूतपूर्व। जम्मू–कश्मीर से लेकर राजस्थान का जनजीवन कल सुबह लगभग 4 बजे से शाम 4–5 बजे तक अंधकारमय रहा। रेलगाड़ियाँ जहाँ थीं, रुक गईं, अस्पताल सेवाएँ बधित हुईं और ऐसे में जैसा कि हम जैसे लोगों के साथ होता है, हुआ।

बहरहाल, डायरी न लिख पाने की आशंका दूसरे ही दिन, स्थापित हो गई। वास्तव में मुझे लगता है कि आत्मानुशासन की कमी है मेरे भीतर, या फिर कई चीज़ों को पकड़कर–एक साथ चलने का दुराग्रह। कुछ शरीर की अवस्था या बाहरी सुविधाओं की अनुपलब्धता भी कारण हो सकती हैं। मगर संभवतः यही सच है कि अंततः पिछड़ता है लिखना–पढ़ना ही। जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी यह पिछड़ापन होगा, मगर शायद उसे मैं उतना दिल पर न लेता होऊँ, जितना कि न पढ़ने–लिखने को। लिखना–पढ़ना चूँकि एक मुश्किल काम भी है–इसलिए भी मन बचना चाहता रहता होगा...ख़ैर! सारी कमियां मिलकर, एक बड़ी कमी को प्रकाशित कर ही रही हैं।

इस बार पिताजी के पास मुज़फ्फरनगर गया तो एक दैनिक किस्म की घटना–दुर्घटना हुई। वे अपनी चाय के लिए सूखे दूध (मिल्क पाउडर) का इस्तेमाल करते हैं। आवश्यकतानुसार दूध को गुनगुने पानी में फेंटा और हो गया दूध तैयार। नौकरी के सिलसिले में जब मैं लगभग सवा दो वर्ष (अप्रैल '77 से जुलाई '79) लैंसडौन (गढ़वाल) में था, तब हम लोग भी चाय के लिए प्रायः यही 'दूध' इस्तेमाल करते थे। बहरहाल, उस दूध से बनी चाय का स्वाद मुझे भाता नहीं, इसलिए और इसलिए भी कि पिताजी को ताज़े दूध की चाय मिल सके–मैं वहाँ जाने पर दूध लाता हूँ। शाम को पहुँचा तो सोचा कि डेढ़ किलो दूध ले आता हूँ–चाय के लिए पर्याप्त होगा और अगली सुबह पिताजी अपने लिए दलिया या जवें–जो भी चाहें इस दूध से बना सकेंगे। रात में थोड़ा–थोड़ा दूध हम दोनों ने पिया। उससे पहले एक चाय भी मैं उसी दूध की पी चुका था। सुबह उठकर मैंने अपन दोनों के लिए चाय बनाई। पी। फिर मैं निवृत्त होने के लिए चला गया। उसके बाद मुझे कम से कम एक और चाय पीनी थी।

लौटकर क्या देखता हूँ कि तमाम बचे हुए दूध में पिताजी दलिया उबाल रहे हैं। कुछ देर रुककर मैंने जान–बूझकर उनसे पूछा कि क्या उन्होंने चाय के लिए भी दूध नहीं छोड़ा? "नहीं, छोड़ा नहीं है।" उन्होंने कहा। स्वर में न कोई ग़लती का अहसास था और न ही किंचित् पश्चात्ताप का प्रदर्शन ही। मानो एक तटस्थ सूचना दी थी उन्होंने। मैंने थोड़े रोष में पूछा कि अब किस तरह से मेरी चाय बनेगी? तो उन्होंने कुछ सोचकर कहा, "दूध से बना लो।" कहने के लहज़े में फिर वही तटस्थता। मैंने जलकर कहा कि इस दूध की चाय पीनी होती तो रात मैं बीस रुपए का दूध लाने में क्यों खर्च करता? अब मुझे फिर से दूध लाना पड़ेगा। खैर! कपड़े बदलकर मैं बाहर गया और शायद 10–15 रुपए का दूध फिर लाया। यह सोचकर कि वे शेष दूध का उपयोग करेंगे और एक–दो वक्त तक उनका मिल्क पाउडर से पीछा छूटेगा।

दूध लेकर लौटा तो देखा कि स्टील का लगभग तीन–चौथाई भरा गिलास उन्होंने चाय का तैयार किया हुआ है–पाउडर वाले दूध की चाय। "लो, चाय बना दी तुम्हारी!" मानो वे अपने अपराध बोध से मुक्त हो गए थे। मेरे हाथ में ताज़े दूध का डिब्बा था और पाउडर से निर्मित गिलास में भरी चाय मुझ पर हँस रही थी।

उस कढ़ी हुई चाय को कुढ़ते हुए मुझे पीना ही पड़ा। पिता की उम्र में इस तरह की समझ–असमझदारियों की अनेकों घटनाएँ रोज़ाना जुड़ती हैं। रात में मैं सोच रहा था कि उम्र के उस असहाय पड़ाव पर पहुँचकर, किसी भी विवशता में अकेला रह रहा वृद्ध व्यक्ति अंततः क्या रह जाता है–इस बात को लेकर एक आत्मरचना लिखना क्या मुनासिब न रहेगा? इस रचना के बहाने इस समय और समाज में निम्नमध्यवर्गीय वृद्धों की स्थिति का लेखा–जोखा आ जाए तो लेखक के उत्तरदायित्व का कुछ तो वहन हो। क्या मैं वैसा कर पाऊँगा?

□□□

और काम हो गया

● डॉ० शशि गोयल

"साहब, यह आपकी फाइल अधूरी है, इमसें दोनों नक्शे मेल नहीं खा रहे हैं", क्लर्क ने सामने बैठे चीफ इंजीनियर की आँखों में झांकते हुए कहा। "नक्शे मेल नहीं खा रहे हैं, क्या बात कर रहे हो, एक तो इसमें पैट्रोल पंप की जगह का है, दूसरा पूरे एरिया का है।" चौंकत हुए इंजीनियर ने कहा।

एक सरकारी विशाल संस्थान के लिए चीफ इंजीनियर साहब एक्सप्लोसिव डिपार्टमेंट में पैट्रोलपंप के लाइसेंस के लिए अरज़ी जमा करा गये थे। दोबारा उसकी प्रगति देखने आये थे।

"यह सब मैं नहीं जानता साहब, नक्शे मेल नहीं खा रहे हैं, दूसरे नक्शे भरे जायेंगे" क्लर्क ने लाचारी से सिर हिलाते हुए कहा।

"दूसरे नक्शे," चीफ इंजीनियर साहब क्लर्क के सामने बेवकूफ से लग उठे, "नक्शे तो वही रहेंगे।"

आप तो जानते हैं साहब फाइल आगे बढानी पड़ेगी "कहकर हाथ मलते क्लर्क पीछे खिसक गया, "साहब, पांच हज़ार तो कम से कम... तब कोशिश कर सकता हूँ।" "क्या बात कर रहे हो, मैं सरकारी आदमी हूँ सरकारी काम से आया हूँ, मेरे पास कहाँ से आये पैसे?"

"अरे साहब आप बड़े साहब हैं, कहीं से भी खर्च दिखा देंगे, मैं ग़रीब आदमी मेरे ऊपर भी हैं साहब, मेरी तो नौकरी ही जायेगी।" सिर और भी फाइलों में गड़ गया। चीफ इंजीनियर साब परेशान फिर से आने–जाने में तीन दिन लगेंगे और फिर उन्हें जबाव जी.एम. को देना पड़ेगा, वो कहेंगे एक काम नहीं करा सके।

"एक हज़ार से ज्यादा नहीं दे सकता," उन्होंने निराशा से कहा। चीफ इंजीनियर साहब ने आज तक रिश्वत नहीं ली थी, अब सरकारी काम के लिए उन्हें रिश्वत देनी पड़ रही थी।

"साहब देखता हूँ फाइल अगर बड़े साहब के पास नहीं गई होगी तो शायद कुछ कर सकूँ।"

इंटरकॉम से बात करके क्लर्क ने मज़बूरी में सिर हिला दिया, "अरे साहब, फाइल मेज़ पर पहुँच चुकी है पर हाँ अभी उन्होंने देखी नहीं है।"

"अच्छा भाई हज़ार और ले लो।" चीफ इंजीनियर साहब ने हार मानते हुए कहा "चलिए साहब, आप भी क्या याद रखेंगे, सरकारी काम है सिविलियन होता तो..." क्लर्क ने एहसान जताते हुए कहा।

बड़े साहब के सामने फाइल खुली उन्होंने क्लर्क की ओर देखा।

"साहब ठीक है दो बार जांच हो गई।" क्लर्क ने सिर हिलाते कहा।

"पर इसमें नोट है कि नक्शे नहीं मिले हैं," साहब ने उलझन भरे स्वर में कहा।

"नहीं साहब मिल रहे हैं, सरकारी काम है, दो बार मिल गया, कुछ संदेह था दूर हो गया।" क्लर्क का सिर तेजी से हिला।

"तो लाइसेंस इश्यू कर दूँ?"

"हाँ साहब कर दीजिये"।

"पक्की बात नक्शे मिल रहे हैं।"

"हाँ साहब मिल रहे हैं।"

आखिर सरकारी काम सरकारी आदमी द्वारा हो ही गया।

□□□

दो

परपीड़ा का एहसास

● ओमप्रकाश कादयान

रमेश व राजेन्द्र एक–दूसरे के दुश्मन थे। उनकी यह दुश्मनी दो परिवारों के बीच की, लम्बे समय से चली आ रही भूमि–विवाद को लेकर थी। दोनों के परिवारों के बीच कई बार भयंकर लड़ाई हो चुकी थी। दोनों के घर पास–पास थे। एक बार एक छोटा बच्चा उनके घर के नज़दीक कार–दुर्घटना में मारा गया तो तुरंत एक पड़ोसी ने रमेश को खबर दी "तुम्हारे बेटे को एक कार ज़ोर की टक्कर मारकर भाग गयी।"

इतनी देर में लोग बच्चों के चारों ओर झूम चुके थे। रमेश भीड़ को चीरता हुआ गया। देखा कि बच्चा तो दम तोड़ चुका है। बच्चे का चहेरा खून में लथपथ होने के कारण पहचान में नहीं आ रहा था। उसे रमेश अपना बच्चा समझ कर रो पड़ा। राजेन्द्र ने जब यह देखा कि रमेश का बच्चा मर गया है, तो वह खुश हुआ। अब उसे अंदर ही अंदर बेहद खुशी हो रही थी। इतने में भीड़ से एक ने आवाज़ लगाई, "अँरे", यह तो राजेन्द्र का लड़का है।" यह सुनकर राजेंद्र लड़के की पहचान के लिए टूट पड़ा। चेहरा पहचानकर रोने लगा, क्योंकि यह राजेन्द्र का अपना ही पुत्र था। रमेश यह जानकर कि यह तो राजेन्द्र का पुत्र है, एक बार तो रोता–रोता रुक गया। आंसू पौंछे, किन्तु जब वह फिर रोने लगा तो राजेन्द्र ने रोते–रोते हुए गुस्से में कहा, "अब तुम क्यों रो रहे हो। पुत्र मेरा मरा है, तुम्हारे तो घी सा घल गया है। जा अब खुशी मना।"

"नहीं दोस्त, मैं खुशी नहीं मना सकता, क्योंकि अब मुझे पता चल गया है कि बेटा मरने का ग़म कितना गहरा होता है। मैं तुम्हारा दु:ख महसूस कर सकता हूँ। रमेश की यह बात सुनकर राजेन्द्र का आधा दु:ख हल्का हो गया तथा दुश्मनी का भाव एकदम समाप्त हो गया।

योजना

"सर, हमने आपके आदेशानुसार समाज कल्याण हेतु नयी योजनाएं लागू करने के लिए फाइल तैयार करवा ली है। आप एक नज़र इसे देख लें तथा हस्ताक्षर कर दें।" समाज कल्याण मंत्री के आगे फाइल सरकाते हुए उसके पी.ए. ने विनम्रता से कहा। मंत्री ने फाइलों का निरीक्षण करके बिना हस्ताक्षर किए फाइल वापिस करते हुए खिन्न स्वभाव से साहकार से पूछा "इन योजनाओं से किसका भला होगा।"

"सर, समाज का।"

"हूँ। और हम जो समाज का भला कर रहे हैं, हमारा क्या होगा। अरे ठण्डे मन से सोचो तथा ऐसी योजनाएं तैयार होनी चाहिए जिससे समाज के साथ–साथ हमारा भी कल्याण हो। आखिर हम भी समाज का एक हिस्सा है। समझे या नहीं?"

"जी सर, समझ गया।" और अब फाइल वापिस चली गयी।

ग़लती का अहसास

बस में भीड़ बहुत अधिक थी। सीट न मिलने के कारण पंद्रह–बीस यात्री खड़े होकर यात्रा कर रहे थे। जैसे ही बस शहर से निकली, बस में खड़े सज्जन ने सिगरेट सुलगाई तथा किसी भट्ठे की चिमनी की तरह नाक से धुएं की भरमार कर दी। हमने परेशान होकर किन्तु व्यवहार के तौर पर उस नशेड़ी को बस में लिखा निर्देश "धूम्रपान निषेध है" की ओर इशारा करके दिखाया–पढ़वाया।

उसने हंसकर जवाब दिया "भाई साहब! हिन्दुस्तान में इन लिखे हुए भूले–बिसरे वाक्यों को कौन मानता है। अगर ये सभी बातें हम मानने लग जाएं तो जीना दूभर हो जाएगा।"

बेरुखी भरा उसका यह जवाब सुनकर हम चुप रहे। हमने सोचा कोई अनाड़ी या मूर्ख है। परिचालक टिकट काटता हुआ आया। सिगरेट वाले के पास सीट पर बैठे युगल ने ढाई टिकट कटवाई – दो पूरी व एक आधी अपने 7-8 वर्षीय बालक की। स्वाभाविक ही सिगरेट वाले की नज़र उसी सीट के ऊपर की ओर लिखे निर्देश "आधी सवारी को सीट नहीं मिलेगी।" पर पड़ी तो उसे याद आ गया कि बस में जब तक एक भी सवारी खड़ी है, तब तक आधी सवारी को बैठने का अधिकार नहीं। उसने तुरंत अपना अधिकार बताते हुए बच्चे को गोद में लेने को कहा तथा बैठने के लिए सीट मांगी। बैठे सज्जन ने मना करते हुए उत्तर दिया – "इसकी अलग से टिकट ले रखी है।"

एक खींचकर कश लगाकर नाक–मुँह से धुआं निकालते हुए उस खड़े आदमी ने जब "आधी सवारी को सीट नहीं मिलेगी" वाला निर्देश पढ़वाया तो बैठे सज्जन ने कहा "हिंदुस्तान में इन लिखे अक्षरों को कौन मानता है?" यह जवाब सुनकर अब सिगरेट पीने वाले को अपनी पहले की ग़लती का अहसास हो गया था तथा उसने तुरंत सिगरेट बुझाकर फेंक दी।

□□□

तीन

छूत

● डॉ० विद्याविन्दु सिंह

रूपा कमरे में जल–भुन रही थी। बाहर उसकी सहेली सुस्मिता हंस–हंसकर सबका स्वागत कर रही थी। उसके घर प्रथम संतान के जन्म का उत्सव था। रिश्तेदारों, परिजनों, इष्टमित्रों से घर खचाखच भरा था। नन्हा शिशु बारी–बारी से सबकी बाँहों में जा रहा था।

रूप को कोफ्त इस बात की थी कि सुस्मिता कितनी बेवकूफ है सवा महीने के बच्चे को सबकी गोद में ऐसे डाल रही है जैसे प्लास्टिक का बबुआ हो। जाने किस को क्या इन्पेक्शन हो। कितना समझाया पर उसके भेजे में बात आती ही नहीं। भुगतोगी तब पता चलेगा।

सुस्मिता लपककर कमरे में आयी और उसका हाथ पकड़कर खींचती हुई ले जाकर अपने सास–ससुर, जेठ–जेठानी ननदों के कुनबे के बीच बैठा दिया। सब दांत फाड़–फाड़कर हँस रहे थे। बच्चे के साथ तुतलाकर बोल रहे थे। रूपा को देखकर उसकी सास ने हँसते हुए कहा– "ऐ बबुआ! जा अपनी मौसी के तेल बुकवा क परसाद दइ द्या त। बहुत चिक्कन देखात हईं।" अर्थात् अपनी मौसी के ऊपर मल–मूत्र करके प्रसाद दे दो।

रूपगर्विता, शहरी अभिजात्य संस्कारों में पली रूपा को यह गँवारू हंसी और संवाद जाने क्यों आज इतना रास आया कि उसे अपना अभिजात्य का कवच चुभने लगा। उसने बच्चे को लेकर चूम लिया। सुस्मिता मुस्करा कर बोली –

"अरे रूपा! बच्चे को अपना इंफेक्शन न दे देना।"

रूपा ने उसे मुक्का दिखाकर कहा "दूँगी, दूँगी।" "क्या कर लेगी तू!" और बच्चे को गोद में लेकर नाचने लगी। उसे लगा अपने जीवन के इतने वर्ष उसने व्यर्थ गवां दिये। रूपा ने अपनी ससुराल को फोन मिलाया–"हेलो – मां जी! मैं कल सवेरे आ रही हूँ अब मैं आप लोगों के साथ ही रहूँगी! मुझे क्षमा कर दीजिए।"

सुस्मिता हँसकर बोली – "रूपा, आख़िर तुझे मेरे हँसते–खेलते परिवार की छूत लग ही गयी।" रूपा आज खुलकर हँस पड़ी।

□□□

कविताएं

अन्तर्नाद

● रमेशचंद्र शाह

रेतीले इस बियाबान को
कब से सहती

लुप्त हुई वह नदी
तुम्हारे भीतर बहती....

सुनो–सुन सको तो
यह शायद,
तुमसे ही
कुछ
कहती....

◆

जो
घर गए उजाड़
और, बाहरवालों को
लाकर गए बिठाल
यहाँ
पहरा करने को

जित देखो तित
वही वही बटमार
मचाते फिरते अब
कुहराम

तुम्हें
बहरा करने को

◆

उनके पास कमान
काठ है जिनकी काठी

उनकी ही है भैंस
और,—
[अन्धे हों तो क्या!]

काम आ रहीं ख़ूब
उन्हीं की
वही भैंसिया
लाठी

◆

घुन खाई वह ढीठ
पढ़े यह लिपि
तो...कैसे?

कुहरा भी है ढीठ
नहीं
मानेगा
ऐसे।

◆

चँवर डुलाती लगती हैं
फिलहाल
इन्हें
जो दसों दिशाएँ

लगनी ही हैं
तब तक

मेरा अन्तर्नाद
भँवर बन

नहीं सोख लेता है
इनको

महागर्त में
जब तक.....

◆

● **देवव्रत जोशी**

दंगे में : औरत

दंगे में फंसी औरत
हिन्दू–सिख–मुसलमान नहीं/सिर्फ औरत!

विवश, निरीह, कातर......
दंगे में फंसी औरत की चीख़
कत्ल–होते टटके गुलाब
और नई सदी की चीख़ है : एक साथ!

लपटों में घिरी औरत के कंठ से
फूटता है लावा–
झुलसता है वृंदावन/और ताज़महल
यशोदा का मातृत्व,
पत्नीत्व मुमताज़ का।

इस औरत की चीख़—
समूची सभ्यता—संस्कृति के चेहरे पर
कालिख पोत जाती है....
दंगे में फँसी औरत
सबसे शर्मनाक/दर्दनाक घटना है।

क्षत् विक्षत्/खबर—बनी औरत
आज के अख़बार की सुर्ख़ी
कल गुम हो जाती—
किचन में, स्कूल—दफ्तर में
डूँगर—पहाड़—जंगल—महानगर में!
या तैरती मिलती उसकी लाश
किसी जलाशय में।

दंगे में फंसी औरत
सिर्फ दहशतभरी हिमाकत क्यों है?
धर्म—मज़हब के बँटे समाज में
औरत/सिर्फ़ औरत क्यों नहीं?

● ● ●

● कुमार रवीन्द्र

खंजड़ी के सँग नहीं पियानो

साधो, मानो
चल पाएगा
खंजड़ी के संग नहीं पियानो

माना इस अनहोने युग के
तुम हो सुर—साधक अलबेले
और रचे हैं तुमने
अनचाही संगत के कई झमेले

पर खंजड़ी के
सारे–ही सुर–ताल
अलग हैं–यह तो जानो

युगों–युगों ऋषि–मुनियों ने है
रागों से खंजड़ी को साधा
और पियानो का सुर है अनजाना
तुमको आता आधा

ज़िद छोड़ो यह–
अपनी ताक़त
अपनी सीमा को पहचानो

खंजड़ी के संग जो भी बोलो
हो जाती वह अमृतबानी
छोटे–ब़ड़े, अभी–पहले की
कहती है वह रामकहानी

सुनो उसे ही
उसके संग–संग
इस माटी की महिमा ध्यानो।

कल अम्मा ने कहा

कल अम्मा ने कहा आखिरी बार–
'ज़िन्दगी एक नदी है'

'बहती है यह नदी रात–दिन
धीरे–धीरे और उम्र–भर
किसी ज़गह से इसे बाँध दो
तो हो जाती है यह पोखर'

'गीत साँस का चलता रहता
जब तक उसकी टेक 'नदी' है'

सीखा था हमने अम्मा से ही
सपनों की बातें करना
पगडंडी बन जंगल–पर्वत
अंधियारों के पार गुज़रना

हर रस्ते पर मिली हमें यह
साँसों की दिलफेंक नदी है

एक बार अम्मा बोली थीं–
'साँस क्षीर–सागर की बेटी
जहाँ–जहाँ भी इसे मिली है
इसने वहीं मिठास समेटी'

'रही जटा में विषपायी की
तभी हुई यह नेक नदी है'

घटना के तेवर भी देखो

घटना देखो
घटना के तेवर भी देखो

सुबह गिरीं जुड़वाँ मीनारें
विश्व–हाट की
आँख खुल गई प्रलयंकर
शिव के ललाट की

झुलसी धरती
जलते ये सागर भी देखो

सुनो, चल रहा हाँका
आये चतुर शिकारी
साथ लाये हैं नई हवाएँ
वे हत्यारी

झील–किनारे
ढेर अस्थि–पंजर भी देखो

नई सदी है
आसमान हर ओर धुआँए
आये महुआ–वन से
हाथी भी पगलाये

कत्ले–आम से
जख़्मी गाँव–शहर भी देखो।

● ● ●

● गंभीर सिंह पालनी

सागर की जल-परी के लिए कविताएं

(एक)

ओ परी!
एक बार फिर मिलेंगे।
मैंने चांदी का एक नन्हा–सा किरीट बनवाया है
तुम्हारे लिए

उसे तुम्हारे भाल पर बाँधूंगा अपने हाथों से
और/शुक्रतारा जब निकल आएगा;
मेरे आंगन में उगे साल के वृक्षों पर
मंडरायेगा जब चाँद
तब हम सफर अपना शुरू करेंगे।

चिनारों के शिखरों पर जहां चांद विश्राम करता है
वहाँ हम भी रूकेंगे।

बाँहों में बांहें डाल
सारा जंगल खंगाल देंगे।

बर्फ भले ही हमारे घुटनों–घुटनों तक
बिखरा दे अपने पंखों की परतें
पर हिरन और हिरनी से मैं तुम
आगे बढ़ते ही रहेंगे।

नहीं करेंगे समय के बहेलिये की परवाह!

(दो)

ओ सागर की जलपरी!
तुम्हें क्या हो गया है? तुम ठीक से तो हो न!
आज भी तुम्हारा नहीं कोई पत्र आया।

तुमने मेरे जीवन से नमक क्यों चुरा लिया है?
ओ सागर की जलपरी!
मेरे शोणित में इतनी लहरें क्यों उठती हैं
सागर तक पहुंचने के लिए
कि हृदय
देह से निकल
कोई और सुरक्षित स्थान पा लेना चाहता है
और वह स्थान
तुम्हारी वही हथेली है
जिस पर आगे बढ़ाकर रखो अपनी हथेली
कहा था तुमने।

क्या हो गया है तुम्हें अब?
सच–सच बतलाओ–
क्या तुम्हारे शोणित में
तूफान नहीं पैदा करता
शरद का यह चन्द्रमा,
जो सुनसान रातों में
जहाँ भी मैं भटकूं–
मेरा पीछा करता है।

अनदेखा न करो
अपने शोणित में उभरती भाषा की लिपि को।
शोणित के फैसले इतिहास की धारा बदल दिया करते हैं!
आओ, हम दोनों इस सदी की एक महत्वपूर्ण कहानी के
नायक–नायिका बनें
ओ परी!

(तीन)

दफ्तर जाने के इकतीस किलोमीटर लंबे रास्ते के
दोनों तरफ उगे काँस
आजकल चिढ़ाने लगे हैं मुझे।

किसने बतला दिया
इन्हें तुम्हारा नाम
और यह भी कि
तुम आ गई हो मेरे जीवन में।

काँस के कुछ फूल
ले आया था खतड़ुए* के दिन
और उन्हें देखते हुए
इस बीच कई पत्र लिखे मैंने तुम्हें
किंतु भेजे नहीं।
आशंकाएं अपमानित होने की
मुझे परेशान जो करती रहीं।
कचोटता रहा मन
चूंकि पिछले दिनों मन की बात
तुमसे कह देने का अनुभव
अपमान–सा ही तो कुछ दे गया
और ले गया रातों की नींद, दिन का चैन
(यदि प्रचलित मुहावरे का सहारा लिया जाए तो)

कोई पल ऐसा नहीं बीता
जब मैंने तुम्हें अपने रक्त में
हीमोग्लोबिन की तरह उपस्थित
महसूस नहीं किया
फिर भी कहीं कोई कमी
खलती रही।

---

* *खतड़ुआ : उत्तरांचल का एक पर्व जिसमें काँस घास का प्रयोग पूजन में होता है।*

हिनहिनाता रहा और टांगें पटकता रहा
मन का अश्व!
जंजीरों से नहीं बंधा था
फिर भी उसने इस तरह कभी पहले
बंधा हुआ नहीं महसूस किया था।

वह कौन–सा
अदृश्य सूत है
जिससे बंधा मन का अश्व
तुम्हारा होकर रह गया है
ओ परी!

(चार)

ओ सागर की जलपरी!
तुम्हारे शोणित में कौन–सी लय है
जो तुम्हारी उंगलियों में ऐसा जादू करती है
जिसने इस कवि के मन में, तन में
इतने पंख उगा दिए
कि नदियों, पर्वतों, बनों और घाटियों को पार करना
उड़ता चला आया यह तुम तलक!

ओ परी!
तुम्हारे सुनहले पंख/खो गए हैं
या फिर कहीं छुपा दिये किसी ने
समझ नहीं आया।
समझ नहीं आया तुम्हारे ओठों का वह जादू भी
कि शब्दों की ओर से बांध दिए उन्होंने मेरे पंख–
"अब जब परी का मन होगा,
तभी खोलेगी वह इन्हें"–कहते हुए।

तुम पता नहीं कभी इन्हें खोलोगी भी या नहीं।
मैं भटक रहा हूँ जंगल–जंगल, खाड़ी–खाड़ी
थक गए हैं पांव/कसमसा रहे हैं मेरे बंधे हुए डैने,
कहीं टूट न जाएं मेरी पसलियां भी
और फट न पड़े, हृदय।

हवाओं में अपने ओंठों की छुअन भेज
खोल दो मेरे पंख
ताकि मैं सागर तक पहुंच सकूं
तुम्हारी संगममरी बांहें थाम
फिर एक नए घरोंदे का सृजन करने।

(पांच)

सतलज के पुल पर से गुजरती हुई
अमृतसर–एक्सप्रेस के इस कम्पार्टमेंट में
मेरे भीतर जो सागर हुंकारे भर रहा है
उसे लिये हुए मैं/वैसे तो इस समय तुमसे
डेढ़ हजार किलोमीटर से भी अधिक
दूर हूँ।
ज्यों–ज्यों ट्रेन बढ़ रही है देश की सीमा की तरफ
यह दूरी और भी बढ़ती जा रही है
लेकिन मैं पा रहा हूँ तुम्हें
अपने और भी पास।

मालवा एक्सप्रेस हो या नैनीताल–एक्सप्रेस
या फिर यह अमृतसर–एक्सप्रेस–
हर यात्रा में/मैंने तुम्हें/अपने पास बैठा हुआ
महसूस किया
और बार–बार लगा कि जैसे अभी–अभी
मेरी हथेली को तुम्हारी हथेली ने छुआ।

जीवन के इतने लम्बे सफर में
ऐसा पहले कभी नहीं हुआ।

● ● ●

इसी तरह

● सुनील गंगोपाध्याय

हमारे बड़े विस्मयकारी दुख हैं
हमारे जीवन में हैं कई कड़वी खुशियां
माह में दो–एक बार है हमारी मौत
हम लोग थोड़ा–सा मरकर फिर जी उठते हैं
हम लोग छिपे प्रेम के लिए कंगाल होकर
प्रत्यक्ष प्रेम को अस्वीकार कर देते हैं
हम सार्थकता के नाम पर एक व्यर्थता के पीछे–पीछे
ख़रीद लेते हैं दुःखित सुख
हम लोग धरती को छोड़कर उठ जाते हैं दसवीं मंजिल पर
फिर धरती के लिए हाहाकार करते हैं
हम लोग प्रतिवाद में दांत पीसकर अगले ही क्षण
दिखाते हैं मुस्कराते चेहरों के मुखौटे
प्रताड़ित मनुष्यों के लिये हम लोग गहरी सांस छोड़कर
दिन–प्रतिदिन प्रताड़ितों की संख्या और बढ़ा लेते हैं
हम जागरण के भीतर सोते हैं और
जागे रहते हैं स्वप्न में
हम हारते–हारते बचे रहते हैं और जयी को धिक्कारते हैं
हर पल लगता है कि इस तरह नहीं, इस तरह नहीं
कुछ और, जीवित रहना किसी और तरह से
फिर भी इसी तरह असमाप्त नदी की भांति
डोलते–डोलते आगे सरकता रहता है जीवन...

(दो)

पृथ्वी और मैं

मैं मर जाऊंगा, तभी दु:खी है यह पृथ्वी
आकाश मेघों से घिरा हुआ
हवा नहीं है
नहीं है सिहरन पेड़ों की फुनगी पर
क्यों जाओगे, क्यों चले जाओगे बारिश की इस शाम को
छोड़कर
अजाने शून्य में
ये बातें कोई चुपचाप कानों में कहता है
मैं मुस्कराता हूँ, जवाब नहीं देता
धरती से बहुत प्यार था, और
एकान्त में जाने कितने दिन
आमने–सामने बैठ
निग़ाहों में निग़ाहें डालकर
हम दोनों ने देखा है समय और इतिहास
चीटियों की कतार
देखा है विजय के कण्ठ में बासी फूलों का हार
मेरी प्रेमिका इस पृथ्वी को
असीम दुलार
और स्नेह से पाला है मैंने।

आजकल डर लगता है
पृथ्वी का चेहरा देख लगता है
जैसे उसका मन अच्छा नहीं
जैसे कोई अज्ञात बीमारी उसे कुतर–कुतर कर खा रही है
यदि उसकी मृत्यु हो गई तो! डर लगता है!
इसलिए उसके पहले
मेरा ही चले जाना ठीक है!

अनुवादक – उत्पल बैनर्जी

● ● ●

पैरों पर रखती हूँ सिर

● विजया मुखोपाध्याय

दुर्दिनों में
जिस तरह जाती हूँ ईश्वर की शरण में
कविता के पैरों में तो कभी उस तरह
बैठना नहीं हो सका।

मैं तुम लोगों से करुणा की भीख माँगती हूँ
हे समय, पराभव, प्रलुब्ध सांत्वना,
दया करो मुझपर
समेट लो अपनी जटाएँ
निर्मलता को छूकर देखने दो मुझे
स्पर्श से मिलती है ऊष्मा, घ्राण में, दृष्टि के प्रार्थित–पात्र में जलधारा–
तो फिर पड़ोस की देह छूकर सिर रखूँ पैरों में
एकबार
जीवन में कम–अज़–कम एक बार!

पुनरुत्थान के लिए

कभी–कभी हम लोग
अनजाने ही अचानक कुछ लिख डालते हैं।
कभी–कभी
अनजाने ही अचानक
कह डालते हैं कुछ आप्तवाक्य–
जिसके अमोघ–स्फुरण में
लोग आत्महत्या तक कर सकते हैं।

कभी–कभी अचानक
अनजाने में हम ऐसा कुछ लिख लेते हैं–
जिसके लिए एक बार फिर
मरी हुई देह छोड़कर जीवित हो उठना
अब भी सम्भव हो सकता है!

अनुवादक – उत्पल बैनर्जी

● ● ●

बीच का रास्ता

● मोहन राणा

सुनी बातों को अनसुना कर मैं
चलता हूँ बीच सड़क में
रास्ते पे सबसे सुरक्षित जगह
गलत समय देती घड़ी पहने निकलता हूँ
उलटे जूते पहने उलटे कपड़े पहने
मनुष्य से मिलता–जुलता बीच रास्ते पे
कोई अमनुष्य कोई बोझ
पर कुछ ऐसा भी है जो नहीं सूझता
अनायास हो जाता है प्रकट
गिरते हुए दिखता है आकाश जहाँ से
बहुत निकट
जैसे छू जो लूँ उस निर्वात को अपने भीतर,
निरापद चीख चिल्लहटों से सुदूर
अकारण विस्फोट के केंद्र में
किसी अधूरे स्पर्श
किसी कटुता से दूर
अपने कानों को बंद किये मैं पार करता हूँ पुल
यातायात मेरी बंद आँखों में रुका है,
जैसे कोई और दुनिया हो यह सब
बिना बताया
यह बीच का रास्ता!

● ● ●

तब तलक तुम भी रहोगे

● पंकज परिमल

हम रहेंगे जब तलक
तुम भी रहोगे,
सच यही है
पासबुक, पुस्तकें, पोटलियाँ, पुराने वस्त्र
कुछ टूटे कनस्तर
शिथिलतन, शहतीर झुकती हुई, गिरती भीत
कुछ उखड़े पलस्तर
विगत फैशन मेज–कुर्सी, तह किए कुछ पत्र
सनकों से भरे स्वर
कुछ पुराने व्यंजनों के स्वाद की सुध
एक आदिम गंध से तर
नाम का जब तक हमारे अर्थ होगा
और प्रासंगिक रहेंगे
पारलौकिक नहीं जब तक मूल्य कुछ भी
मिल सके, भौतिक रहेंगे
तक तलक तुम भी रहोगे
सच यही है.

मैल मीना–पत्थरों का मूल्य घटकर
हाथ तो आ रहा सोना
सिद्ध हों वरदान तक तक मान्य सबको
पत्थरों का देव होना
रीतियों की रेख जितनी दूर तक हम
छोड़कर आगे बढ़े हैं
नई व्याख्या के न फँसकर मोह में
पारम्परिक वह परिधि खोना

धातु के भी मूल्य से ज़्यादा कि जब तक
मूर्तियों का मोल होगा
जब तलक पाखंड, मिथ्या शक्तियों का
बजबजाता ढोल होगा
जब तलक तुम भी रहोगे
सच यही है!

● ● ●

लक्ष्मण रेखा

● राधा शाक्य

हे लक्ष्मण!
तुम्हारी जो युगों पुरानी रेखा है
उसको आज भी नारियों के
आसपास ही देखा है
क्या तुम अब बता सकते हो
स्पष्ट रूप से जता सकते हो
कि सीता जैसी महान् नारी
माता–पिता के प्राणों की प्यारी
रेखा के बाहर आकर
दुराचारी रावणों द्वारा हर जाये?
या रेखा के अन्दर रहकर
दहेज के भूखे भेड़ियों के हाथों मर जाये?
कल ही एक सीता इसी रेखा पर खड़ी थी
रेखा के अन्दर रहे या बाहर
बस इसी सोच में पड़ी थी
याद आ गये तब बूढ़े माता–पिता के वचन
जिसमें समाया था भारत का महान् दर्शन
बेटी! तुम मुझे प्राणों से प्यारी हो

किन्तु तुम एक भारतीय नारी हो
भारतीय नारी जिस चौखट के भीतर आती है
वहाँ से उसकी अर्थी ही बाहर आती है
यही सोचकर उसने पैर पीछे हटा लिया
जानबूझ कर खुद को बलि पर चढ़ा दिया
यह उसी सीता की अर्थी निकल रही है
और भीड़ राम नाम सत्य कहकर चल रही है
वाह रे मंगलसूत्र! और यह अमंगल
यह समाज है या भूखे भेड़ियों का जंगल
जो दहेज के लिए समाज को त्रस्त करते हैं
अपनी बेटियों के लिए मौत का मार्ग प्रशस्त करते हैं!

● ● ●

मौसम दुर्वासा हुआ

● शिवचरण चौहान

पंख थके सूखा गला, पथराई है चोंच।
छावँ छाँव चिड़िया फिरे, मौसम हुआ खरोंच।।१।।

शीत हटा, आतप बढ़ा, व्याकुल हुआ जहान।
स्वेद नदी तन से बही, चुभे धूप के बान।।२।।

चप्पा, चप्पा दोपहर; जलती, आया जून।
उग आए हैं धूप के जहरीले नाखून।।३।।

धूप पलाशों पर खिली 'लू' मदार के फूल।
एक ग्रन्थ आतंक का करे विमोचित धूल।।४।।

अधरों अधरों प्यास है, पलकों पलकों धूप।
मौसम दुर्वासा हुआ, शापित पोखर कूप।।५।।

● ● ●

स्पर्श

● अमरनाथ 'अमर'

कोई स्पर्श
गुदगुदाता है
भावनाओं के इस पार से
कल्पनाओं के
उस पार तक!

और कोई स्पंदन ऐसा कि
चाँदनी की झिलमिलाहट
किसी झील से निकलकर
फैल जाती है
मेरी आँखों के
प्रतिबिम्ब से होकर
मेरी आँखों तक!

और फिर
एक अहसास ऐसा कि
कोई मूक कहानी
खुद कह उठती है
अपनी कहानी
मेरी तरुणाई की छुअन से
अपने उतार–चढ़ाव की
अरुणाई तक!

अब तो गीत बनने लगे हैं
बासंती बयारों की लय पर
संघर्ष के लम्हों में भी!
और
पलकों की छाँव में
अंगड़ाई लेने लगे हैं
कई मौन स्वीकृति और

मौन निमंत्रण
अपनी ख़ामोशी से
अपने शोर तक!

और फिर
आसमान की तरफ
उड़ने की प्रक्रिया में
सांसों के चित्रपट पर
एक धुँआ–सा भी तो है
चिंगारी के आगोश से
शोलों के बाहुपाश तक!

तभी तो
अंधरे में उभरा चिराग़
हर बार कह उठता है–
"कोई चिंता नहीं
पर चिंतन तो है
मेरी रोशनी से
मेरे तले के अंधेरे तक"!!

□□□

समीक्षा

बेनीपुरीजी की रचनाओं का श्रेष्ठ संचयन

● डॉ० हरदयाल

अनेक प्रतिष्ठित रचनाकार ऐसे होते हैं जिनकी रचनाओं का परिमाण बहुत अधिक होता है। उस सबको प्राप्त कर पाना और सबका अध्ययन कर पाना सबके लिए सम्भव नहीं होता है। ऐसी स्थिति में यदि रचनाकार की विशेष चुनी हुई श्रेष्ठ रचनाओं का संचयन सुलभ हो जाये तो उससे रचनाकार, पाठक और साहित्य तीनों का बड़ा हित साधन होता है। साहित्य अकादेमी ने संचयनों का प्रकाशन करके और उनका उचित मूल्य रखकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण और सराहनीय कार्य किया है। 'रामवृक्ष बेनीपुरी रचना–संचयन' साहित्य अकादेमी के संचयनों की शृंखला में एक श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण संचयन है। इस संचयन में बेनीपुरी जी की उन सब विधाओं की रचनाओं के उत्कृष्ट नमूने संचयित है, जिनमें वे लिखते थे। इस संचयन में उनकी आत्मकथा के अंश हैं, उनके द्वारा रचित स्मृति–चित्र, रेखाचित्र, शब्दचित्र, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबन्ध, लेख, कविता, जीवनी, यात्रावृत्त, डायरी, काव्यानुवाद, किशोर साहित्य–सभी कुछ के चुने हुए रूप सुलभ हैं। इस संचयन में उनकी कुछ ऐसी रचनाएं तो विद्यमान हैं ही, जिनसे हिन्दी का प्रबुद्ध पाठक बहुत समय से परिचित रहा है, जैसे, 'रज़िया' और 'बलदेव सिंह' शीर्षक उपन्यास, 'गेहूँ और गुलाब' तथा 'हँसिया और हथौड़ा' शीर्षक शब्दचित्र, 'कैदी की पत्नी' शीर्षक उपन्यास, 'अम्बपाली' शीर्षक नाटक, 'वन्दे वाणीविनायकौ' शीर्षक निबन्ध आदि इन रचनाओं के साथ ही इस संयचन में ऐसी भी अनेक रचनाएं संकलित हें, जिनसे हिन्दी का सामान्य पाठक अपरिचित रहा है। ऐसी रचनाओं में उनकी सभी विधाओं की रचनाएं हैं–उनकी डायरी और यात्रावृत्तों के अंश तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

'रामवृक्ष बेनीपुरी रचना–संयचन' में संगृहीत रचनाओं में बेनीपुरी जी का व्यक्तित्व उनका जीवन और समय पूरी तरह से प्रतिबिम्बित हुआ है। इसका कारण यह है कि वे अपनी किशोरावस्था से ही जीवन के अनेक मोर्चों पर लड़ रहे थे। विभिन्न मोर्चों पर उनके संघर्ष ने उन्हें किसी एक क्षेत्र का आदमी बनकर नहीं रहने दिया। उनके इन संघर्षों ने उनके तीन रूपों को विशेष रूप से उभारा। ये तीन रूप हैं पत्रकार, साहित्यकार और राजनेता के। जीवन के इन तीनों क्षेत्रों में उन्होंने सफलता प्राप्त की लेकिन इनमें से उनका जो केन्द्रीय रूप है वह साहित्यकार का है। उनके इस रचना–संचयन में ऐसी अनेक रचनाएं हैं जो इस बात को सिद्ध करती हैं। उदाहरण के लिए, 'वन्दे वाणीविनायकौ' निबन्ध में उन्होंने इस बात पर दु:ख व्यक्त किया है कि "आज वाणी ने विनायकत्व, नेतृत्व खो दिया है और आज के विनायक ने वाणी का तिरस्कार–बहिष्कार करना प्रारम्भ किया है। आज वाणी विनायक की सहचरी नहीं, अधिक–से–अधिक अनुचरी है। विनायक की आज्ञा पर वह नाच रही है।" (पृष्ठ 580) वाणी के तिरस्कार या उपेक्षा से विनायक का हित हुआ हो, ऐसा भी नहीं है–"और वाणी को इस स्तर पर उतारकर क्या विनायक भी सानन्द और सकुशल है? उसके पैर भी लड़खड़ा रहे हैं, उसको सदा डर लगा रहता है कि कब वह अपने आसन से भहराकर नीचे गिर पड़े।" (पृष्ठ 580)/ऐसी स्थिति में वाणी क्या करे? बेनीपुरी जी का स्पष्ट कथन है कि वाणी अपना महत्त्व, अपना वर्चस्व न भूले–"हम जिस रामकृष्ण की आराधना करते हैं, क्या वे दशरथ और वसुदेव के पुत्र मात्र हैं? या अयोध्या और मथुरा के शासक मात्र? यदि वाल्मीकि और व्यास न होते, उन्हें वाणी का वरदान नहीं दिया होता, उनका नवनिर्माण न किया होता तो वे क्या आज यों घर–घर व्याप्त होते?" (पृष्ठ 581)/वे चाहते हैं कि साहित्यकार अपने महत्त्व को समझें, राज्याश्रय के लालायित न हों और यदि आवश्यकता हो तो विद्रोह करें। उन्होंने नये–पुराने साहित्य का विवेचन करके निष्कर्ष निकाला है कि जब–जब साहित्यकार राज्याश्रय ग्रहण करता है, साहित्य का स्तर गिरता है। साहित्य के प्रति अपनी इसी आस्था के कारण राजनैतिक–सामाजिक आन्दोलनों में सक्रिय रहने पर भी उन्होंने प्रभूत मात्रा में साहित्य रचा। उन्होंने लगभग पचास पुस्तकें रची। इन पुस्तकों का अधिकांश पहले विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। वे निष्ठावान पत्रकार भी ने। उन्होंने 15-16 पत्रिकाओं का सम्पादन किया। चाहे उनका लेखन हो चाहे सम्पादन, उसके साथ उनका जीविकार्जन भी जुड़ा था। इस सम्बन्ध में उनका यह कथन दृष्टव्य है–"जो कुछ लिखा, युग की मांग पर या जीविका की मांग पर...। गरीब किसान का बेटा, मुझे जीने के लिए लिखना पड़ा है, लेकिन कोशिश की है कि ऐसी चीज़ लिखूँ जो पैसे भी दे और युग की माँगों को भी अंशत: पूरा करे।" (पृष्ठ 65)

राजनीति में सक्रिय बेनीपुरी जी समाजवादी थे। इसीलिए वे सामन्तों के विरोधी और किसानों तथा सामान्य जन के पक्षधर हैं। उन्होंने सामन्तों के विरुद्ध और किसानों के पक्ष में आन्दोलन चलाये या उनमें भाग लिया। उनकी रचनाओं में बिहार के सामन्ती अत्याचार और सामाजिक विषमता तथा शोषण का बहुआयामी और मार्मिक चित्रण हुआ है। इसके

प्रमाण के रूप में उनकी कहानी 'कही धूप कहीं छाया' पढ़ लेना ही पर्याप्त होगा। चूंकि वे साहित्यकार थे, इसलिए न तो पार्टी के अन्धानुयायी बन सके और न ही विचारधारा को उसके जड़ रूप में अपना सके। वे समाजवादी पार्टी के सक्रिय सदस्य थे, लेकिन ऐसे सदस्य नहीं थे कि पार्टी का उपयोग अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए या अपना कद बढ़ाने के लिए करते। इसलिए जब समाजवादी पार्टी का विघटन हुआ तो इसके लिए उन्होंने लोहिया को भी दोषी माना और जयप्रकाश नारायण को भी। स्वतन्त्रता के बाद राजनीति का जिस तरह पतन हुआ, उससे उन्हें बड़ी पीड़ा पहुँची। स्वातन्त्र्योत्तर काल में "राजनीति = शक्तिपूजा, शक्तिपूजा = दाँव–पेंच, यदि यह नहीं तो वह नहीं" (पृष्ठ 67) हो गयी। ऐसी राजनीति के साथ वे समंजित नहीं हो सके, क्योंकि वे राजनीति को साधन मानते थे, साध्य नहीं। इसलिए राजनीति से उनका मोहभंग हुआ।

देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाले नेता जिस तरह सत्ता पर अधिकार करने के लिए सारे मानमूल्यों को ताक पर रखकर दौड़े वैसे बेनीपुरी जी नहीं दौड़े। उन्होंने भी स्वधीनता–आन्दोलन में चौदह बार जेल यात्रा की, स्वातन्त्र्योत्तर काल में चुनाव लड़कर नये देश, नये समाज और नये साहित्य का सपना देखा। उन्होंने लिखा–"वह जो अपना पुराना देश था न, वह 15 अगस्त, 1947 को ही मर गया और उसकी चिता–भस्म पर नया देश बन रहा है, बस रहा है।" (पृष्ठ 584)। उनकी कामना है कि पुराने देश के साथ पुराना समाज भी जाये–"वह पुराना समाज जाये जहाँ मानव–मानव में विभेद हैं। विभेद–वर्ण का, वित्त का, आवास का, अवकाश का, विकास का, प्रकाश का!" (पृष्ठ 585)। इस पुराने समाज के स्थान पर वे चाहते हैं कि ऐसा नया समाज बने "जहां सड़ांध न हो, ठण्डक न हो, सन्नाटा न हो, अन्धकार न हो। जहाँ जीवन हो, यौवन हो! आनन्द हो, उछाह हो। सुगन्ध हो संगीत हो। उन्मुक्त मानवता जहाँ अठखेलियाँ करे; स्वच्छन्द भावनाएं जहां रास रचाएं।" (पृष्ठ 585)। इस नये देश और नये समाज में वे साहित्य भी नया चाहते हैं–"नया साहित्य जो सम्पूर्ण समाज की सम्मिलित वाणी हो–किसी वर्ण, वर्ग या व्यक्ति की ध्वनि प्रतिध्वनि नहीं।" (पृष्ठ 585)। इसी के अनुसार उनकी सोच है जिसे आसानी से क्रान्तिकारी सोच कहा जा सकता है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता के पक्ष में उन्होंने बहुत–कुछ लिखा है (दे० पृष्ठ 539-579)। उनका यह लेखन उनकी क्रान्तिकारी सोच का ही एक पक्ष और प्रमाण हे।

'संचयन' की रचनाओं में से बेनीपुरी जी का जो व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है वह कमर्ठ रचनाकार का व्यक्तित्व है – ऐसे कर्मठ रचनाकार का जिसने कर्म को शब्दों में बदला और शब्दों को कर्म में बदला। शब्द और कर्म की ऐसी अन्विति साहित्य–जगत में दुर्लभ होती है। इसी के कारण उन्होंने राजनीति और प्रकाशन के क्षेत्र में सफलता प्राप्त की, लेकिन आंशिक। इसका कारण यह है कि बेनीपुरी जी मूलतः भावुक और रूमानी प्रकृति के व्यक्ति थे। इसका प्रभाव उनकी गद्यशैली पर भी पड़ा है। उनके गद्य में ग़ज़ब का प्रवाह है। ऊपरी स्तर पर यह छोटे–छोटे उच्छलित वाक्यों, शब्दावृत्तियों, वक्तृत्वमयता, चमत्कारपूर्ण

शब्दप्रयोगों, बिम्बों आदि के रूप में विद्यमान है और आन्तरिक स्तर पर तीव्र संवेगात्मकता और कल्पनाशीलता के रूप में। जैसा जीवन्त गद्य बेनीपुरी जी ने लिखा है वैसा हिन्दी में कम ही गद्यकारों ने लिखा है। उनकी रचना–शैली में आंचलिकता का पुट भी है।

रामवृक्ष बेनीपुरी जी का यह 'रचना–संचयन' हिन्दी के सुपरिचित रचनाकार डॉ० मस्तराम कपूर ने तैयार किया है। इसे तैयार करने में उनकी कोशिश रही है कि "उन (बेनीपुरीजी) की प्रसिद्ध और सुपरिचित रचनाओं के साथ–साथ उन रचनाओं का भी इसमें समावेश हो, जिनमें हम आज के प्रश्नों और आने वाले समय के प्रश्नों के रूबरू भी अपने को पा सकते हैं।" (संचयन की परिभूमि)। कहने की आवश्यकता नहीं कि संचयनकर्त्ता अपनी कोशिश में सफल रहे हैं। प्रारम्भ में डॉ० रामविलास शर्मा के द्वारा उनकी क्रान्तिकारी पत्रकारिता से सम्बन्धित लेख दिये गये हैं और अन्त में उनकी प्रकाशित रचनाओं की सूची दी गयी है। इनसे संचयन की उपयोगिता और बढ़ गयी है।

□□□

रामवृक्ष बेनीपुरी रचना–संचयन/चयन एवं सम्पादन : डॉ० मस्तराम कपूर/प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली–110001/प्रथम संस्करण : 2001/पृष्ठ संख्या : 798/ मूल्य : 350/–।

समीक्षा

स्वानुभूत सत्य की ज़मीन

● डॉ० कामिनी बाली

स्वानुभूति की आत्मविश्लेषणात्मक ज़मीन पर जो कविताएं लिखी जाती हैं, वे स्वाभाविक रूप से पाठक के अंतःकरण में स्थान बना लेती हैं। कई बार कविताओं को किसी वाद की मोहर भी लग जाती है। परन्तु दसवें दशक की काल–मर्यादित कविताओं का आकलन करें तो पाएंगे कि इस दौरान किसी एक वाद, आंदोलन, प्रवृत्ति का फ्रेम नहीं रहा। उत्सुकता, आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता ही संकल्पना पर छाई रही। हमारा केन्द्र दसवां दशक इस कारण भी है कि राजेन्द्र नागदेव का 'एक पत्ता थरथराता रहा' काव्य–संग्रह इसी कालखण्ड में लिखा गया। इससे पहले 'सदी के इन अंतिम दिनों में' कविता–संग्रह भी इसी कालखण्ड में लिखा गया। दोनों का प्रकाशन वर्ष 1999 रहा।

दोनों संग्रहों में कवि का उत्तरोत्तर विकास दिखता है, परन्तु बहुत–सी कविताओं में पर्याप्त समानता भी है। दोनों संग्रह सिक्के के दो पहलुओं की तरह ही हैं। 'एक पत्ता थरथराता रहा' में 'कूड़े के ढेर पर' कविता में राजेन्द्र नागदेव लिखते हैं–

"फेंकी हुई सूखी चपातियाँ
और बासी सब्ज़ियाँ
कूड़े की छाती फाड़कर ढूंढ रहा है" (पृ० 90)

कुछ इसी प्रकार के उद्‌गार 'सदी के...' संग्रह में भी कौव्वे के माध्यम से व्यक्त किए गए हैं–

"सूर्य उगने से पहले ही कूड़े के ढेर पर
ऊँची गर्दन कर कुछ कौव्वे
चिथड़े पहने हुए बच्चों से..." (पृ० 15)

कहने का अर्थ यह कि दोनों संग्रहों में एक ही समयावधि के बीच की कविताएँ हैं। अतः उनकी भाषा–शैली, बिंब आदि परस्पर मिलना स्वाभाविक भी है। मानवीय चेतना की तीव्रता दोनों में महसूस की जाती है। वैयक्तिक सुख–दुःख की अनुभूति परत–दर–परत खुलती जाती है। 'एक पत्ता थरथराता रहा' में कई स्थानों पर विद्रोह व आक्रोश की ज्वाला अधिक है।

दसवें दशक की कविताओं में समाज की कई चुनौतियों का स्वर मुखरित हुआ है। कवि केवल तटस्थ निरीक्षक न रहकर अपना आक्रोश व्यक्त करता है। इस भावनिष्ठा में विसंगति, विद्रूपता, गंदगी, मृत्यु, उदासी आदि का समावेश हो गया है। ऐसे मौसम में राजेन्द्र नागदेव की कविताएं एक सुखद अनुभव है।

सफल चित्रकार राजेन्द्र अपनी कविताओं को भी चित्रात्मकता प्रदान करने में सफल हुए हैं। काव्य–संग्रह का शीर्षक भी एक ऐसा बिंब खींचता है। जीवन में किसी न किसी समय हर कोई किसी पीले थरथराते पत्ते से दो–चार अवश्य हुआ होगा। वही पत्ता आँखों के सामने सजीव हो जाता हे।

मनुष्य की तनहाई, अकेलापन उसे कैसे संत्रास देता है–

"यहां अब केवल अंधेरा है
और काली बिल्लियाँ हैं
काली बिल्लियाँ
अंधेरे में दिखाई नहीं देतीं..." (पृ० 11)

अर्थात् मानव कालकोठरी में काली बिल्ली ढूंढ रहा है जो वास्तव में वहाँ है ही नहीं।

मानव अपने अतीत से दूर भागने का प्रयास करता है–

"चलो, सो जाएं
अनेकानेक स्मृतियों से
दूर भागने के लिए...." (पृ० 28)

दूसरी ओर समाज पर व्यंग्य करते कवि कहता है–

"देखो, अब तुम अकेले नहीं हो
इस नदी के कितने सारे मगरमच्छ
तुम्हारे लिए
आँसू बहा रहे हैं।" (पृ० 96)

कभी कवि सूर्य से बतियाता, उलाहने देता 'एक ठंडी रात' में कहता है–

"आवारा सूर्य
सभी पर डाल

ठंडी, काली चादर
निकल गया कहीं
सारी ऊष्मा साथ लेकर
एकाकी।" (पृ० 35)

राजेन्द्र नागदेव देश में घटने वाली त्रासदियों को देख व्यथित होते हैं और उन्हें लगता है कि हम सब इस त्रासदी को सुनते–देखते हैं, परन्तु कुछ करते नहीं। हमारी सहानुभूति केवल होठों की है –

"तुमने किसी को
भोपाल की गैस त्रासदी में
शिशुओं के निकट
संपूर्ण निस्संगता से
दबे पाँव
पलायन करते
देखा है?
....
....
लातूर या गढ़वाल के
भूचाल में
निर्लज्जता से मुँह छिपाकर
भागते हुए देखा है? (पृ० 33)

कई बार कवि विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से समाज की बुराइयों पर प्रहार करता है। देखें 'बकरियाँ' कविता–

"बकरियाँ, बकरियाँ हैं
एक दिन अंततः
कसाईखाने से
संबंध जोड़ लेना ही
उनकी नियति है
......
बकरियों ने कभी घास के सिवा
किसी से कुछ नहीं माँगा
और घास के बदले
बँधकर रह गईं खूँटे से...." (पृ० 101–103)

राजेन्द्र अपनी कविताओं के बहाने समाज में व्याप्त विरोधाभासों पर बेबाक टिप्पणी करते दिखते हैं। सरल भाषा में आम जीवन के प्रतीकों के इस्तेमाल से पाठक के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। उनके रचना–संसार पर विचार करें तो हम अनुभव करेंगे कि, वे गहरी सोच के कवि हैं और सहज–सरल अनुभव व अभिव्यक्ति से कविता लिखते हैं।

कुल मिलाकर 'एक पत्ता थरथराता रहा' से गुज़रना एक सुखद अनुभव है।

□□□

'एक पत्ता थरथराता रहा'। राजेन्द्र नागदेव का कविता संग्रह। राजसूर्य प्रकाशन, डी ब्लाक, 2/41–ए, गामड़ी एक्सटेंशन, भजनपुरा, दिल्ली–110053, वर्ष : 1999, मूल्य : 100/–

समीक्षा

फिर एक नाम जी रहे अनाम की तरह

● अनन्त भटनागर

"राजस्थान में लिखने–पढ़ने वालों के कई प्रकार हैं, लेकिन इस सब में तारादत्त निर्विरोध एक अलग रेगिस्तान पर चलते नज़र आते हैं। जिस प्रकार काग़ज़ का हाशिया रहता है उसी प्रकार राज्य के साहित्य पत्र में तारादत्त रहते हैं।" राजस्थान के सुप्रसिद्ध काव्य–समीक्षक वेदव्यास की यह टिप्पणी बहुचर्चित व बहुप्रकाशित कवि–लेखक तारादत्त निर्विरोध के बहुआयामी व्यक्तित्व पर आधारित पुस्तक "डॉ० तारादत्त निर्विरोध–कृतित्वमय व्यक्तित्व" के प्रकाशन की सार्थकता को सप्रमाण पुष्ट करती है। देश की लगभग समस्त साहित्यिक पत्रिकाओं में विगत चार दशक से निरन्तर प्रकाशित होने वाले तथा राजस्थान से सर्वाधिक छपने वाले कवि, गीतकार व लेखक के व्यक्तित्व से पाठकों का अनभिज्ञ होना आश्चर्यजनक बात है। वस्तुतः लेखन को जीवन की तरह जीने वाले डॉ० तारादत्त निर्विरोध ने स्वयं को आत्मविज्ञापन से इतना दूर रखा है कि उनकी रचनाओं से इतर उनके व्यक्तित्व की चर्चा कम हुई है, साथ ही यह भी सत्य है कि साहित्यिक गुटबन्दियों से अलग रहने के कारण इतना प्रचुर साहित्य लिखने के बावजूद भी आलोचकों ने उन्हें हिन्दी साहित्य की अग्रिम पंक्ति से वंचित रखा है।

डॉ० तारादत्त निर्विरोध के साहित्यिक व्यक्तित्व को रेखांकित करने वाली सीताराम गुप्त द्वारा सम्पादित यह पुस्तक उनकी अद्‌भुत सृजन क्षमता से पाठकों का परिचय करवाती है तथा उनकी निजी सरलता व सादगी का दर्शन करवाने में सफल रही है। इस पुस्तक में देश के अग्रिम पंक्ति के साहित्यिक आलोचकों कन्हैयालाल नन्दन, कुन्दन माली, वेदव्यास, दयाकृष्ण विजय, सुमनेश जोशी, भगवतीलाल व्यास, ज़हीर कुरेशी, रोहिताश्व अस्थाना के लेख संग्रहीत हैं तथा प्रायः सभी लेखों में डॉ० तारादत्त निर्विरोध की रचनाओं पर टिप्पणी

करते हुए इन लेखकों ने उनके निजी जीवन के संघर्ष, सृजन–क्षमता, चारित्रिक सहजता, पूर्वाग्रहहीनता का विशेष उल्लेख किया है।

सन् 1954 से देश की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं में छप रहे तारादत्त निर्विरोध के जीवन की यात्रा भी रोचक रही है। रचनाकार लेखन से जुड़े इस व्यक्तित्व की कीर्ति देशव्यापी तब हुई जब उन्होंने 1962 के भारत–चीन युद्ध के समय चार कवियों के साथ मिलकर देशभर में राष्ट्रीयता की अलख जगाने का अभियान प्रारंभ किया। देशसेवा के मुआवज़े के रूप में उनकी नौकरी छूट गई। बेरोज़गारी के अनेक वर्ष गुजारने पर भी लेखक की सृजन–क्षमता अप्रतिहत रही। उसके बाद प्रूफ रीडर की मामूली नौकरी से शुरुआत करके जनसम्पर्क अधिकारी व मुख्यमंत्री के प्रैस अटैची पद तक यात्रा में लेखक के जीवन में अनेक उतार–चढ़ाव आते रहे, लेकिन तमाम जय–पराजय के बीच उनका प्रतिदिन तीन–चार रचनाएं लिखने का नियम कभी भी नहीं टूटा। यही कारण है कि ग्यारह हजार से अधिक गीत–कविताएं लिखने वाले निर्विरोध की आज पचास से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

सम्पादक ने अपने दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वहन करते हुए डॉ० तारादत्त निर्विरोध के बहुचर्चित काव्य–संग्रहों की समीक्षा स्वरूप लिखे आलेखों का संचयन कर उनकी काव्य प्रतिभा से अवगत करवाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। लेखक के साहित्यिक वैविध्य से परिचित करवाने की दृष्टि से बाल–साहित्य व शोधपरक लेखों पर संग्रहीत टिप्पणियाँ भी इस पुस्तक को विशिष्ट बनाती हैं। राजस्थानी साहित्य अकादमी द्वारा डॉ० निर्विरोध पर प्रकाशित मोनोग्राफ के अंश, जंयती बादल का उनसे साक्षात्कार विभिन्न साहित्यकारों के अभिमत डॉ० निर्विरोध की प्रकाशित पुस्तकों की सूची, प्राप्त पुरस्कारों का विवरण आदि इस पुस्तक के प्रकाशन में किये गए परिश्रम व वैज्ञानिक शोधपरक दृष्टि का परिचायक है। भविष्य में डॉ० तारादत्त निर्विरोध के साहित्य पर शोध अध्येताओं के लिए यह पुस्तक मूलभूत पुस्तक सिद्ध होगी।

लेखकीय दृष्टि से प्रकाशन की निरन्तरता गद्य–पद्य में समानाधिकार व रचनात्मक बहुलता की दृष्टि से राजस्थान के सफलतम साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केन्द्रित यह पुस्तक कथित साहित्यिक मानदंडों के रक्षक आलोचकों के डॉ० तारादत्त निर्विरोध के प्रति ठंडेपन पर सवाल खड़ा करती है। साथ ही निर्विरोध की अग्रिम पंक्ति में स्थान पाने की चाह की जगह निर्लिप्त भाव से साहित्य सेवा करने की भावना का उद्घाटन भी करती है। डॉ० निर्विरोध की यह पंक्तियां बिना किसी आडम्कर के जीने वाले इस साहित्यकार के जीवन को सहज स्पष्ट करती हैं:–

हम पंक्ति में खड़े हुए, विराम की तरह।
फिर एक नाम जी रहे अनाम की तरह।

□□□

पुस्तक : डॉ० तारादत्त निर्विरोध : कृतित्वमय व्यक्तित्व, सम्पादक : सीताराम गुप्त, प्रकाशक: एम. आर इन्टरनेशनल, O-16, शीलकुंज, सी स्कीम, जयपुर–302019, मूल्य : 300/–, पृ. सं. : 136

समीक्षा

भयावह यथार्थ-जगत् से साक्षात् : 'कब्र' तथा अन्य कहानियां

● डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ

राजकुमार गौतम के इस नये कहानी-संग्रह की व्यंग्य-रचना 'किताब में भ्रष्टाचार' में कहा गया है-"....शिष्टाचार मुझे मिलेगा किताबों में ही। भ्रष्टाचार की दीमक किताबों को चट नहीं कर पाएगी। लेखक किताबों में वह लिखेंगे जो वास्तव में है....।" रचनाकार समय, सेहत और साहित्य को सक्रिय जीवन के लिए ज़रूरी ठहराता है। स्वयं राजकुमार गौतम ने संग्रह की अधिकतर कहानियों में जो वास्तव है उसे कथात्मक रचाव देने की ईमानदार कोशिश की है। उनकी केन्द्रीय चिंता है कि कुत्सा, अव्यवस्था भ्रष्टता, बाज़ारवाद आदि के माहौल में जो मनुष्य का श्रेष्ठतम है, उसे कैसे बचाया जाए? उनके सामने पसरा हुआ 'यथार्थ' बहुत भयावह और चुनौतीपूर्ण है और वे इसे आदर्शोन्मुख करने का प्रयास कतई नहीं करते हैं। यही वज़ह है कि 'कब्र', 'इंटीमेट चैनल', 'एक भाग्य की आत्मकथा', 'बोल मेरी मछली', 'चमत्कार का अँधेरा' आदि कहानियों में स्थिति की भयंकरता का अहसास कराने के लिए श्री गौतम पाठक को डराते हैं, स्तब्ध कर देते हैं, लेकिन किसी किस्म का ढाढ़स नहीं बंधाते हैं, तमाम अवमूल्यन, विसंगति, विडम्बना के बीच कोई आश्वस्ति का क्षण मुश्किल से छोड़ते हैं।

बाज़ार को खरीदकर घर ले आने की लालसा 'कब्र' कहानी में अंततः 'घर' को 'बाज़ार' में बदल देती है-"घर मात्र घर न रहकर फर्नीचर हाउस, ऑडियो-वीडियो शॉप, इंस्टेंट रेस्तरां, राउंड द क्लाक म्यूज़िक हाउस तथा डांसिंग फ्लोर और बार में भी तबदील हो गया।" इस बीच घर-परिवार-मुहल्ला-पड़ोस से घर वालों का संबंध खत्म हो गया। सब भौतिक सुविधाएँ होते हुए भी अकेलापन शाप की तरह घर पर छा जाता है। इससे छुटकारा पाने की कोशिश में मिस्टर रस्तोगी मानसिक संतुलन गवा बैठते हैं और ऑडियो-वीडियो की

मेहरबानी से भाई–बहन की पवित्रता का अतिक्रमण कर नर–मादा बन चुके अखिल–रूबी आत्मघात कर लेते हैं।

बाज़ारवाद और संचार–माध्यमों से अपसंस्कृति–विशुद्ध भोगवादी मानसिकता का विकृत रूप 'इंटीमेट चैनल' में भी बहुत डराने वाला है। टी.वी. की चुलबुली 'प्रेजेंटर' मात्रा, गणेशन के सहयोग से इस मुकाम पर पहुँची है कि 'इंटीमेट चैनल' में उसे पचास हजार मासिक की नौकरी आसानी से मिल जाती है। मात्रा हर तरह की वर्जनाओं से मुक्त नारी है। सम–भोग को कमाकर खाने वाली युवती है, दो पतियों से मुक्ति पा चुकी है और गणेशन के साथ उसके उन्मुक्त देह–संबंध हैं। लेकिन इन भौतिक उपलब्धियों तक पहुँचने में वह संभवतः मानवोचित संवेदनाओं से वंचित होती गयी है। टी.वी. पर अपने पिता की मौत का समाचार पढ़ते समय कतई विचलित न होना और उसके तुरंत बाद गणेशन को देह–संबंध के लिए उकसाना एक भयानक सच है। डर लगता है कि ग्लैमर और मीडिया का मायावी बाज़ार कहीं मनुष्य की हर स्वाभाविक प्रवृत्ति को न लील जाए।

कहानीकार ने संकेत किया है कि भौतिक उपलब्धियों के लिए केवल नोटों के रूप में क़ीमत नहीं चुकायी जाती है, बहुत हद तक मनुष्यता भी उस लिप्सा की भेंट चढ़ जाती है। 'एक भाग्य की आत्मकथा' में अपने विभाग के मुखिया को अपनी पत्नी समर्पित करके भाग्यसिंह हर तरह की सुविधाएँ भोगता है। इस तरह की कथित समृद्धि वस्तुतः एक किस्म का अमानवीयकरण है, जिसके प्रसार को श्री गौतम ने बहुत चिन्तापूर्वक व्यक्त किया है। केवल अधिकतम आधुनिक सुविधाओं का नाम सुख होता तो 'प्रेम विद्या' का हरनाथ सबसे सुखी प्राणी होता और 'डंक' का 'वह' जीवन और समाज में हर जगह अँधेर न देखता : "अँधेर सब जगह। न घर खुश, न दफ्तर। न ट्रैफिक, न बाज़ार। न सरकार, न जमादार। न पत्नी, न प्रेमिका। न पिता, न बेटा। न बिड़ला, न टाटा...।"

हर जगह 'अँधेर' देखना नकारात्मक दृष्टिकोण है और वह मनुष्य की अस्मिता की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध रचनाकार का अभीष्ट नहीं हो सकता। अतः 'डंक' कहानी के समापन–चरण में सकारात्मक दृष्टि का हस्तक्षेप सुखद लगाता है–"डंक सहे जा सकते हैं। दर्द और सूजन के बार–बार चढ़ने और उतरने का इंतजार किया जा सकता है। इन सबको सहा भी जा सकता है और कहा भी।" 'प्रेम–विद्या' में प्रेम और विश्वास से सुखद चमत्कार की अपेक्षा भी सकारात्मक है। 'कब्र' के अंत में अखिल–रूबी की आत्महत्या दुखद होते हुए भी संकेत देती है कि 'पश्चाताप', नैतिकता जैसी अवधारणाएं अभी शेष हैं। 'इंटीमेट चैनल' का अंतिम वाक्य–'उसके नीचे लेटी नंगी औरत का सब कुछ बदलता जा रहा था'–संकेत करता है कि सब कुछ कुत्सित और वीभत्स नहीं हो गया है। 'इन्द्रधनुष' कहानी का मैं 'इन्द्रधनुष' अर्थात् एक सौन्दर्य दृष्टि से दुनिया को देखने का क़ायल है और कई कटु अनुभवों के बावजूद वह अपने दृष्टिकोण को सार्थक पाता है–"सचमुच इंद्रधनुष ने मेरे जीवन–आकाश को अपने रंगों से हमेशा सराबोर रखा है। जीवन के महासंग्राम को मैंने

बारबार इन्द्रधनुष के चुनाव–चिह्न से ही जीता है।" इसी तरह 'कीड़े–मकोड़े' की अंतिम परिणति आश्वस्तकारी है। इस संग्रह की व्यंग्य रचनाओं और लघुकथाओं–'लेखन का कृषि–दर्शन', 'ओह, जो कर न सका', 'मानसिकता', 'उन्नीस–बीस का फर्क' आदि में जहां तीक्ष्ण यथार्थ–बोध है, विसंगति, विडम्बना, व्यवस्थागत अव्यवस्था का बोलबाला है, वहीं समय, सेहत और साहित्य में रचनाकार का विश्वास दर्शाता है कि वह निराश नहीं है। हालांकि नारी का जो बिम्ब इस संग्रह की 'इंटीमेट चैनल', 'इन्द्रधनुष', 'एक भाग्य की आत्मकथा' आदि कहानियों में उभरा है, वह मौजूदा नारी–मुक्ति की चेतना के संदर्भ में संगत नहीं लगता। लेकिन समग्रतः श्री गौतम की कथा–दृष्टि संक्रमणशील कुरूपताओं को बेधकर, अंततः किसी न किसी सार्थक मानवीय सोच की व्यंजना करने में सक्षम है।

श्री गौतम अपनी अभिव्यंजना को वैविध्यपूर्ण, वर्तुल और प्रभावशाली बनाने के प्रति ख़ासे सचेत नज़र आते हैं। 'इन्द्रधनुष', 'कीड़े–मकोड़े', 'डंक', 'बोल मेरी मछली' आदि कहानियों में प्रतीक, संकेत, फैण्टेसी आदि का उपयोग सलीके से किया है, हालांकि इससे अर्थग्रहण में कई जगह बाधाएं भी आयी हैं। 'नदी किनारे साँप' में विडंबना को उभारने के लिए एक पोयम (कविता) 'झूठ बोलना पाप है/नदी किनारे साँप है' का उपयोग उल्लेखनीय है। 'बाज़ार में प्रेरणा बहन', 'गलती', 'चमत्कार का अंधेरा', 'धर्माचरण' आदि रचनाओं में कथन लाघव के साथ व्यंग्यात्मक चुभन रचना की शक्ति को बढ़ाती है। 'प्रेरणा को कहां पता था कि उसे फोन पर आज भी ठग लिया गया था', '.....शब्दों के अग्निवाणों के मध्य उन दोनों ने सुपर बाजार से मानो, सस्ती दरों पर स्त्री और पुरुष की कुछ बदबूदार मानसिकताएं खरीदीं'....., 'राधेश्याम सोच रहा था कि धर्म वाक़ई कितनी अच्छी चीज़ है। ..... आदि वाक्यों में निहित व्यंग्य दूर तक मार करने वाला है। ज़ाहिर है, इस संग्रह की कहानियां 'कथ्य' की दृष्टि से पठनीय होने के साथ–साथ, इनकी कथन–पद्धति भी 'कथ्य' के सौदर्य में अभिवृद्धि करने वाली है।

समीक्षा

'प्रवास में' – प्रवासी भारतीय मन की दुविधाएं

● डॉ० कमलेश सचदेव

'प्रवास में' उषा राजे सक्सेना का पहला कहानी–संग्रह है, लेकिन वे हिन्दी सहित्य के क्षेत्र में परिचित नाम बन चुकी हैं। उनकी रचनाएं भारत, अमेरिका और यूरोप की प्रमुख पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। विदेशों में हिन्दी साहित्य के प्रचार–प्रसार के लिए भी वे सम्मानित और पुरस्कृत हो चुकी हैं। इससे पूर्व उनके दो काव्य–संग्रह 'विश्वास की रजत सीपियाँ' एवं 'इन्द्रधनुष की तलाश में' प्रकाशित हो चुके हैं।

'प्रवास में' शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इस संग्रह की कहानियां प्रवासी भारतीय मन की संवेदना को व्यक्त करती हैं। प्रवासी भारतीय का गोरे मुल्कों में जिस सूक्ष्म प्रच्छन्न रंगभेद से सामना होता है, उसे वह आसानी से समझ नहीं पाता। ब्रिटेन जैसे देश में लोग प्रकट रूप से विनम्र, उदार और योग्यता की कद्र करने वाले हैं, वहां की व्यवस्था भी बेरोज़गारी भत्ता, रोगियों की सहायता, बच्चों के प्रति सदयता आदि के कारण उदार प्रतीत होती है। लेकिन यह उदारता तभी तक रहती है जब तक कोई भारतीय–दूसरे शब्दों में एशियाई या अफ्रीकी–अपनी योग्यता से उन पर भारी नहीं पड़ता। जैसे ही ऐसा होता है, उनकी प्रकट उदारता ऐसा प्रच्छन्न वार करती है कि योग्यतम व्यक्ति निकृष्ट रूप में दिखाई देने लगता है। शीर्षक कहानी 'प्रवास में' का शशांक इसी नियति को प्राप्त होता है।

प्रवासी भारतीय मन की एक प्रमुख दुश्चिन्ता अपनी सन्तान के जीवन–मूल्यों से सम्बन्धित है। प्रवासी माता–पिता अपनी युवा बेटे–बेटियों को उनका मनचाहा जीवन जीने से रोकने की स्थिति में नहीं होते। बेटे–बेटियां पश्चिम में पल–बढ़कर उन्मुक्त जीवनशैली अपनाते हैं तो माता–पिता भीतर ही भीतर घुटते हुए उन्हें एक ठहराव भरा जीवन अपनाने की

दबी–दबी सलाहें देते रहते हैं। 'तान्या दीवान' में तान्या और उसके माता–पिता के बीच इसी को लेकर दबी–दबी रस्साकशी चलती रहती है। लेखिका ने तान्या को अन्त में विवाह की स्थिरता की ओर बढ़ते दिखाकर विवाह–संस्था की प्रासंगिकता की ओर संकेत किया है।

कई दशकों तक विदेश में रहने और स्वयं को बहुत उदार बना लेने के बावजूद प्रवासी भारतीय बातचीत में और दूसरों को राय देने के मामले में तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समानता की बातें बघार लेते हैं, लेकिन जब बात अपने घर–परिवार पर आ जाए तो मापदंडों का दोहरापन सामने आने लगता है। 'यात्रा में' की समाज सुधारक मां अपने बेटे की विवाह के बिना पैदा हुई बेटी को स्वीकार नहीं कर पाती, हालांकि इंग्लैंड में ऐसा होना कोई असाधारण घटना नहीं हैं। परिणामस्वरूप अपने इकलौते पुत्र से सम्बन्ध तोड़कर अपने लिए जीवनभर की पीड़ा अपना लेती है।

'प्रवास में' की कहानियों का दूसरा प्रमुख थीम नारी अस्मिता से सम्बद्ध है। 'अभिशप्त', 'दायरे', 'सफर में..' और 'शन्नो' स्त्री की पीड़ा, उसके संकल्प और आस्था की तलाश की कहानियां हैं। 'अभिशप्त' तथा 'शन्नो' की नायिकाएं अपने परपीड़क तथा ग़ैरजिम्मेदार पतियों के साथ झेली यातना के दौर को लाँघकर अपने लिए एक आश्वस्तिदायक और सुखद जीवन का विकल्प चुन लेती हैं जबकि 'सफर में....' की नायिका अपने पति के जुल्मों के कारण आत्महत्या पर मज़बूर होती है। 'दायरे' पश्चिमी परिवेश में भारतीय मन लिये अपनी सार्थकता को तलाश करती स्त्री के समक्ष प्रस्तुत नैतिक द्वन्द्व की कहानी है। इसकी नायिका काव्य–रचना में अपनी सार्थकता पाती है और अपने मानसिक क्षितिज का विस्तार करना चाहती है। वह अपनी पुस्तक प्रकाशित कराने के लिए प्रकाशक से मिलने जाती है तो उसके व्यक्तित्व और विस्तृत ज्ञान से प्रभावित होती है और उसका साथ उसे अच्छा लगता है, लेकिन उस पुरुष की दृष्टि में वह मादा ही है। वह मादा रूप को केवल अपने पति तक सीमित रखना चाहते हुए उसके साथ मित्रता चाहती है। उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देने पर प्रश्न यह है कि 'मेज़ पर पड़ा नज़्मों का मसविदा छपता है या नहीं।'

'समर्पिता' एक सहज मानवीय स्नेह, प्रेम, संवेदना और प्रतिबद्धता की कहानी है जो पूर्व और पश्चिम की मानसिकता के झमेले से अलग शुद्ध मानवीय भावनाओं पर आधारित है। इसकी नायिका भारतीय और नायक अंग्रेज़, है लेकिन दोनों के बीच प्रेम की गहरी प्रतिबद्धता है जो कभी मानसिक अवसन्नता की स्थिति से नायिका को निकाल लाई थी और कहानी में इस प्रेम का विस्तार मानव मात्र के प्रति करुणा और स्नेह के रूप में होता है। कहानी का अन्त कुछ नाटकीय प्रतीत होता है, लेकिन प्रेम की शक्ति को दर्शाने में सफल है।

'प्रवास में' की कहानियां अपने शिल्प में बहुत सहज हैं। अधिकांश कहानियों में लेखिका स्वयं नैरेटर है। इन कहानियों में लेखिका को यात्रा में कोई ऐसा सहयात्री मिलता है जो अपने जीवन की कहानी उससे कहता है। इस प्रकार ये कहानियां किस्सागोई की सीमा को छूती हैं। संभवतः इसीलिए बेहद रोचक और सम्प्रेषणीय हैं—पाठक को अपने साथ ले

चलती हुई। उषा राजे सक्सेना ने कहानियों की भाषा में शब्दावली के विविध रंगरूपों का प्रयोग किया है। जहां पात्र मुसलमान हैं वहां भाषा ने उर्दू का रूप ले लिया है –

'मैं बरतानिया में रहने वाली एक 'हाउस वाइफ' हूं। तनहाई में अल्फ़ाज़ से खेलने की आदत है। और अब आप जैसे कद्रदानों ने मुझे शायरा बना दिया है, जिसकी मुझे आदत नहीं है। मुझमें यूं कोई ख़सूसियत नहीं है जो मैं आपको बताऊँ।' ('दायरे')

और जब संस्कृत जानने वाले संस्कारी हिन्दू पात्रों की बात होती है तो भाषा तत्समनिष्ठ हो जाती है–

'लगा, मेरे शीश पर चांद और तारों का झिलमिलाता वितान तन गया है। मैं किसी कानन–वन में लताओं और द्रुमों के बीच खड़ी हूँ। मेरे चारों ओर सुवासित रंग–बिरंगे सुमन खिल उठे हैं। फूलों से लदे विशाल वृक्षों की गुलाबी पंखुड़ियां झर–झर मुझ पर फूलों की वर्षा कर रही हैं।' ('अभिशप्त')

इसके अतिरिक्त प्रवासी जीवन में हिन्दी के साथ घुल–मिल गए अंग्रेज़ी शब्द भी इन कहानियों में खुलकर प्रयुक्त हुए हैं जो भाषा का सहज अंग प्रतीत होते है।

कुल मिलाकर 'प्रवास में' प्रवासी भारतीय मन के प्रश्नों और दुविधाओं को सामने रखता एक रोचक और पठनीय कहानी–संग्रह है। इसमें लेखिका का झुकाव भारतीय जीवन मूल्यों की ओर होते हुए भी पश्चिमी सभ्यता के सकारात्मक पक्ष को स्वीकार करने का भाव भी दिखाई देता है। यह संग्रह पश्चिमी परिवेश से परिचित कराने वाले साहित्य के सिलसिले की एक और कड़ी हे जिसका स्वागत किया जाना चाहिए।

□□□

रचनाकार

बल्लभ डोभाल
डबल्यू-46, सेक्टर–12
नोएडा–201301

वेद प्रकाश गर्ग
14, रमटीकान
मुजफ्फरनगर–251002
उत्तर प्रदेश

श्री वीरेन्द्र गुप्त
भारतीय उच्चायुक्त
त्रिनिडाड एवं टुबैगो
6 विक्टोरिया एवन्यू
त्रिनिडाड

सिल्विया मूदी
द्वारा : भारतीय उच्चायोग
त्रिनिडाड
वेस्ट इंडीज़

नीलिमा श्रीवास्तव
पोस्टबैग–1082,
वलसायन
त्रिनिडाड
वेस्ट इंडीज़

आशा मोर
द्वारा : भारतीय उच्चायोग
त्रिनिडाड
वेस्ट इंडीज़

चेतराम लेखराज महाराज
द्वारा : भारतीय उच्चायोग
त्रिनिडाड
वेस्ट इंडीज़

प्रो. पुष्पिता
हिन्दी प्रोफेसर और प्रथम सचिव
भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र
भारतीय राजदूतावास,
पारामारिबो, सूरीनाम
लातिन अमेरिका

विष्णु प्रभाकर
बी–151, महाराणा प्रताप इन्क्लेव,
पीतमपुरा
दिल्ली–110034

दिविक रमेश
प्राचार्य
मोतीलाल नेहरू कालेज
नई दिल्ली–110021

श्री मुशर्रफ़ आलम ज़ौकी
T-101 ताज एन्कलेव
लिंक रोड, गीता कालोनी
दिल्ली–110031

अनिरुद्ध सिन्हा
गुलज़ार पोखर
मुंगेर–811201
बिहार

कमल किशोर श्रमिक
259/1 श्रमिक बस्ती
बाबूपुरवा
कानपुर-208011

कमल किशोर गोयनका
ए–98, अशोक विहार
फेज़ प्रथम
दिल्ली–110052

राजशेखर व्यास
ई–607, कर्ज़नरोड अपार्टमेंट,
नई दिल्ली–110001

भारत यायावर
हिन्दी विभाग,
चास महाविद्यालय
चास–827013
बोकारो
झारखण्ड

रमेश दवे
एल.आई.जी. 276, कोटरा,
भोपाल–462003

श्री रमानाथ अवस्थी
ए-402, रिवरव्यू अपार्टमेंट्स
10, मयूर विहार, फेज़-I
दिल्ली–110091

श्री अशोक प्रियदर्शी
नीचे करमटोली
राँची–834008

डॉ० ऋचा शर्मा
प्रवक्ता (हिंदी)
अहमदनगर महाविद्यालय,
पारखे बंगला नंबर–11,
पी.टी. स्टाफ लाईन,
अहमदनगर
महाराष्ट्र

उषा राजे सक्सेना,
द्वारा : ज्ञान गंगा,
205–सी, चावड़ी बाजार,
दिल्ली–110006

प्रमोद सिन्हा
सी–106, एम. एस. अपार्टमेंट
कस्तूरबा गांधी मार्ग
नई दिल्ली–110001

ओमप्रकाश अवस्थी
146–हनुमान कालोनी
सूफीपुरा, बहराइच
उत्तर प्रदेश

नर्मदा प्रसाद गुप्त
मंगलम्,
सर्किट हाउस मार्ग,
छतरपुर–471001
मध्य प्रदेश

गौतम सचदेव
42, हेडस्टोन लेन, हैरो
ग्रेटर लंदन
एच ए 26 एचजी.
यू.के.

राजकुमार गौतम
64 पंचवटी (पालम)
दिल्ली छावनी–110010

शशि गोयल
3/29 ए/2, जवाहर नगर रोड
खंदारी चौराहा
आगरा–282002

ओमप्रकाश कादयान
973, अर्बन एस्टेट–2,
हिसार–125005

डॉ० विद्याविन्दु सिंह
45, गोखले विहार मार्ग,
लखनऊ
उत्तर प्रदेश

रमेशचंद्र शाह
M-4, निराला नगर
भदभदा रोड
भोपाल–462003

डॉ० देवव्रत जोशी
24, वेदव्यास नगर
रतलाम–457001

कुमार रवीन्द्र
310, अर्बन एस्टेट-2
हिसार–125005

गंभीर सिंह पालनी
प्रबंधक
नैनीताल बैंक लि. भीमताल–263136
जिला–नैनीताल (उत्तरांचल)

उत्पल बैनर्जी
हिन्दी विभाग, डेली कॉलेज,
इन्दौर–452001
मध्य प्रदेश

मोहन राणा
22/4 शाम नाथ मार्ग,
दिल्ली–110054

डॉ० पंकज परिमल
तरपालीसैंण, पो. बगेली
पौड़ी गढ़वाल–246130
उत्तरांचल

राधा शाक्य
379/4. शास्त्री नगर
कानपुर–208005

शिवचरण चौहान
104A/107A-रामबाग
कानपुर–208012

अमरनाथ 'अमर'
61-F सेक्टर–4,
बंगला साहब मार्ग, गोल मार्केट,
नई दिल्ली–110001

डॉ० हरदयाल
एच–50, पश्चिमी ज्योतिनगर
दिल्ली–110094

डॉ० कामिनी बाली
बी–1/104, जनकपुरी
नई दिल्ली–110058

अनन्त भटनागर
66, कैलाशपुरी,
अजमेर
राजस्थान

डॉ० वेद प्रकाश अमिताभ
14/106, मोती मिल कम्पाउंड,
अलीगढ़-202001
उत्तर प्रदेश

डॉ० कमलेश सचदेव
द्वारा : ज्ञान गंगा
205-सी चावड़ी बाज़ार
दिल्ली-110 006

दिनकर कुमार
उदिता आफसेट, शाहिदा मार्केट
लखटकिया,
गुवाहाटी–781001 (असम)

आर. शांता सुंदरी
B-38, गुजराँवाला अपार्टमेंट्स
विकासपुरी,
नई दिल्ली–110018

डॉ० प्रेम जनमेजय
भारतीय उच्चायोग
त्रिनिडाड, डिप्लोमैटिक डाक विभाग
विदेश मंत्रालय, साउथ ब्लॉक
नई दिल्ली–110011